प्राप्ति स्थान—

१. श्री अखिल भारतीय साधुमार्गी जैन संस्कृति रक्षक
सैलाना (मध्य-प्रदेश

शाखा—श्री अ. भा. साधुमार्गी जैन संस्कृति रक्षक स

२. „ २३४ नागदेवी स्ट्रीट बम्बई नं

३. „ सराफा बाजार जोधपुर (राजस्थ

४. „ सदर बाजार, रायपुर (मध्य-प्रदे

श्री सुजानमलजी जैन एडवोकेट
४६७ म० गांधी रोड, इन्दौर शहर

श्री जैन प्रिंटिंग प्रेस, सैलाना (म. प्र.)
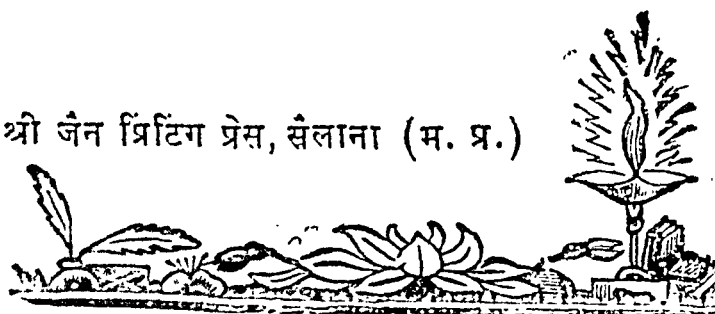
आत्म-साधना संग्रह

संग्राहक और प्रकाशक
मोतीलाल मांडोत सैलाना

मूल्य १-२५

प्रथमा वृत्ति
१०००

वीर सम्वत् २४८८
विक्रम सम्वत् २०१९
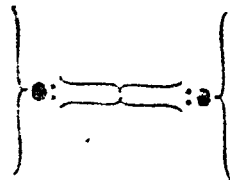
निवेदन

बहुत दिनों से मेरी इच्छा एक ऐसी पुस्तक प्रकाशित करने की थी कि जिसमें आत्मा के लिए सम्यग् साधना की सामग्री संग्रहित हो। इसके लिए मैं इधर उधर से संग्रह भी करने लगा, किंतु मुझे अधिकांश सामग्री 'सम्यग्दर्शन' पत्र से ही मिल गई। मैंने सन् १९५० से लगाकर अबतक के अंकों में से खास चुनचुन कर सामग्री एकत्रित की। कुछ सामग्री 'जैनसिद्धान्त बोल संग्रह', स्व० शतावधानी पं० रत्न श्रीरत्न-चन्द्रजी म० के 'भावना शतक' आदि से भी लीगई। इस प्रकार पूरी पुस्तक का संग्रह किया गया।

इसमें प्रारम्भ के १६२ पृष्ट तक तो सम्यक्त्व का ही विषय है, फिर संकृति और विकृति का स्वरूप बताया गया है। इसके बाद पृष्ट ४१८ तक नव तत्त्व का विवेचन है। इसमें संवर निर्जरा और मोक्ष तत्त्व में आत्म साधना के विधान दिये गये हैं। परिशिष्ठ में फुटकर आवश्यक सामग्री दी गई है। इस प्रकार यह पुस्तक पूर्ण हुई है।

इस पुस्तक का सम्यक् पठन मनन हो और परिणति अनुकूल हो, तो साधना के सफल होने में कोई सन्देह नहीं रहेगा। सब से पहले श्रद्धान की शुद्धि होना आवश्यक है। एकबार विचारों की शुद्धि होकर दृढ़ श्रद्धा हो जाय, तो फिर उत्थान में विलम्ब नहीं होता।

अभी कोई भी मनुष्य, सभी विषयों का जानकार नहीं हो जाता। हम चाँदी सोने की खरीदी करते हैं, तो किसी व्यक्ति की परीक्षा पर, उसके अनुभव या व्यक्तित्व पर विश्वास

करके खरीद लेते हैं। इस विषय में हम अपने को अनभिज्ञ मानते हैं। और अपने खुद के विश्वास के आधार पर सोना चाँदी नहीं खरीदते। सोना चाँदी का लेन देन करने वालों के अतिरिक्त,प्रायः सभी मनुष्यों की यही स्थिति है। किन्तु वे ही लोग, धर्मरत्न के विषय में तत्त्वज्ञों और सर्वज्ञों की बात नहीं मानकर खुद परीक्षक एवं निर्णायक बन बैठते हैं। सोना खरीदने में तो धन लगाना पड़ता है, इसलिए वहां अपनी बुद्धि का उपयोग नहीं करके दूसरों पर ही विश्वास करेंगे, रोग की दवा के लिए डॉक्टर पर विश्वास करके अपना जीवन उसके हाथों में देदेंगे, उनसे शरीर भी कटवालेंगे, किंतु धर्म के विषय में तो वे खुद निर्णायक बन बैठेंगे। क्योंकि उसमें कुछ जाता आता नहीं है। जिसके हृदय में धर्म का महत्त्व हो और अपने आराध्य पर विश्वास हो, वही साधना कर सकता है।

श्रद्धा के बाद विरति की परम आवश्यकता है। बिना विरति के आगे बढ़ना नहीं हो सकता। यदि श्रद्धा प्राप्त कर लेने के बाद विरति का अवलम्बन लेकर आगे नहीं बढ़ते तो, निश्चय ही पीछे हटना पड़ता है। आत्म साधना के लिए श्रद्धा रूपी भूमि पर, विरति का भव्य भवन खड़ा होगा, तभी आत्मा मोक्ष रूपी कलश पर पहुँच कर विजय पताका फहरा सकेगा। इस पुस्तक में यही बताने का प्रयत्न हुआ है। यदि पाठक बन्धुओं ने इसका सदुपयोग किया, तो मेरा परिश्रम सफल होगा।

सैलाना
वैशाख कृ० १३ वीर सं.२४८८
वि. सं. २०१९

मोतीलाल माँडोत

--विषयानुक्रमणिका--

आत्म साधना संग्रह

सम्यग्दर्शन

अरिहंतो महदेवो जावज्जीवं सुसाहुणो गुरुणो ।
जिणपण्णत्तं तत्तं इअ समत्तं मए गहियं ।

भावार्थ—जीवन पर्यन्त अरिहन्त भगवान् ही मेरे देव हैं। पांच महाव्रतधारी सुसाधु मेरे गुरु हैं और जिनेश्वर प्ररूपित तत्त्व ही मेरा धर्म है। यह सम्यक्त्व मैने ग्रहण किया है।

उपरोक्त प्रतिज्ञा में सम्यग्दृष्टि आत्मा यह प्रतिज्ञा करता है—कि मेरे परम आराध्य देव वीतराग सर्वज्ञ सर्वदर्शी अरिहन्त भगवान् ही हैं—सरागी छद्मस्थ मेरे देव नहीं है। श्रमण धर्म के नियम—पांच महाव्रत, पांच समिति, तीन गुप्ति, दसविध समाचारी, एवं पिण्डैषणादि के नियमों का भली प्रकार पालन करनेवाले सुसाधु ही मेरे गुरु हैं और जिनेश्वर भगवान् द्वारा उपदिष्ट तत्त्व ही मेरा धर्म है। मैं इस विश्वास को हार्दिक दृढ़ भावों के साथ ग्रहण करता हूँ।

मोक्ष का मूल, धर्म की आधार शिला, सम्यग्दर्शन ही है। भक्त से भगवान एवं सर्वज्ञ सर्वदर्शी होने का आदि कारण यही है। इसके प्राप्त होने पर ही व्रत, नियम, तप, जप, सार्थक होते हैं। बिना सम्यग्दर्शन के पढ़ी हुई विद्या, पाया हुआ ज्ञान, अज्ञान रूप ही रहता है। इसके अभाव में की हुई कठिन तपस्याएं, पाला हुआ संयम, आत्म साधक नहीं बनता, एक भी जन्म मरण कम नहीं कर सकता। भव भ्रमण बढ़ता ही रहता है। जिनागम सूत्रकृतांग, प्रथम श्रुतस्कन्ध अ. ८ में लिखा कि—

जे याबुद्धा महाभागा, वीरा असमत्तदंसिणो।
असुद्धं तेसिं परक्कंतं, सफलं होइ सव्वसो।
जे य बुद्धा महाभागा, वीरा समत्तदंसिणो।
सुद्धं तेसिं परक्कंतं, अफलं होइ सव्वसो।

अर्थात्—जो मनुष्य संसार में बुद्धिमान् विद्वान, पूजनीय तथा वीर होते हुए भी सम्यग्दर्शन रहित (मिथ्या दृष्टि) है, तो उसका किया हुआ तप संयम, दान आदि अशुद्ध ही है, और है कर्म बंध को बढ़ाने वाला। जो सम्यग्दर्शन सहित हैं, उनके लिए इसके बाद की गाथा में स्पष्टतः "सुद्धं तेसिं परक्कंतं" लिखा है। उनकी क्रियाएं शुद्ध होकर कर्म बीज को नष्ट करने वाली होती हैं। सम्यग्-दर्शन का यही महत्व है।

धर्म का आधार

चारित्र धर्म का आधार सम्यग्दर्शन है। चारित्र

आधेय है। बिना आधार के आधेय ठहर नहीं सकता। धर्म के समस्त अंग, तीर्थ रूप संघ की आधार शिला सम्यग्दर्शन ही है। श्रीमन्नन्दी सूत्र में लिखा कि—

"सम्मद्दंसणवरवइर—दढरूढगाढावगाढपेढस्स"

अर्थात्—जैन संघ रूप सुदर्शन पर्वत की बहुत ही गहरी और बहुत समय से स्थापित की हुई, उत्तम वज्रमय, अत्यंत दृढ़ आधार शिला—सम्यग्दर्शन है।

गगन चुंबी भव्य एवं मजबूत महल बनाने के लिये सबसे पहली और मुख्य वस्तु, आधार शिला होती है। जिसकी नीवँ मजबूत हो, स्थिर हो, उसके लिये खतरे का कारण नहीं रहता, जल्दी गिरजाने का डर नहीं होता। जितनी नीवँ सुदृढ़ होगी उतना ही महल स्थिर होगा। यदि सुमेरु पर्वत की नीवँ एक हजार योजन की नहीं होती तो वह शाश्वत नहीं होता। तात्पर्य यह कि आधार शिला मजबूत चाहिये। धर्म में भी सम्यग्-दर्शन रूप मुख्य आधार को पहले से पक्का बना लेना आवश्यक है। यदि इसमें भूल हुई तो लक्ष्य भ्रष्ट हो जायँगे। जिन—मार्ग से खिसक जायँगे, जैनत्व से हाथ धो बैठेंगे, और अपना अथक प्रयत्न भी व्यर्थ कर देंगे। यदि पुण्य बंध करके स्वर्ग मिला भी लिया तो क्या हुआ, संसार अटवी में भटकना तो पड़ेगा ही। आत्मा के परिभ्रमण में रुकावट किञ्चित् भी नहीं हो सकेगी।

सम्यग्दर्शन का स्वरूप

अब सम्यग्दर्शन का स्वरूप बताया जाता है। श्री उत्तराध्ययन सूत्र के २८ वें अध्ययन में इसका संक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार बताया है—

तहियाणं तु भावाणं, सब्भावे उवएसणं।
भावेणं सद्दहंतस्स, सम्मत्तं तं वियाहियं।

अर्थात्—जीवादि तथ्य रूप भावों के सद्भाव विषयक जो उपदेश हैं, उसमें भाव पूर्वक श्रद्धान करना ही सम्यक्त्व है। तत्त्वार्थ सूत्र में भी यही बात निम्न शब्दों में कही गई है—

"तत्त्वार्थ श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्"

पाठकों को जिज्ञासा होगी कि वे तत्त्व कौन से हैं, जिनकी श्रद्धा की जाय? इसका समाधान स्वयं सूत्रकार ही देते हैं।

जीवाजीवा य बंधो य, पुण्णं पावाऽसवो तहा।
संवरो निज्जरा मोक्खो, संतेए तहिया नव।

जीव, अजीव, बंध, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, और मोक्ष, ये नौ तथ्य—पदार्थ हैं।

सूत्र स्थानांग के ९ वें स्थान में भी इन्हीं नौ पदार्थों को सद्भाव पदार्थ कहे हैं। इन नौ पदार्थों में विश्वभर की सभी वस्तुएँ आगईं। ऐसी कोई वस्तु नहीं, जो इनसे बाहर

रह गई हो। जैसे कि–

१ जीव नाम के पहले पदार्थ में सभी प्रकार के त्रस, स्थावर, सूक्ष्म, बादर, पर्याप्त, अपर्याप्त, संज्ञी, असंज्ञी, सइन्द्रिय, अनिन्द्रिय, सकर्मक, अकर्मक, सशरीरी, अशरीरी, ज्ञानी, अज्ञानी, सरागी, वीतरागी, मुक्त, संसारी, प्राण, पर्याय आदि का समावेश हो जाता है। सभी आत्मा इसी प्रथम तत्त्व में सम्मिलित है।

२ दूसरा तत्व है अजीव–जड़ पदार्थ। इसमें दृश्य (पुद्गल) अदृस्य (धर्मास्ति, अधर्मास्ति, आकाशास्ति और काल) सभी चेतन रहित वस्तुएं समा गई। रुपया, पैसा, सोना, चांदी, हीरे, जवाहरात, मकान, मोटर, पलंग, बिस्तर कपड़े, दवाई, कल, कारखाने, आदि जीव रहित चीजें इसी दूसरे पदार्थ में शामील हैं।

संसार में मुख्यतः जीव और जड़ ये दो ही तत्त्व हैं, बाकी के सात पदार्थ इन्ही दो तत्त्वों में गर्भित हैं। सूत्र स्थानांग और समवायांग में जीव द्रव्य और अजीव द्रव्य, जीव राशि और अजीव राशि, जीव क्रिया और अजीव क्रिया, इस प्रकार दो ही भेद में समस्त वस्तुएँ समा दी गई। किन्तु तत्त्व प्रतिपादन में इन दो के अतिरिक्त ७ भेद और बताये गये। इसका यही कारण है कि सामान्य जनता वस्तु स्वरूप को सरलता से समझले और हेय का त्यागकर उपादेय का आदर करे। यदि तत्त्व प्रतिपादन में यह स्पष्टता नहीं होती, तो हिताहित का ज्ञान होना कठिन हो जाता; बाकी के ७ भेदों

में शुद्धाशुद्ध स्वरूप का वर्णन किया गया। जो इस प्रकार
है-

३ वंध तत्त्व-जीव और अजीव के संयोग संबंध से यह तत्त्व बना। जीव अजीव की विभाव परिणति ही वन्धन का कारण है। इसीसे जीव, जन्म मरण के चक्कर में पड़ा और जड़ वन्धनों में बन्दी हुआ। जीव की विभाव परिणति ही अपने आकर्षण से जड़ कर्म वर्गणाओं को ग्रहण करती है और उसी से वह बन्दी बनता है। यह बन्धन अनादिकाल से चला आरहा है। इस वन्ध अवस्था को स्पष्ट करने के लिए ही तीसरा तत्त्व है। जीवों में सिद्ध भगवान् और जड़ में परमाणु पुद्गल ही ऐसे हैं; जो इस तत्त्व से आजाद हैं। बाकी सभी प्राणी इस बन्ध तत्त्व में वर्त्तमान हैं।

४-चौथा 'पुण्य' तत्त्व, बंध के शुभ भेद को बताता है। यह बंध होते हुए भी सांसारिक प्राणियों को सुख रूप होता है। इसकी प्राप्ति परोपकार से होती है। भूखे को आहार, प्यासे को पानी, रोगी को दवाई, निराश्रित को आश्रय, नंगे को वस्त्र, भयभीत को अभय, गुणी-गुरु जनों को प्रणाम, वाणी का सदुपयोग और सेवा करने से पुण्य वंध होता है। भगवद्भक्ति, गुरुवंदन, धर्म प्रेम, साधर्मीवात्सल्य, धर्म प्रभा-वना आदि पुण्य वंध के उत्तम कारण हैं। इसके फलस्वरूप जीव को सुख की अनेक प्रकार की सामग्री मिलती है। स्वस्थ सुन्दर और निरोग शरीर, सम्पत्ति, वैभव और अनुकूल वस्तुओं का भोग इसी से मिलता है। पुण्य तत्त्व के फल से जीव धर्म

को प्राप्त करता है। पुण्य तत्त्व मोक्ष मार्ग में सहायक है। जो पुण्यत्मा, दुःखी जीवों को जीवन टिकानें की आवश्यक वस्तुएँ, जैसे—सात्त्विक आहार, पानी, वस्त्र और आश्रय का दान कर शान्ति पहुंचाते हैं, सेवा करते हैं, प्रभु भक्ति, गुरुवन्दन, धर्म प्रचार एवं धर्म प्रभावना करते हैं, अहिंसा धर्म का प्रचार करते हैं, वे सम्यग्दर्शन की प्रतिष्ठा करते हैं। ये सभी पुण्यात्मा हैं।

५—पांचवा पाप तत्त्व, पुण्य से उल्टा रुख लिये हुवे है। यह हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन, परिग्रह, आदि १८ भेद से बंधता है। इसके परिणाम स्वरूप नाना प्रकार के दुःख-वध, बन्धन, रोग, शोक, भय, दरिद्रता, जड़ता, ईष्ट वियोग आदि कटुफल होते हैं। हिंसक, चोर, जार, क्रोधी लोभी. कपटी, क्लेशी, चुगल खोर, झूठा कलंक लगाने वाले, ऐसे लोग पापी कहे जाते हैं।

६—आस्रव तत्त्व—यही बन्ध का कारण है। बिना आस्रव के बन्ध नहीं हो सकता। हम यदि अपने घरके दरवाजे खुले ही रखदें, तो उसमें हवा, धूल और कचरा तो आयगा ही, साथ ही कुत्ते, बिल्ली भी घुस जायँगे; और कभी चोर भी घुस सकते हैं। इस 'घुसने' को ही आस्रव कहा गया। हमने अपनी इच्छाओं—मन, वचन और शरीर के योगों को अनियन्त्रित रख कर खुले छोड़ दिये। इससे चारों ओर से आस्रव आरहा है। दृश्यमान् जगत् की भिन्न भिन्न वस्तुओं को प्राप्त करने की इच्छाएँ, प्रयास, वासना पर काबू नहीं,

मिथ्यात्त्व, अज्ञान में सराबोर, मोह की मस्ती, ये सब कारण आस्रव के हैं। संसार के सभी प्राणियों के आस्रव आता ही रहता है।

७–यह संवर नाम का सातवां तत्त्व ही खरा धर्म तत्त्व है। इससे आस्रव का संवरण–रोक होता है। रोक हो जाने से नये बन्ध का कारण पैदा नहीं होता। पुण्य तत्त्व इसका सहायक और पाप तत्त्व इसमें बाधक है। इसके भी आस्रव से उल्टे–सम्यक्त्व विरति आदि भेद हैं। व्रत, महाव्रत, संयम, समिति, गुप्ति, अनित्यादि भावनाएँ आदि इसी में सम्मिलित है। संवरवान आत्माके नये बन्ध रुक जाते हैं। श्रुत चरित्र धर्म इसी तत्त्व में है। हमारे अरिहंत भगवंत, वीतराग प्रभु, आचार्य, उपाध्याय, मुनिराज, संवर तत्त्व के पालक एवं पोषक हैं।

८–निर्जरा–यह आठवां तत्त्व,तीसरे से लगाकर छठे तत्त्व तक का शत्रु है। बंध को तोड़ मोड़ कर नष्ट करने वाला यही तत्त्व है। आत्मा को सच्ची स्वाधीनता दिलाने वाला, जन्म मरण से मुक्त कराने वाला यही तत्त्व है। एक संवर से ही इसका सहयोग है। संवर शत्रु का मार्ग रोकता है, और निर्जरा शत्रु का नाश करती है। द्वादश विध तप के प्रभाव से बन्धन कटते हैं। तपस्वी, ध्यानी, स्वाध्याय करने वाले, प्रायश्चित करने वाले, शरीर का उत्सर्ग करने वाले और विविध प्रकार के तप करने वाले इस तत्त्व के आराधक हैं।

९–अन्तिम तत्त्व मोक्ष है। समस्त कर्मों की निर्जरा

होने पर मोक्ष होजाता है। फिर जन्म नहीं मृत्यु नहीं, शोक नहीं, शाश्वत सुख, परम आनन्द, ज्ञानघन, दर्शन मय, सर्वज्ञ सर्वदर्शी, शुद्ध आत्म द्रव्य, निजानन्द में अनन्त काल रहता है। फिर कभी भी चलायमान होनें अथवा जन्मादि धारण करने की आवश्यकता ही नहीं रहती। शाश्वत सुख यही है। सिद्ध भगवान् इसी मोक्ष तत्व में है।

उपरोक्त नौ तत्वों का श्रद्धान् होने से विश्वभर की हेय, ज्ञेय, उपादेय वस्तुएँ समझ में आजाती है। अतएव मुमुक्षुओं को इन्हें समझकर हृदयंगम करना आवश्यक है।

प्रश्न—क्या नौ तत्व समझे बिना सम्यग्दृष्टि नहीं हो सकता ?

उत्तर—जिनकी बुद्धि मन्द हो, जो प्रयत्न करने पर भी नहीं समझ सकते हों, वे यदि सच्चे हृदय से यही विश्वास करले कि—"जो वीतराग सर्वज्ञ प्रभु नें कहा है वही सत्य है। वही कल्याणकारी है," तो वह भी सम्यग्दृष्टि है।

श्रीमद् आचारांग सूत्र में लिखा कि—

"सिया वेगे अणुगच्छन्ति। असिया वेगे अणुगच्छन्ति। अणुगच्छमाणेहिं अणणुगच्छमाणो कहं णं णिव्विज्जेज्जा। तमेव सच्चं णीसंकं जं जिणेहिं पवेइयं" ॥

अर्थात्—गुरु के कथन को कभी गृहस्थ भी समझ सकते हैं और कभी मुनि भी नहीं समझ सकते। जो मुनि ज्ञानावरणीय के क्षयोपशम की मन्दता से नहीं समझ सके

और उसे खेद हो, तो गुरु को कहना चाहिये कि हे शिष्य ! तुझे यह श्रद्धा रखनी चाहिये कि "जो जिनेन्द्र ने कहा वही सत्य है"।

आचारांग १-५-५

श्री भगवतीसूत्र (श० १ उ ३) में लिखा कि कांक्षा-मोहनीय कर्म के उदय से, जीव शंका कांक्षा वाले हो जाते हैं। इस पर से श्रीगौतमस्वामी प्रश्न करते हैं कि:-

"से णूणं भंते ! तमेव सच्चं णीसंकं जं जिणेहिं पवेइयं ? हंता गोयमा ! तमेव सच्चं णीसंकं जं जिणेहिं पवेइयं। से णूणं भंते ! एवं मणं धारेमाणे, एवं पकरेमाणे एवं चिट्ठेमाणे एवं संवरेमाणे, आणाए आराहए भवति ? हंता गोयमा ! एवं मणं धारेमाणे जाव-भवइ"।

तात्पर्य यह है कि यदि बुद्धि काम नहीं दे और शंका कांक्षा हो, तो आत्मार्थी, अपनें मन में यह धार कर सन्तोष करले कि "वही सत्य और निःशंक है, जो जिनराज ने कहा है, तो वह आज्ञा का आराधक होता है ।

इस प्रकार सर्वज्ञ कथित शास्त्र और बहुश्रुत गुरु के आश्रित रहकर, उनके द्वारा दिये गये उपदेश पर विश्वास कर के पालन करने से आत्मा का हित साधा जासकता है। चार ज्ञान और चौदह पूर्वधर ऐसे गणधर भगवान् भी सर्वज्ञ प्रभु के वचनो पर विश्वास रखकर श्रद्धान् करते थे। विश्वभर की अनन्त वस्तुओं में से एक वस्तु का भी पूर्ण रूप से ज्ञान, छद्मस्थ को नहीं हो सकता, क्योंकि प्रत्येक वस्तु अनन्त धर्म वाली

है। उन अनन्त धर्मों में से कुछ ही धर्मों का ज्ञान छद्मस्थ कर सकता है। जब एक वस्तु के समस्त धर्मों-पर्यायों (अवस्थाओं) का प्रत्यक्ष ज्ञान बहुश्रुत को भी पूर्ण रूप से नहीं हो सकता, तो समस्त वस्तुओं का पूर्ण ज्ञान होना तो अशक्य ही है। यद्यपि भगवती श० ८ उ० २ में और प्रज्ञापना में श्रुतज्ञान की उत्कृष्ट शक्ति, अवधि और मनःपर्यवज्ञान से भी अनन्त गुण बताई गई, तथापि यह अनन्त गुण शक्ति भी केवलज्ञान के तो अनन्तवें भाग में ही है। केवलज्ञान, केवल दर्शन ही अत्यन्त पूर्ण, सर्वग्राहक, सर्वज्ञायक, एवं सर्वदर्शक है। एक वस्तु का सम्पूर्णज्ञान भी केवलज्ञान ही से होता है। जबतक केवलज्ञान नहीं हो जाता, तबतक सर्वश्रुत सम्पन्न गणधर महाराज, चौदह पूर्वधर महापण्डित होते हुए भी छद्मस्थ ही हैं। उनकी दृष्टि से परे अनन्त वस्तुएं होती हैं। जिसका ज्ञान भगवान् के वचनों से होता है, वे सर्वज्ञ वचनों पर विश्वास करते हैं।

शंका-इस प्रकार बिना परीक्षा के, दूसरों पर विश्वास रखकर मानना तो अंध श्रद्धा है?

समाधान-अंध श्रद्धा तो उसे कहना चाहिए, जहां दृष्टि गोचर स्थूल वस्तु को भी आँखें बन्द करके, (नहीं देखकर) उसके विपरीत मानने की सलाह दी जाती हो। जैन दर्शन का तत्त्व निरूपण विशुद्ध वैज्ञानिक ढंग का है। इसमें जीवादि पदार्थों की प्ररूपणा है, वह बुद्धि गम्य और अबाधित है। जिन बातों में हमारी बुद्धि काम नहीं देती, उनमें आगम

प्रमाण पर विश्वास कर जिन वचनों में श्रद्धा करनी चाहिए। हम व्यवहार में भी परोक्ष वस्तु को विश्वास के बलपर मानते हैं। बिना देखे ही बादशाह अकबर, शाहजहाँ, औरंगजेब, महाराणा प्रताप, छत्रपति शिवाजी, महारानी लक्ष्मीबाई, हिटलर, मुसोलिनी आदि का होना मानते हैं। राकेटबम, अणु-बम पर विश्वास करते हैं। अपने बाप, दादा, परदादा, आदि का होना स्वीकार करते हैं। डाक्टर पर विश्वास करके वह जैसी भी दवा दे, पी लेते हैं। अपना शरीर कटवा लेते हैं। जहाज और खलासी पर विश्वास कर अथाह जल के विशाल समुद्र में सफर करते हैं, तब आत्मोत्थान के उत्तम कार्य में वीतराग सर्वज्ञ सर्वदर्शी, सर्वोत्तम सारथी की आज्ञा क्यों नहीं मानें? उन पर विश्वास क्यों नहीं करें?

अविश्वासी की असफलता और विश्वास करने वाले की सफलता बताने वाला, ज्ञातासूत्र के तीसरे अध्ययन का मयूरी के अंडे का उदाहरण मनन करने योग्य है। सागरदत्त के पुत्र के हृदय में शंका हुई कि इस अंडे में से मयूर निकलेगा या नहीं। सफेद अण्डे में से रंग बिरंगे पंखवाला मयूर कैसे बनेगा, कब बनेगा, वह शंकित कांक्षित हो, धैर्य छोड़कर बार बार अण्डे को उठाकर देखने लगा, हिला हिला कर परीक्षा करने लगा। उसके अविश्वास का फल यह हुआ कि वह मयूर के सुन्दर बच्चे को प्राप्त नहीं कर सका और जिनदत्त के पुत्र ने विश्वास पूर्वक, शंका रहित होकर धैर्य रखा, तो

उसे सुन्दर बच्चा मिल गया। सागरदत्त के पुत्र को शंका कांक्षा नें फल से वंचित रक्खा और जिनदत्त के पुत्र की श्रद्धा-निःशंकता ने इच्छित फल दिया। इस उदाहरण से भगवान् महावीर प्रभु, शिक्षा देते हुए फरमाते हैं कि –"एवामेव समणाउसो"....इत्यादि, जो निर्ग्रन्थ प्रवचन व पांच महाव्रत, छः जीवनिकाय आदि में शंका, कांक्षा, विचिकित्सा करेंगे, वे सागर-दत्त पुत्र की तरह इस भव और पर भव को बिगाड़कर दुःखी होंगे और सच्चे श्रद्धालु, शंका कांक्षादि रहित होंगे, वें इस भव और परभव में सुखी होंगे।

जिनमें समझने की शक्ति है, वे तो जिन वचनों को समझ लेते हैं, विश्वास कर लेते हैं, किंतु जिनकी बुद्धि की मन्दता हो, अथवा धार्मिक अध्ययन–मनन नहीं किया हो, उनको धर्मोपदेशक आचार्यों, यथार्थ वक्ताओं और जिनागमों पर श्रद्धा रखकर यथा शक्ति धर्म आराधना करनी चाहिये। सूझते (आखों से देखनें वाले) मार्ग के जानकार व्यक्ति का आश्रय लेकर अनु-गमन करने वाले, अन्धे एवं मार्ग के अनजान भी इच्छित स्थान पर पहुँच कर सुखी होते हैं। अनेक भाषाओं का उच्च ज्ञान धराने वाले महोपाध्याय भी, चांदी, सोना, हीरे, मोती के खरे खोटे की परीक्षा, अपने से कम पढ़े हुये, जौहरी पर विश्वास रख कर करवाते हैं। जंगल में रास्ता भूल जानें पर अनपढ़ असभ्य एवं महामूर्ख मानेजानेवाले, जंगली भील पर विश्वास रखकर उसके बताये हुए मार्ग से इच्छित स्थान

पर पहुँचते हैं। तात्पर्य यह कि मनुष्य सभी विषयों में पारं
गत नहीं हो सकता। डाक्टर का काम न्यायाधीश नहीं क
सकते, न फौजी जनरल का काम महोपाध्याय ही कर सक
हैं। ऐसी दशा में एक दूसरे पर विश्वास कर उनके आश्र
में जाना ही पड़ता है। उसी प्रकार आत्म विकास के लि
धर्माचार्य एवं, धर्म शास्त्र की ही शरण लाभदायक हो सक
है। राजनैतिक, औद्योगिक, जड़वैज्ञानिक, सामाजिक अथ
भाषा विशेषज्ञ विद्वानों या ऐसे शास्त्रों का अवलम्बन, आ
कल्याण में सहायक नहीं हो सकता। इसलिए आत्मोद्धार
लिए धर्माचार्य, धर्म शास्त्र का आश्रय लेना, उनपर श्रद्धा र
कर धर्म आराधना करना हितकर है। बुरी है कुश्रद्धा
कुश्रद्धा डुबानेवाली है, नष्ट कर देने वाली है। इससे हमेश
दूर रहना चाहिए।

प्रश्न—आप श्रद्धा पर इतना जोर देते हैं, तो क्या
श्रद्धा से ठगाते नहीं, डूबते नहीं ? संसार में अनेक धर्म, धर्मा
चार्य और धर्म शास्त्र मौजूद हैं। क्या सब धर्मों पर श्रद्धा कर
लेनी चाहिए। या परीक्षा करके अमुक एक पर ही विश्वास
करना चाहिए ?

उत्तर—प्रश्न उचित है। श्रद्धा से बहुत से प्राणी डूब भी
जाते हैं, ठगाते भी हैं। अनेक ठगों ने धनवानों को विश्वास में
लेकर ठग लिया। इसीलिए कुश्रद्धा से बचने का कहागया, औ
स्पष्टता के लिए ही शास्त्रकार ने श्रद्धा के आगे "सम्यग्"

विशेषण लगाया। सम्यग् श्रद्धा तो आत्मार्थी का आधार है। ऊँचा उठाने वाली है। यह तिराती है, डुबाती नहीं। डुबाने वाली कुश्रद्धा है। इसका अवश्य त्याग करना चाहिए।

अपना हित अहित सोचने की सामान्य मति मनुष्य में मौजूद है। संसार में इस सामान्य मति के आधार पर ही वह जीवन चलाता है। अपना और अपने कुटुम्ब का पोषण करता है। ऊँचे और सूक्ष्म विषयों में सभी मनुष्यों की गति नहीं हो सकती, किन्तु सामान्य हित अहित की बात तो प्रत्येक मनुष्य सोच सकता है। जैन सिद्धांत तो पशु पक्षियों में भी इस प्रकार की शक्ति मान कर उनमें भी कल्याणकारी धर्म के आराधन करने की योग्यता स्वीकार करता है। किन्तु संसार के अरबों मनुष्यों में से बहुतों को तो यह भी मालूम नहीं है कि हमारे जन्म, मृत्यु, रोग, शोक, संयोग, वियोग का वास्तविक कारण क्या है? यदि मनुष्य यह अनुभव करले कि "मैं दुःखी हूँ, संसार सम्बन्धी अनेक सुख के साधन होते हुए भी मुझे शांति नहीं मिलती, ये साधन भावी वियोग को साथ लेकर आये हैं। मुझे मरना तो पड़ेगा ही, यह कुटुम्ब और सम्पत्ति सब छूट जायगी। फिर इन नाशवान साधनों में सुख क्यों मानूं"? इस प्रकार के विचार मनुष्य को धर्म के अभिमुख करते हैं। वह संसार के प्रचलित धर्मों का परिचय करता है। यदि वह बुद्धिमान है, तो सबको परख परख कर अनुचित को छोड़ देता है, और किसी एक का आदर कर

लेता है। बुद्धिमान मनुष्य यही सोचता है कि इस विषय में मुझे किसी ऐसे आराध्य की सहायता लेनी चाहिए जो स्वयं इन सब दुःखो से मुक्त होकर स्थायी शांति को प्राप्त कर चुका हो। वह दुनिया के धर्मों का परिचय करता है। उसे मालूम होता है कि कई आराध्य देव कहानेवाले, सज्जनों के रक्षण, पालन और संवर्धन का विश्वास दिलाकर दुर्जनों को दण्ड देने की प्रतिज्ञा करते हैं। किसी के हाथ में शस्त्र है, वह शस्त्र से दूसरों को मारने व अपनी रक्षा करने का जाहिर करता है। जब उसके भी संसार में शत्रु हैं, उसे भी भय है, तो उसके व मेरे में फर्क ही क्या ? किसी के हाथ में माला है। वह स्वयं दूसरे की याद करता है, और जप की गिनती में भूल न हो जाय, इसलिए माला रखता है, तो ऐसे परावलम्बी, भुलक्कड़ से भी क्या हित हो सकता है ? कोई स्त्री के मोह में पड़ा हुआ है, कोई राक्षस की तरह गले में नर मुण्ड की माला पहिने हुए है, कोई वृषभ, महिष आदि पर सवारी करता है, तो कोई अत्यन्त क्रुद्ध होकर शाप देता है। ऐसे आराध्यों में अज्ञानता ,राग ,द्वेष और रति, अरति आदि अनेक दोष मौजूद हैं। जो स्वयं बन्धन में हैं, वे मुझे मुक्त कैसे करेंगे। विचारक आगे बढ़ता है उसका एक विद्वान जैन मुनिराज से साक्षात् होता है। वह सबसे पहले दीक्षा लेने का कारण पूछता है। मुनिराज के उत्तर से वह समझ लेता है कि इनकी व मेरी बिमारी एक ही है। आराध्य के

विषय में पूछनें पर उसे देव का स्वरूप ज्ञात होता है, तो वह आनन्दित हो जाता है। परम वीतराग, सर्वज्ञ सर्वदर्शी, अरिहंत भगवान् के स्वरूप का मनन करता है। उसकी खुशी का पार नहीं। वह जिस आराध्य को ढूंढ़ता था वही मिल गया। सत्य मार्ग प्रकाशक, जीवों का परम हितैषी, यथार्थ वादी, सोये और भूले हुए जीवों को सचेत कर उनके समस्त बन्धनों को काटकर, उन्हें स्वयं आराध्य बनाने की शक्ति, उन्हीं में जागृत करनेवाला, परम तारक प्रभु मिल गया। उसे विश्वास होगया कि यही मेरा उद्धार कर सकता है। इन्हीं की आज्ञा का पालन करना चाहिए। मुनिराज से उन परम तारक वीतराग के धर्म सिद्धांतों को सुनता है। उसे सभी अपूर्व लगता है। सभी उत्तम-उत्तमोत्तम है। बस यही मार्ग शाश्वत सुख दिला सकेगा। उसे परीक्षा के बाद विश्वास होजाता है। वह आत्मोत्थान में अग्रसर होता है। इस प्रकार परीक्षा से सद्मार्ग की प्राप्ति हो जाती है।

बहुत से लोग ऐसे भी होते हैं कि जो सद्धर्म प्राप्ति की खोज में निकलकर भी धर्माभास में उलझ जाते हैं। वे ऐसे अन्ध श्रद्धालु हो जाते हैं कि दिखाई देनें वाले दोषों की ओर भी नहीं देखते।

प्रश्न—अन्ध श्रद्धालु किसे कहते हैं?

उत्तर—जो दिखाई देने वाले दोषों को भी नहीं देखकर अन्धे की तरह उन दोषों को भी गुण मानते हैं। यह स्पष्ट है कि भौतिक और नाशवान पदार्थों का संयोग

समय का है। धन, सम्पत्ति, कुटुम्ब, परिवार, समाज, देश और राष्ट्र आदि का सम्बन्ध अधिक से अधिक इस जीवन तक ही रहता है, फिर छूट जाता है। ऐसे नाशवान् पदार्थों की प्राप्ति को ही परम ध्येय-आत्म हितकर धर्म मान लेना अज्ञान है। त्रस स्थावर प्राणियों की हिंसा करने, करवाने और समर्थन करने वाले, सांसारिक उन्नति के प्रचारक, अर्थ-वाद के पोषक, जीवन यापन के लिए मांस भक्षण करने की सलाह देनेवाले, खेती को नुकसान पहुँचाने वाले हिरन, बन्दर आदि पशुओं को मारने में धर्म बताने वालों के अन्धभक्त बनकर, उन्हें परम वीतरागी, देवाधिदेव अरिहन्त भगवान के समान बतलाकर, उन्हें पूर्ण रूप से पांच महाव्रतों के पालक कहना, अन्ध श्रद्धालुता का नमूना है। अपने जिन धर्म में से जिन लोगों की कुश्रद्धा हो गई है, ऐसे लोग सत्य दृष्टि से पतित होकर दूसरे धर्माभास, (अहिंसा के आभास) वाले लोगों के मोह में पड़कर उनके अन्ध श्रद्धालु बन जाते हैं।

सम्यत्क्व के ६७ अङ्ग

सम्यक्त्व—सम्यक्—सर्वज्ञ वचनानुसार यथा-तथ्य, दर्शन—देखना, देखकर विचार करना—विचार करके निश्चय करना, उस निश्चय को हृदय में स्थिर करना—सम्यग्दर्शन कहलाता है। किस वस्तु का सम्यग्दर्शन करना चाहिए ? तत्त्वार्थ सूत्रकार कहते हैं कि "तत्त्वार्थ श्रद्धानं" तत्त्व—जीवादि ९ तत्त्व, अर्थ, रहस्य, सार,

यथार्थ भाव,स्वानुभूति,श्रद्धा–अस्तित्त्व रखने वाली वस्तुओं की मान्यता।श्रद्धा दो प्रकार की होती है, १ सामान्य श्रद्धा-जबतक तत्त्वों का रहस्य समझ में नहीं आवे तबतक श्री जिन वचनों में विश्वास रख कर शुभ आत्म परिणति रखना। २ विशेष श्रद्धा–तत्त्व के रहस्य को यथार्थ रूप से समझकर उसमें दृढ़ होना, निश्चय रखना, प्रतीत, रुचि करके स्थिर होना। श्रद्धा मनवाले संज्ञी प्राणी को ही होती है; असंज्ञी जीव मिथ्यात्वी होते हैं। नोसंज्ञी नोअसंज्ञी (केवली,) को आत्मा के परिणाम रूप सम्यक्त्व होती है।

सम्यक्त्व के (अपेक्षा पूर्वक भेद अभेद स्वरूप) पर्याय वाचक नाम ये हैं:–

सच्ची समझ, आत्म दर्शन, आत्मानुभव, स्वानुभूति, आत्म-द्रव्य में स्थिरता, परम रहस्यज्ञान, आत्मसाक्षात्कार, आत्म–निश्चय, परमतत्त्व का अनुभव, तत्त्वार्थ श्रद्धा, अनन्तर उपयोग सहित द्रव्य भाव पूर्ण, सर्व अपेक्षा पूर्वक नौतत्त्व का ज्ञान तथा श्रद्धा, बोधिरत्न, सत्य निश्चय, परमतत्त्व रुचि, परम सत्य दर्शन, निश्चय सत्य, आत्मबोध आदि,

भावार्थ–ज्ञेय (जानने योग्य वस्तु) उपादेय (आदरने योग्य–आत्मतत्त्व, संवर, निर्जरा, मोक्ष अर्थात् ज्ञान, दर्शन चारित्र तप) हेय (त्यागने योग्य–अजीव तत्त्व, पुण्य, पाप, आश्रव, बन्ध) में योग्य प्रवृत्ति के द्वारा आत्म शुद्धि करके सिद्ध स्वरूप प्राप्त करने की भावना को सम्यग्दर्शन कहते हैं।

स्पष्टीकरण—बहुतसे जीवों को मोक्ष मार्ग की आराधना शनै शनै होती है। उत्कृष्ट आचार बराबर अन्त तक पालन होना कठिन है। इससे धर्म की अपेक्षा पुण्य का सञ्चय अपने आप हो जाता है। पाप के फल की इच्छा तो कोई नहीं करता, किन्तु सम्यग्दृष्टि जीव पुण्य के फल की भी इच्छा नहीं करते। पुण्य को मोक्ष की अपेक्षा उपादेय नहीं कहा जासकता।

अंग— सम्यग्दर्शन के ६७ अंग हैं, अर्थात् व्यवहार सम्यक्त्व ६७ अंग के समूह को कहते हैं। निश्चय से अनन्त ज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्त आत्मानन्द में सन्देह रहित दृढ़ विश्वास होना, समकित माना जाता है। निश्चय—अभ्यन्तर आत्मपरिणति वाले का बाह्य—चक्षु गम्य आचार।

४ श्रद्धान, ३ लिंग, १० विनय, ३ शुद्धि, ५ दूषण त्याग, ८ प्रभावना, ५ भूषण, ५ लक्षण, ६ यतना ६ अभियोग, ६ भावना और ६ स्थान। इन सब अंगों का रक्षण सम्यक्त्व के आठ आचार से होता है।

चार श्रद्धान—१ परमार्थ संस्तव २ सुदृढ़ परमार्थ सेवन ३ व्यापन्न वर्जन और ४ कुदर्शन वर्जन।

परमार्थ संस्तव—परम—महान् अर्थ का परिचय करना, अर्थात् नवतत्त्व के स्वरूप का ज्ञान करना। नव तत्त्वों मेंसे प्रथम जीव तत्त्व में आत्म तत्त्व, देवतत्त्व, गुरु तत्त्व, और धर्मतत्त्व का समावेश हो जाता है। इनका परिचय, मोक्षमार्ग दर्शक सूत्रों के वाञ्चन और सद्गुरु के उपदेश सुनने से होता है। जो देव गुरु और धर्म मोक्ष—

मार्ग के विपरीत्त लेजाते हैं, उनसे बचने के लिए शुद्ध देव, शुद्ध गुरु और शुद्ध धर्म की सावधानी से खोज करनी चाहिए। कितनें ही लोग, तत्त्व के किसी अंशको लेकर उनमें अपने कुतर्क से उल्टे अर्थ करके नये शास्त्र पैदा करते हैं। उनकी इच्छा या तो सर्वज्ञ कहलाने की या महान् गुरु के रूप में प्रसिद्ध होने की होती है। इसमें से कितनें ही लोग अपनी इच्छा पूर्ति के लिए भोले और अनजान लोगों को धर्म के बहाने अपने जाल में फँसाते हैं। जिनकी भवस्थिति परिपक्व होने आई हो, ऐसे बुद्धिमान लोग, परीक्षा करके खरे देव, गुरु और धर्म को खोज लेते हैं। श्री पार्श्वनाथ भ० के शासन के गांगेय अनगार नें, ने 'भ० महावीर स्वामी सर्वज्ञ है, गोशाला नहीं,' ऐसा निश्चय अमुक भांगों की पृच्छारूपी परीक्षा से की थी, ऐसे भांगे सर्वज्ञ के अतिरिक्त कोई नहीं बता सकता था। जो बुद्धिमान हैं, वे मोक्ष मार्ग के सच्चे और पूर्ण अनुभवी ऐसे सर्वज्ञ प्रभु के ज्ञान को ही अपनी साधना में ग्रहण करते हैं। कपोल कल्पित शास्त्र तो कोई भी बना सकते हैं, किन्तु उनका मूल्य मोक्ष मार्ग में कुछ भी नहीं होता। श्रद्धान में एक भी भूल हुई और उसे मजबूत पकड़ली, तो सम्यग्दर्शन से पतन हो जाता है। इसलिए देव अरिहन्त, गुरु निर्ग्रंथ और धर्म केवली प्ररूपित ही सच्चा, इसकी खात्री इस तत्त्वत्रयी के शुद्ध स्वरूप को जानने से होती है। यही सम्यक्त्व का प्रथम सोपान है।

सम्यक्त्व प्रश्नोत्तर

१ प्रश्न—मोक्ष का मूल कारण क्या है ?

उत्तर—सम्यग्—दर्शन

शंका—सम्यग् चारित्र नहीं?

समाधान—सम्यग्-दर्शन होने पर ही सम्यग् चारित्र होता है। बिना सम्यग्-दर्शन के सम्यग् ज्ञान नहीं होता और सम्यग्-दर्शन ज्ञान के बिना सम्यग् चारित्र नहीं होता, इसीलिये भगवती सूत्र श० १ में टीकाकार ने कहा कि "मोक्ष का सच्चा कारण दर्शन ही है। अतएव ज्ञान के बनिस्बत दर्शन का ही प्रयत्न करना चाहिये।" और दर्शन के बाद ज्ञान के विस्तार का प्रयत्न होना चाहिये। ज्ञान दर्शन होने पर चारित्र-सम्यग् चारित्र कहा जाता है। ज्ञान और चारित्र से ही मोक्ष मार्ग पर चलना होता है। यदि ज्ञान तो हो, पर चारित्र गुण न हो तो मुक्ति नहीं हो सकती। सम्यग् ज्ञान दर्शन मोक्ष के मार्ग पर खड़ा कर देते हैं, किन्तु चलना तो चारित्र से ही होता है। चारित्र से ही संसार अटवी का उल्लंघन होता है। बिना चारित्र के ज्ञान अपंग के समान है और बिना ज्ञान का चारित्र अन्धे के समान है, जो उन्मार्ग में भटकाता रहता है। पहले ज्ञान नेत्र से मार्ग देखना आवश्यक है। इसके बाद सन्मार्ग पर चलने से इच्छित स्थान पर पहुँचा जाता है। ज्ञान परम्पर फल दाता है, इसके होने पर चारित्र की प्रधानता होती है। फिर चारित्र ही कर्मों का नाश करता है।

२ प्रश्न—यदि किसी ने सतरह पापस्थानों का त्याग कर दिया, तो क्या वह मोक्ष के निकट नहीं हो गया ?

उत्तर—अभव्य जीव अनन्त वार सत्रह पापस्थानों का उग्र त्याग कर देता है, और इस प्रकार की श्रमणोचित उग्र क्रिया के प्रभाव से वह ग्रैवेयक स्वर्ग में अहमिन्द्र बन जाता है। वहां उस में लेश्या भी शुक्ल होती है, फिर भी एक मिथ्यात्व के शल्य से वह अनन्त संसारी ही रहता है। इसलिये मोक्षार्थी के लिये मिथ्यात्व का शल्य निकालना परमावश्यक है। मिथ्यात्व के एकबार हट जाने और सम्यग्दर्शन प्राप्त हो जाने पर चारित्र आता ही है—भलेही भावान्तर में आवे।

३ प्रश्न—दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय की प्रकृतियें भिन्न भिन्न हैं। यदि कोई दर्शनमोहनीय की प्रकृतियों को क्षय नहीं करके चारित्रमोहनीय को नष्ट करदे, तो इसमें कौनसी रुकावट है ?

उत्तर—विना दर्शनमोहनीय कर्म के क्षय किये, चारित्र मोहनीय का क्षय नहीं हो सकता। हां, प्रथम गुणस्थानी के अनन्तानुवन्धी नामक एक चोक का क्षयोपशम तो हो सकता है, इससे वे पतली कषायों वाले, नीतिमान, जीवों की अनुकम्पा वाले, ब्रह्मचारी और सत्यानुरागी हो सकते हैं। इन गुणों की प्रकृष्टता से कोई कोई दर्शन मोहनीय का क्षयो[illegible] अथवा क्षय करके सम्यग् दृष्टि हो जाते हैं और फि[illegible] [illegible] की दूसरी चौकड़ियों को तोड़ सकते हैं। [illegible]

गुणस्थानी जीव, चारित्र मोहनीय कर्म की प्रथम चौकड़ी का क्षयोपशम कर सकता है। अप्रत्याख्यानादि अन्य चौकड़ियों का नहीं, क्योंकि इनका क्षयोपशमादि मिथ्यात्व के क्षयोपशमादि के बाद ही होता है।

४ प्रश्न-सम्यग् ज्ञान की व्याख्या क्या है?

उत्तर-मोक्ष के हेतु भूत, जीवादि तत्वों का यथार्थ ज्ञान ही सम्यग् ज्ञान है। इसके सिवा सभी मिथ्याज्ञान है। जिस ज्ञान में मोक्ष का ध्येय नहीं और यथार्थता नहीं, वह मिथ्याज्ञान है।

मोक्ष साधक सम्यग्ज्ञान और संसार साधक मिथ्याज्ञान है।

शंका-क्या सम्यग्ज्ञानी संसार नहीं साधता?

समाधान-सम्यग ज्ञानी गृहस्थ संसार साधता है, किंतु वह यह मानता है कि संसार साधना सम्यग्ज्ञान का लक्ष नहीं है।

५ प्रश्न-अवधिज्ञान बड़ा या आठ प्रवचन माता का साधारण ज्ञान बड़ा?

उत्तर-अवधि ज्ञानी देव या गृहस्थ से, आठ प्रवचन माता के साधारण ज्ञान वाला श्रमण बड़ा है। अवधिज्ञानी देव के लिये वह पूज्य होकर परमेष्ठी पद में माना गया है।

६ प्रश्न-जब ज्ञान दर्शन और चारित्र ही मोक्ष प्रदाता है, तो तप को महत्व क्यों दिया जाता है?

उत्तर—चारित्र संवर रूप है, इससे पाप कर्म का निरोध होता है, किन्तु उच्छेद नहीं होता। तपस्या से कर्म रूप महावन का नाश होता है। अतएव संचित कर्मों को नष्ट करने के लिये तपस्या की खास आवश्यकता है।

७ प्रश्न—भाव चारित्र ही खरा चारित्र है, तो फिर द्रव्य—चारित्र की आवश्यकता ही क्या है?

उत्तर—अनन्तबार द्रव्य—चारित्र आने पर आत्मा को भाव—चारित्र की प्राप्ति होती है। अनन्ती बार द्रव्य—चारित्र मिला, वह भी व्यर्थ तो नही गया, उससे भी स्वर्गादि सुखों की प्राप्ति हुई और नरकादि दुःख से आत्मा का रक्षण हुआ। अतएव द्रव्य चारित्र भी एकान्त निरुपयोगी और हेय तो नहीं है। हां, भाव चारित्र से वह नीचा अवश्य है। जिस प्रकार लोक लाज अथवा संरक्षकों के आधीन में रहकर अनिच्छा पूर्वक पाले हुए शील से भी देवगति मिलकर सुखों की प्राप्ति होती है, उसी प्रकार द्रव्य चारित्र का परिणाम भी स्वर्गादि सुख रूप होता है।

८ प्रश्न—द्रव्य—चारित्र और भाव चारित्र में क्या फर्क है?

उत्तर—विना इच्छा के लोक लाज अथवा स्वर्गादि सुख की कामना से पाला हुआ चारित्र, द्रव्य—चारित्र कहा जाता है। जिस चारित्र के पालन में मोक्ष का लक्ष्य न हो, तो वह भाव युक्त होने पर भी द्रव्य चारित्र है।

९ प्रश्न—पहले देश चारित्र आने के बाद ही सर्व चारित्र की प्राप्ति होनी चाहिये। पांचवा गुणस्थान आने के पूर्व ही

छठा या सातवां कैसे आ सकता है ?

उत्तर—सम्यक्त्व के बिना चारित्र नहीं होता, यह नियम है, किन्तु यह नियम नहीं कि बिना देशविरति के सर्वविरति नहीं आ सकती हो। तीर्थंकर गणधर आदि विना ही देश विरत हुए सर्व चारित्री हो जाते हैं। ऐसी अनेक आत्माएं होती है कि जो सम्यक्त्व पाने के साथ ही चारित्र प्राप्त कर लेती है। जो अन्यमतावलंबी, विभंगज्ञान पाने के बाद सम्यक्त्व के संमुख होते हैं,वे विना ही देशविरति के सीधे सर्व विरत हो जाते हैं। अतएव देशविरत होने के बाद ही सर्वविरति आने का कोई एकान्त नियम नहीं है। मार्ग जान लेने पर धीरे धीरे भी चला जाता है और लंबे डग भरकर भी। एक दो सीढ़ी का लांघना अशक्य नहीं होता।

१० प्रश्न— संयम कितने प्रकार का होता है ?

उत्तर—दो प्रकार का, १ सराग संयम और २ वीतराग संयम।

११ प्रश्न—इनके भी कोई भेद है क्या ?

उत्तर—सराग संयम के चार भेद हैं, १ सामायिक चारित्र, २ छेदोपस्थापनीय चारित्र ३ परिहारविशुद्ध चारित्र और ४ सूक्ष्मसंपराय चारित्र। वीतराग संयम के दो भेद— १ उपशान्तमोह वीतराग चारित्र और २ क्षीणमोह वीतराग चारित्र।

१२ प्रश्न—क्या सराग चारित्र से मोक्ष हो सकता है ?

उत्तर—सराग चारित्र से प्रगति करते हुये वीतरा

चारित्र पाकर मुक्ति पा सकते हैं—सीधे सराग चारित्र से मुक्ति नहीं हो सकती, किन्तु वीतराग चारित्रकी उत्पत्ति सराग चारित्र से ही होती है। भगवान् महावीर साड़े बारह वर्ष तक सराग चारित्र में रहने के बाद ही वीतराग हुए। वीतराग का अर्थ राग—मोह रहित अवस्था है। ऐसी अवस्था प्राय: क्रमश: प्राप्त होती है। प्रथम दर्शन—दृष्टि मोह का नाश, फिर चारित्र मोह का। जितना जितना राग निकलता है, उतनी उतनी विरागता आती है, किन्तु राग के अंश का उदय रहने से दसवें गुणस्थान तक अर्थात् सूक्ष्मसंपराय चारित्रवाले को भी वीतराग नहीं कह सकते। वास्तव में सभी चारित्र सामायिक रूप है, किन्तु अवस्था विशेष के कारण भेद बताये गये हैं।

१३ प्रश्न—क्या वीतराग चारित्र वाले कभी सरागी नहीं होते?

उत्तर—उपशान्त मोह वीतरागी यथाख्यात चारित्री, पुन: सरागी होते ही हैं। केवल क्षीणमोह वीतरागी ही सरागी नहीं होते और मोक्ष पा लेते हैं। उपशान्त मोह वीतरागी यथाख्यात चारित्रवान में से कोई कोई ऐसे भी होते हैं कि जो मिथ्यात्व को प्राप्त होकर नरक निगोद में चले जाते हैं और अनन्त काल तक संसार में जन्म मरण करते रहते हैं।

१४ प्रश्न—हिंसादि पांच आश्रवों के त्याग मात्र से साधुता आ सकती है?

उत्तर—पांच आश्रवों के त्याग के साथ समिति, गु

और समाचारी का पालन भी आवश्यक है। इसके विना साधुता का पालन नहीं हो सकता।

१५ प्रश्न—गृहवास में रहते हुए भी केवलज्ञान हो सकता है, मुक्ति हो सकती है, तो साधुता क्यों नहीं हो सकती? इसके लिए समाचारी पालन की क्या आवश्यकता है ?

उत्तर—गृहवास में रहते हुए केवलज्ञान अथवा मुक्ति होनें के उदाहरण अपवाद स्वरूप हैं। जिस आत्मा ने पूर्वभव में चारित्र का उग्ररूप में, बहुत काल तक पालन किया, यदि कुछ क्षणों की आयु अधिक होती तो उसी भव में मुक्ति हो जाती, किन्तु आयु कम होने से वे अनुत्तर विमानवासी देव हुए और भोगावली कर्म के क्षय होते ही परिणामों की विशुद्धता से घातिकर्मों का क्षय होकर केवलज्ञान प्राप्त कर लिया, ऐसे केवलज्ञानियों की आयु, अन्तर्मुहूर्त से अधिक हो तो उन्हें साधु पर्याय में आना पड़ता है। जैसे श्री भरतेश्वर को केवलज्ञान होने के बाद अलंकारादि उतारकर लुंचन करके साधु पर्याय में आना पड़ा। अकाम-निर्जरा द्वारा कर्मों को क्षयकर, आयुष्य के अन्तिम भाग में क्षायिक सम्यक्त्व पाकर, और क्षपक श्रेणी चढ़कर जो मुक्ति पाते हैं, वे भी साधु पर्याय में आये विना ही मुक्ति पा लेते हैं। इस प्रकार गृहिलिंग में केवलज्ञान और मुक्ति हो सकती है। इसका मुख्य कारण आयुष्य की कमी है, यदि आयुष्य अधिक हो, तो भरतेश्वर की तरह साधु पर्याय में आना ही पड़ता है। उन्हें फिर घर में रहने का कोई कारण ही नहीं रहता। इसी

रह जिस गृहस्थ को निर्मलता और उच्चतासे भाव-चारित्र आजाय, उसे या तो द्रव्य-चारित्र स्वीकार करना पड़ता है, या फिर हायमान परिणाम होजाते हैं, क्योंकि क्षयोपशम भाव वालों के लिए चारित्र में स्थिरता लाने का गृहस्थ पर्याय में कोई साधन नहीं है। सभी साधन साध्य के विपरीत और ध्येय के प्रतिकूलही रहते हैं। इसलिए गृह-वास में साधुता स्थायी नहीं रह सकती।

१६ प्रश्न-इस समय पांचवां आरा है, संघयण भी कमजोर है, इसलिए चारित्र का विशुद्ध पालन नहीं होकर दोष लगे तो यह स्वाभाविक ही है। ऐसी स्थिति में साधुओं पर शिथिलाचार का दोष लगाना अनुचित नहीं है?

उत्तर-पाँचवें आरेमें दृढ़ शरीर संघयण नहीं, परिहार विशुद्ध चारित्र नहीं, विशिष्ठ ज्ञानियों का आलम्बन नहीं, निर्ग्रंथ और स्नातक जैसे उच्च चारित्रवान् नहीं, इतना होते हुए भी उत्तम आचार का पालन हो सकता है। काल दोष की ओट में सुज्ञजनों के सामने शिथिलाचार नहीं धक सकता। जिनकी पाँच महाव्रतों और समिति गुप्ति की ओर से उपेक्षा है, जो लोकानुगामी बन रहे हैं, गृहस्थों से परिचय बढ़ा रहे हैं, मानपूजा के लिए विविध प्रवृत्तियां चलाते हैं, आलस्य में समय बिताते हैं, स्वाध्याय ध्यान में रुचि नहीं है, संयम के विपरीत प्रवृत्तियाँ बढ़ाते रहते हैं, सदोष आहारादि लेते हैं, वस्त्रादि का संचय रखते हैं, वे साधुता के प्रेमी नहीं है। इस विषमकाल में भी बकुश और कुशील साधु तो रहते ही हैं। बकुश भी मूल गु०

विराधक नहीं होते, उनके महाव्रत अखण्डित रहते हैं । व्रत उन्हीं के अखण्डित रहते हैं, जिन्हें समिति गुप्ति का ध्यान रहता है । पांच महाव्रतों की २५ भावनाओं में तत्पर रहते हैं। पंचमकाल की ओट लेने वाले कुछ ऐसे भी हैं, जो सावधान नहीं रहते । महाव्रतों का शरीर से भंग कर देना ही असाधुता नहीं, किन्तु उपेक्षा करना भी साधुता को खण्डित करना है । जो शरीर से तो पाँच आश्रव का सेवन नहीं करे, किन्तु वचनों से सावद्य वाणी बोले—उपदेश करे, उनका वचन योग से महाव्रतों का पालन नहीं होता और जो मान-पान आडम्बर तथा सांसारिक प्रवृत्तियों में ही रचे रहें, उनका मनोयोग से चारित्र पालन नहीं होता । तीन करण, तीन योग से आश्रवों का त्याग कर महाव्रतों को धारण करने वालों को अपना मन भी ऐसे ही विषयों में लगाये रखना चाहिए, जिसमें महाव्रतों की मर्यादा के बाहर नहीं जा सके । इसके लिए स्वाध्याय, वांचन, पृच्छा, अनुप्रेक्षा, धर्म चर्चा, वैयावृत्य, प्रतिलेखनादि क्रिया में मन लगाना ही मर्यादा में रहना है । जो इसकी उपेक्षा करके लोक-रंजन के विचार में लगे रहते हैं, धर्म चर्चा छोड़कर संसार चर्चा करते रहते हैं, उनका मन चारित्र में नहीं होने का अनुमान गलत नहीं कहा जा सकता और यदि इस प्रकार प्रवृत्ति करने वालों को वकुश निर्ग्रंथ में भी कोई नहीं गिने, तो आश्चर्य की बात नहीं है ।

१७ प्रश्न—संयम की उपेक्षा करके परोपकार अथवा प्राणी रक्षा की प्रवृत्ति की जा सकती है ?

उत्तर—नहीं। संयम रक्षा के लिए साधु चातुर्मास में विहार कर सकता है, नदी उतर सकता है, अकेला भी जा सकता है, इतना ही नहीं वरसते पानी में स्थंडिल जा सकता है, लता अथवा वृक्ष पकड़कर स्थिर रह सकता है, किन्तु परोपकार केलिए संयम की उपेक्षा नहीं की जा सकती।

१८ प्रश्न—यदि कोई परोपकार के लिए संयम की उपेक्षा करे तो ?

उत्तर—यह उसकी इच्छा की बात है। उसे परोपकार का फल तो मिलेगा, किन्तु संयम के उच्च फल से वह वंचित रह जायगा। वह संयम से गिर जायगा।

संयम पालन करते हुये भी परोपकार किया जा सकता है। जैन मुनियों ने संयम पालते हुए लाखों जीवों का भला किया है। हिंसकों को अहिंसक, मांस—भक्षकों को निरामिष भोजी, चोरों को शाह और शरावियों को मदरहित बनाया। यह जैन मुनियों का ही प्रभाव है कि हिंसक संस्कारों को मिटा-कर लाखों मनुष्यों की हिंसक संस्कृति पर, अहिंसा की छाप डालकर प्रतिवर्ष लाखों पशुओं की होती हुई हत्याएँ वन्द करवाई। अनेक राज्यों में अमारि घोषणा करवाई। इस प्रकार अपने संयम को पालते हुए, परोपकार के कार्य हो सकते हैं, किन्तु संयम की उपेक्षा कर—मर्यादा तोड़कर परोपकार करने को तत्पर होना उचित नहीं है।

१६ प्रश्न–द्रव्य सम्यक्त्व किसे कहते हैं ?

उत्तर–जिसे जिनेश्वर प्रणीत जीवादि तत्त्वों का और हेय उपादेय का ज्ञान नहीं, किन्तु ओघसंज्ञा से यह माने कि जिनेश्वर ने जो कुछ कहा है, वह तत्व ही है अर्थात् तत्वों और देव, गुरु, धर्म सम्बन्धी अज्ञान होते हुए भी श्री जिन वचन प्रमाण करने की रुचि द्रव्य–सम्यक्त्व कहलाती है। श्रद्धा रहित द्रव्य लिंगी साधु का यथार्थ–शास्त्रसम्मत प्रतिपादन भी द्रव्य सम्यक्त्व कहा जा सकता है। दीपक नाम का सम्यक्त्व, द्रव्य सम्यक्त्व कहा जाता है, जिसका स्वामी मिथ्या दृष्टि होता है। ओघरुचि वाले को मिथ्यादृष्टि नहीं कह सकते, क्योंकि वह स्वरूप नहीं जानते हुए भी जिन धर्मानुरागी होता है। वह भाव सम्यक्त्व के योग्य है, किन्तु जिसकी जिनवचनों में प्रतीति ही नहीं, वह मात्र प्ररूपणा करने से ही सम्यग्दृष्टि नहीं हो सकता। हां, उसके वचनों से दूसरे प्राणी सम्यक्त्व लाभ कर सकते हैं, इसीसे उसे दीपक–पर प्रकाशक सम्यक्त्वी कहा है। वह दूसरों को सम्यक्त्वी ही दिखाई देता है। श्री हरिभद्रसूरिजी के शब्दों में ऐसा ज्ञान, मात्र 'विषय प्रतिभास ज्ञान' कहा जाता है।

जीवादि तत्त्व और देव गुरु धर्म की ज्ञान पूर्वक रुचि हो, श्री जिनेश्वर भगवान् के वचनों का विश्वास हो, उन्हें ही परम तारक मानता हो, उसे भाव सम्यक्त्व होती है। 'तत्व-संवेदन'–रुचि, भाव सम्यक्त्व है।

२० प्रश्न–निश्चय सम्यक्त्व किसे कहते हैं ?

उत्तर–भाव सम्यक्त्व के बाद प्रशमादि पांचो लक्षण आत्मपरिणत हो जाय, उसे निश्चय सम्यक्त्व कहते हैं। भाव सम्यक्त्व से यह प्रतीति होजाती है कि मैं सभी पर द्रव्यों से भिन्न हूं। मेरा मूल स्वरूप परम विशुद्ध निजानन्द मय है। परभाव में रहने से ही मेरी दुर्दशा हुई है। स्वभाव–ज्ञान दर्शनादि में स्थिर होने से ही मैं सिद्ध दशा पा सकता हूँ। मेरी आत्मा का तारक, रक्षक मैं स्वयं हूं। पर परिणति संसार का और स्वात्म परिणति मोक्ष का कारण है। मेरी आत्मा में अनन्त ज्ञान, दर्शन, वीर्य और आनन्द की सत्ता है। मैं स्वयं ही देवाधिदेव, परम गुरु और परम धर्म हूँ। मैं स्वयं ही सत्ता को शक्ति रूप में परिणत कर सकता हूँ। इस प्रकार की श्रद्धा निश्चय सम्यक्त्व कहलाती है।

२१ प्रश्न–आपने सम्यग्दर्शन के दिसम्बर ५१ अङ्क पृ० ३७३ पर लिखा कि–"कर्मग्रन्थ में लिखा हैं कि यदि मिथ्यात्वावस्था में आयुष्य का वन्ध हुआ हो और तदनुसार नरकादि दुर्गति में जाना हो, तो उस समय पुनः मिथ्यात्व दशा प्राप्त हो जायगी, तभी वह उस गति में जा सकेगा," यह वात सिद्धांत से विपरीत नहीं है क्या ?

उत्तर–हां, इस विषय में सिद्धांत और कर्मग्रन्थ में मत भेद है। सिद्धांत में तो छठी नरक तक सम्यक्त्व के साथ जाना स्वीकार किया है। यह वात इससे पहले ही संक्षेप में वतादी गई थी कि–"सम्यग्दृष्टि चारों गति में जा सकता है। इस

विषय में सिद्धान्त पक्ष में मत भेद नहीं" । इसके बाद क" का मत भेद बताने के लिये ही मैने वह बात लिखी थी । सिद्ध पक्ष बलवान होता है । श्री भगवतीसूत्र श० १३ उ० । में मति श्रुत और अवधि ज्ञानी तथा सम्यग्दृष्टि प्रथम छठी नरक तक जाने का उल्लेख है । तथा श० ३१ में भी ऐसा उल्लेख है । अन्य स्थानों के भी प्रमाण मिल सकते हैं ।

२२ प्रश्न—आपनें जनवरी ५२ के अंक पृ० २० पर, भग-वद् नाम जपने रूप भक्ति को अर्वाचीन बतलाई, इसका क्या उद्देश्य है ?

उत्तर—उद्देश यही कि जाप करने की प्रथा उस समय नहीं थी, आगमों में अखण्ड जाप जैसी प्रथा का किसी भी रूप में उल्लेख नहीं है । नामस्मरण भी शुभ क्रिया है और हृदय से स्मरण करने वालेकी आत्मा पवित्र होती है, किंतु जो शुद्धि अनुपेक्षा से होती है, वह नाम स्मरण से नहीं । नामस्मरण एक सरल साधना है और इसीलिये पूर्वाचार्यों ने इसपर अधिक जोर दिया है । साधारण जनता इससे अधिक लाभ उठाती है किंतु वर्त्तमान में भक्ति का अतिरेक होता नजर आ रहा है जैनधर्म को भक्तिमार्गी बनाया जारहा है—यह उचित नहीं लगता । इसमें देखादेखी ही दिखाई देती है । यदि इसके बनिस्वत संवर, दया, पौषधादि की वृद्धि होकर स्वाध्याय ध्यानादि आत्मशुद्धि करनेवाली पुरातन रीति बढ़ाई जाय तो खरी धर्मोन्नति हो सकती है ।

२३ प्रश्न–क्या जनसेवक सम्यग्दृष्टि नहीं होते ?

उत्तर–होते भी है और नहीं भी। सम्यग्दृष्टि का ाप, जनसेवा नहीं, किन्तु तत्त्वों का यथार्थ श्रद्धान और हेय, ोय उपादेय का विवेक है। जिसमें यह विवेक है, वह सम्यग् ृष्टि है–भले ही वह जनसेवक हो या राष्ट्रसेवक, सेवक हो ा स्वामी, संपत्तिमान् हो या दरिद्री, पठित हो या अपठित और साधु हो या गृहस्थ, कोई भी हो, किसी भी दशामें हो, वह सम्यग्दृष्टि माना जा सकता है। किन्तु साधु दशामें होते हुए भी जिसमें तत्त्वार्थ का श्रद्धान् नहीं है, मिथ्या उद्गार निकालते हैं, जिनकी प्रवृत्ति मिथ्यात्व को प्रोत्साहन देनेवाली होती है, वे सम्यग्दृष्टि नहीं माने जाते।

२४ प्रश्न–सम्यक्त्व, भावों से सम्बन्ध रखती है। दूसरों के भावों को हम नहीं जान सकते। यदि किसी ने परिस्थिति वश कुछ शब्द वैसे कह दिये हों, तो शब्दों पर से ही कोई किसी को सम्यक्त्व हीन कैसे कह सकता है ?

उत्तर–सम्यक्त्व आत्मा की वस्तु है। किस प्राणी में सम्यक्त्व है और किसमें नहीं है, यह हमारे जैसे अल्पज्ञ तो ाया पर अवधिज्ञानी भी नहीं जान सकते। इसीसे वे सर्वज्ञ ागु से पूछते हैं कि "प्रभो! मैं भव्य हूं या अभव्य, सम्यग् ृष्टि हूं या मिथ्या दृष्टि ?" किसी के सम्यग्दृष्टि होने का खरा ौर निश्चित निर्णय अल्पज्ञ नहीं कर सकता। किन्तु किसी व्यक्ति ी प्रवृत्ति देखकर और वचन सुन कर उसे सम्यक्त्वी होने न ोने का निर्णय, स्थूल दृष्टि से किया जा सकता है, जो प्राय:

खरा उतरता है। बिना किसी बाह्य कारण और दबावके ही जो व्यक्ति, अपनी इच्छा से मिथ्यात्व का सेवन करे उसे सम्यग् दृष्टि नहीं कहा जा सकता। अपनी कमजोरी से परिस्थिति के वश होकर मिथ्यात्व का रुक्षभाव से अनुमोदन, गृहस्थ कर सकता है और इसलिये गृहस्थों के छः आगार रक्खे गये हैं, किन्तु वही गृहस्थ यदि उपासक प्रतिमा का आराधक होता है, तो त्रिकरण त्रियोग से सम्यक्त्व का पालक होता है।

जो श्रमण हैं, वे तो तीन करण तीन योग से मिथ्यात्व के त्यागी होते हैं। यदि कोई श्रमण, कुदेवादि की प्रशंसा करे—उन्हें सुदेवादि के बराबर बतलावे, अपनी आचार मर्यादा के विरुद्ध प्ररूपणा करे, तो उसे मिथ्यादृष्टि कहना—मानना अयुक्त नहीं है।

साधु अवस्था में रहे हुए किसी मिथ्यादृष्टि को—उस दशा में जब कि वह सुसाधु जैसी ही प्ररूपणा करता है और आचार पालता है—सम्यग्दृष्टि मानना सहज है। क्योंकि वह वचन और काया से विरुद्धाचरण नहीं करता, इसलिये उसे मिथ्यादृष्टि भी नहीं कहा जा सकता। किन्तु जो अपने पद, विरति, और वेश की भी परवा नहीं करके, सामान्य दशा में भी विपरीत प्रचार करता है, वह तो मिथ्यादृष्टि ही है। वह अपने भीतर रहे हुये मिथ्यात्व का ही इजहार कर रहा है।

२५ प्रश्न—किसी साधु की बाहरी क्रिया और प्ररूपणा से उसे सम्यग्दृष्टि, शुद्धाचारी महात्मा जान कर किसीने वन्दन नम

स्कार और प्रतिलाभ रूप पर्युपासना की, किन्तु अन्तःकरण से वह मिथ्यात्वी और असाधु है, तो क्या उसकी उपासना से मिथ्यात्व लगता है ?

उत्तर–नहीं, यदि उपासक ने उसकी वाणी और व्यवहार से उसे सुसाधु मानकर सेवा भक्ति की, तो उसे मिथ्यात्व नहीं लगता। यदि यों मिथ्यात्व लगता होता, तो मिथ्यादृष्टि और अभव्य से प्रतिबोध पाकर कोई आत्महित साध ही नहीं सकता। हां, यदि जान बूझ कर असाधु का पक्ष करे, तो दोष लगता है।

२६ प्रश्न–कोई सम्यक्त्वी है या नहीं, इसकी पहिचान कैसे हो सकती है ?

उत्तर–मुझ में आस्तिक्य–श्रद्धा है या नहीं? आस्तिक्य के बाद अनुकम्पा, निर्वेद, संवेग और समता के भाव यदि अपनी आत्मा में हों, तो इन लक्षणों से अपने में सम्यक्त्व है, ऐसा मानने में आपत्ति नहीं है। और दूसरे में सम्यक्त्व के होनें का अनुमान, धर्म प्रेम, देव गुरु की वैयावृत्य और धर्म आराधना में यथा शक्ति प्रवृत्ति हो, तो सम्यक्त्व होने का अनुमान होता है।

२७ प्रश्न–सम्यक्त्व के लक्षणों में पहले सम और पांचवें स्थान में आस्तिक्य लिया है। फिर आपने ऊपर के उत्तर में पहले आस्तिक्य को स्थान देकर क्रम को उल्टा क्यों लिखा?

उत्तर–यह कोई नियम नहीं है कि सभी वस्तुओं का वर्णन यथाक्रम ही हुआ है। यदि ऐसा होता तो, नमस्कार

मन्त्र में पहला पद अरिहन्त का न होकर साधु का होता, और अन्तिम अरिहन्त या सिद्ध का। विचार करने पर इसकी पश्चानुपूर्विता युक्ति संगत ज्ञात होती है। सम, संवेग, निर्वेदादि का प्रादुर्भाव अस्तिक्य के बाद होता है। पहले श्रद्धा, उसके बाद अनुकम्पा, फिर संसार और भोगों से निर्वेद, उसके बाद मोक्षमार्ग में प्रीति—संवेग और अन्त में सम—मध्यस्थता होती है। तत्त्वार्थवृत्ति में श्री हरिभद्रसूरिजी भी यही क्रम अपनाते हुये 'आस्तिक्याद्यन्यतर भाव युक्तं तु व्यावहारिकं,' लिखते हैं। अतः यह क्रम प्रचलित क्रम से अधिक संगत प्रतीत होता है।

प्रदेशी और संयति राजा पहले हिंसक थे। मुनि समागम से धर्म का बोध हुआ और बोध होने के बाद ही वे अनुकम्पावान् हुए। उसके बाद निर्वेद पाकर मोक्षमार्ग पर अनुरागी हुए। राजा संजय के विषय में उत्तराध्ययन अ० १८ में पाठ है कि—

सोऊण तस्स सो धम्मं, अणगारस्स अंतिए।
महया संवेग णिव्वेदं, समावण्णो णराहिवो।

पहले उसने धर्म सुना और श्रद्धा हुई, श्रद्धा होने के बाद संवेग और निर्वेद हुआ और फिर प्रव्रजित हुआ। विना श्रद्धा के संवेगादि होना कठिन है।

चतुर्थ गुणस्थानी आत्मा में श्रद्धा होती है, अनुकम्पा भी और संसार से अरुचि तथा मोक्ष में रुचि भी हो सकती है,

किंतु चारित्रावरणीय के उदय से समत्व का आजाना सहज नहीं है।

कुछ विद्वानों का कहना है कि अनन्तानुबन्धी क्रोधादि का अभाव होने पर सम्यक्त्व का प्रादुर्भाव होता है। यह अनंतानुबन्धी का अभाव ही समत्व है। क्योंकि उस प्राणी में से अनन्त भवभ्रमण करानेवाली कषायों की महान् विषमता निकल जाती है, तभी श्रद्धान् जमती है। इस महान् विषमता का निकलना ही समत्व माना गया है। यहां उस समत्व को नहीं लिया गया, जो माध्यस्थभाव के प्रकट होने से होता है। यद्यपि यह कथन भी इस दृष्टि से ठीक ही है, तथापि श्रद्धा के विना ही संवेग निर्वेद पा जाना समझ में नहीं आता।

एक दृष्टि और है। श्री भगवतीसूत्र का असोच्चा-केवली और तामली तापस का अधिकार देखने से यह विचार होता है कि जो तापस आदि प्रथम गुणस्थानी, अल्प कषाय-वाले, पक्षपात से रहित एवं शान्त परिणाम वाले होते हैं, उन्हें 'सम' पहले होता है और आस्तिक्य बाद में। मिथ्यादृष्टि अवस्था में ही उन्हें सम, सम्वेग, निर्वेद और अनुकम्पा हो सकती है। आस्तिक्यता के अभाव में ही वे मिथ्यादृष्टि होते हैं।

यह भी विचारणीय बात है कि संवेग निर्वेद पहले, या सम पहले ? हमारी अल्प मति से पहले, निर्वेद फिर संवेग और उसके बाद समता का होना युक्ति संगत लगता है। संसार से विरक्ति और मोक्ष की रुचि होने पर ही राग द्वेष

की परिणति कम होती है और इसके होनें पर ही समत्व की प्राप्ति होती है, तत्त्व केवली गम्य।

यदि बहुश्रुत महानुभाव इस विषय में खुलासा करें, तो विशेष प्रकाश पड़ सके।

२८ प्रश्न—क्या षट्द्रव्य और नौतत्व का ज्ञान होने पर ही सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है, इसके बिना नहीं हो सकती ?

उत्तर—षट्द्रव्य और नौतत्त्व का ज्ञान होने के पूर्व देव गुरु और धर्म पर श्रद्धा होना आवश्यक है। यह होने पर सम्यक्त्वी माना जा सकता है। इसके अभाव में सम्यक्त्व नहीं हो सकती। संक्षेपरुचि वाले को तत्त्वों की जानकारी नहीं होती, वे श्रद्धा से ही मानते हैं। अर्जुनमाली आदि अकस्मात् धर्म के संमुख हुए। वे तत्त्वज्ञान पाकर धर्मी नहीं हुये थे, मात्र श्रद्धा के बल पर ही—आराध्य के प्रति दृढ़ विश्वास जम जाने से ही—मोक्ष मार्ग में प्रविष्ट हुए थे। तत्त्वज्ञान से अनभिज्ञ किंतु आराध्य देवादि के प्रति श्रद्धा धराने वाले, अपने हृदय में सोचतें हैं कि "मैं मूढ़ हूं। मेरे अज्ञान का उदय है, इसीसे तत्त्वज्ञान मुझ में नहीं है। किन्तु जिनेन्द्र भगवान् ने फरमाया वह सम्पूर्ण सत्य है, तथ्य है। उसमें किसी प्रकार की शंका नहीं है, "तमेव सच्चं निस्संकं जं जिणेहिं पवेइयं," वे सम्यग्दृष्टि ही हैं। इसके विपरीत जो तत्त्ववेत्ता हो गये हैं, किन्तु श्री वीतराग सर्वज्ञ प्रभु के प्रति जिनकी श्रद्धा नहीं है, वे

जमाली की तरह मिथ्यादृष्टि हैं। और माषतुस मुनि की तरह जिनमें तत्त्वज्ञान की न्यूनता है, किन्तु श्रद्धाबल की दृढ़ता है, वे अवश्य सम्यग्दृष्टि हैं। ज्ञान और श्रद्धा के कारण भिन्न भिन्न हैं। ज्ञान होता है ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशमा-नुसार और श्रद्धा होती है, दर्शनमोहनीय के क्षयोपशमादि से। विना पढ़ा लिखा और सामान्य (जघन्य) मति श्रुतज्ञान वाला भी क्षपकश्रेणी पर आरुढ़ होकर सर्वज्ञ सर्वदर्शी हो सकता है, और विद्वद् शिरोमणि माने जानें वाले भी संसार परिभ्रमण करते रहते हैं। पूर्वों का ज्ञान धराने वाले मिथ्यादृष्टि होकर नरक निगोद की हवा खाते रहते हैं। श्री भगवतीजी सूत्र के आठवें शतक के दसवें उद्देश में लिखा कि "जिसे उत्कृष्ट ज्ञाना-राधना हो, उसे दर्शन और चारित्र आराधना उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य भी हो सकती है और जघन्य ज्ञानाराधक की दर्शन और चारित्र की आराधना उत्कृष्ट भी हो सकती है"।

षड्द्रव्य और नौतत्त्वों का ज्ञान भी श्रद्धा से ही संबंध रखता है और यह श्रद्धा जिनेश्वरों में पूर्ण विश्वास हो तभी हो सकती है, अन्यथा नहीं। क्योंकि धर्मास्ति, अधर्मास्ति काय, निगोद के जीव, परमाणुपुद्गल, आस्रव, संवर, निर्जरा, मोक्ष आदि वस्तुएं, जिनेश्वरों पर श्रद्धा रखनें से ही सच्ची माननें में आती हैं, अन्यथा नहीं। इसलिये जिनेश्वरों पर श्रद्धा होना तो सम्यग्दृष्टि के लिये अनिवार्य है।

२६ प्रश्न—जिनेश्वरों के त्याग, उनकी उत्कृष्ट तपस्या, उनकी अपूर्व वीतरागता और महान् आत्मबल पर विश्वास

हो सकता है, किंतु एक मात्र सर्वज्ञ सर्वदर्शी नहीं माना जाय तो क्या हर्ज है ?

उत्तर-यदि जिनेश्वरों को सर्वज्ञ सर्वदर्शी नहीं माना जाय, तो सम्यग्दृष्टि से त्यागपत्र देना ही माना जायगा। जो मिथ्यादृष्टि होते हैं, वेही जिनेश्वरों की सर्वज्ञता से इंकार करते हैं। ऐसा करके वे समस्त तत्त्वज्ञान को ही अमान्य जाहिर करते हैं, क्योंकि जिसने सर्वज्ञता नहीं मानी, वह धर्मास्तिकायादि द्रव्य, स्थावरकाय और निगोद के जीव, नर्क,स्वर्ग, मोक्ष आदि किस आधार से मानेगा ? वह इनसे भी इन्कार करेगा ही। और इस प्रकार जैन तत्त्वज्ञान से ही असहयोगी हो जायगा।

विश्वमें ज्ञेय वस्तुएं अनन्त-अनन्तानन्त हैं। छद्मस्थ जीव संख्यात वस्तुओं का प्रत्यक्ष ज्ञान कर सकता है। शेष अनन्तान्नत वस्तुओं के विषय में वह अज्ञानी है। प्रत्येक छद्मस्थ जीव अनन्तानन्त ज्ञेय वस्तुओं के विषय में अज्ञानी है। जब एक मनुष्य में अनन्तानन्त अज्ञान माना जा सकता है, तो किसी एक में अनन्तानन्त ज्ञान क्यों नहीं माना जाता ?

अनपढ़ जीव अनन्त हैं। पढ़ेलिखे मनुष्य थोड़े ही होते हैं। उनमें भी साधारण पढ़े लिखे अधिक और विशिष्ठ विद्वान थोड़े। उनमें भी ज्ञान की तरतमता होती है। कोई किसी एक विषय में अधिक अनुभव रखता है, तो दूसरे विषय में थोड़ा और बाकी विषयों में अनभिज्ञ। इस प्रकार करोड़ों

मनुष्यों में अधिक विषयों को गहराई के साथ जानने वाले इतने थोड़े होंगे कि जो अंगुलियों पर ही गिने जा सकें। जब-तक ग्रामोफोन, टेलिग्राफ, रेडियो, हवाईजहाज, अणुवम, आदि आश्चर्य जनक वस्तुओं का आविष्कार नहीं हुआ था, तबतक दुनिया के सभी मनुष्य इन वस्तुओं के ज्ञान से अनभिज्ञ ही थे। एक भी मनुष्य इन चीजों को नही जानता था। सबसे पहले इन वस्तुओं का ज्ञान एक ही व्यक्ति को हुआ। वर्त्तमान संसार भर में एक मात्र वही इसका ज्ञाता था और उसीने आविष्कार करके संसार को आश्चर्य में डाल दिया। यद्यपि जैन मान्यतानुसार इस अनादि संसार में ऐसे आविष्कार अनन्तवार हो चुके, तथापि ऐतिहासिक दृष्टि से ये वस्तुएं वर्त्तमान युगों में विलकुल नयी और सर्व प्रथम वार ही मानी जायगी। अभी ऐसी कितनी ही वस्तुएं छिपी हुई हैं जो दुनिया के किसी भी मनुष्य की दृष्टि में नहीं हैं। जब वे प्रकाश में आवेगी तब संसार चकित होकर उसको सर्वथा नयी मानने लगेगा। इसी प्रकार सर्वज्ञता के विषय में भी जानना चाहिये। संसार के समस्त द्रव्यों, उनके गुण पर्यायों के ज्ञाता दृष्टा, सर्वज्ञ सर्वदर्शी, किसी समय इस संसार में अवश्य थे और हजारों वर्ष बाद भी अवश्य होंगे। प्रत्यक्ष को ही सब कुछ और सर्वथा सत्य मानकर अप्रत्यक्ष वस्तु के लिये सर्वथा इनकार करनेवाले सुज्ञ नहीं है। प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानने वालों के लिये उपर्युक्त अद्‌भूत वस्तुएं आविष्कार के पूर्व असत्य मानी जाती थीं। वे ही निर्माण के बाद सत्य मानी जाने लगीं। इसी प्रकार आगे

भी होगा। अतएव प्रभु की सर्वज्ञता सर्वदर्शिता से इन्कार करना समझदारी नहीं है–मिथ्यादृष्टि का परिणाम है।

३० प्रश्न–यदि तीर्थंकरों की सर्वज्ञता मानली जाय, किंतु षट्द्रव्य और नौतत्त्वादि में से किसी एकाध तत्व अथवा उसके किसी हिस्से को नहीं माना जाय, तो मिथ्यात्त्व नहीं लगना चाहिये। जिस प्रकार पूर्ण रूप से चारित्र नहीं पाल सकने वाले को कुछ कम पालने पर देश चारित्री कहा जाताहै, उसी प्रकार देश सम्यक्त्वी भी मानना चाहिये ?

उत्तर–सम्यक्त्व तो पूर्ण रूपेण होती है, देश रूप में नहीं। क्योंकि जहां किसी एक वस्तु के लिये इन्कार हुआ, वहां मिथ्यात्त्व का प्रवेश हो ही गया। श्री प्रज्ञापना सूत्र के बावीसवें पद में लिखा कि मिथ्यात्त्व सब द्रव्यों से संबंध रखता है। श्री जिन वचनों में किंचित् मात्र भी सन्देह किया, तो मिथ्यत्व का भाजन हो जाता है। व्रत–चारित्र की बात दूसरी है। वह शक्ति से सम्बन्ध रखता है। हृदय से चाहते हुये भी शक्ति की न्यूनता से देश चारित्र होता है, तथा चारित्र के गुणस्थान भी अलग अलग हैं। सम्यक्त्व के लिये तो एक मात्र चौथा गुण-स्थान ही है। इसमें देश और सर्व का विभाग नहीं है और श्रद्धा का विषय होने के कारण चारित्र के समान शक्ति का प्रश्न भी उपस्थित नहीं होता। जमाली का चारित्र उत्तम था, किंतु एक विषय में अश्रद्धा हो जाने से वह विराधक हुआ–मिथ्यात्त्वी कहलाया। इसलिये श्रद्धा तो पूर्ण रूपेण शुद्ध होनी चाहिये। यदि कोई बात समझ में नहीं आवे तो अपनी बुद्धि

की न्यूनता मानकर "तमेव सच्चं णिसंकं जं जिणेहिं पवेइयं," कहकर श्रद्धा का बल कायम रखना चाहिये। अश्रद्धालु बनकर मिथ्यात्व को नहीं अपनाना चाहिये।

[सम्यक्त्व के ६७ अंगों में से प्रथम अंग का वर्णन पृ. २१ में हुआ है। अब दूसरे से लगाकर शेष सभी अंगों का निरूपण किया जाता है।]

२ सुदृष्ट परमार्थ सेवन—जिन्होंने परमार्थ = मोक्षमार्ग को भली प्रकार से जान लिया है और अनुभव किया है, ऐसे पंच परमेष्ठि की सेवा-भक्ति करना। मुख्यतः सुपात्र को १४ प्रकार का दान देना, शास्त्र श्रवण और स्वाध्याय करना, वन्दना नमस्कार करना और यथाशक्ति तन, मन और धन से आज्ञा का पालन करना, परम = उत्कृष्ट अर्थ की सेवा करना है।

अरिहन्त भगवान् अपने इस क्षेत्र में नहीं होने से हमारे लिए परोक्ष हैं, और सिद्ध भगवान् तो सभी छद्मस्थों के लिए परोक्ष ही हैं। अतएव इन परोक्ष परमेष्ठि का श्रद्धान् करना, भक्ति पूर्वक वन्दन और स्तुति करना और इनकी आज्ञा का पालन करना। आचार्य उपाध्याय और साधु, साध्वी की सेवा का लाभ लेना, विनय वैयावृत्य करना।

शास्त्र श्रवण—सूत्र को एकाग्रता पूर्वक सुनना, वांचन करना, समझ में नहीं आवे तो पूछना, बारम्बार मनन करना और श्रद्धान करके यथा शक्ति आचरण करना, किन्तु स्मशान

वैराग्य की तरह एक कान से सुनकर दूसरे कान से निकाल नहीं देना चाहिए। संसार सम्बन्धी प्रत्येक कार्य में इतनी सावधानी रखना कि जिसमें आत्मा पर गाढ़ कर्मों का बन्ध नहीं हो। अपने आचार विचार और वचनोच्चार में सदैव यह ध्यान रखना चाहिए कि जिससे अपने से सम्यग्दर्शन का घात नहीं हो जाय। बोलचाल आदि में सम्यग्दर्शन के महत्व को आत्म समक्ष रखना चाहिए।

सुपात्र दान अत्यन्त भक्ति—भाव से और संयम निर्जरा के हेतु पूर्वक देना चाहिए। इसमें किसी प्रकार के भौतिक सुख की इच्छा नहीं रखनी चाहिए। शुद्ध मन वचन और काया के योग पूर्वक निर्दोष, अचित्त, पथ्य और ज्ञान, दर्शन तथा चारित्र में सहायक होनेवाला आहार पानी आदि प्रति—लाभना चाहिए। दान निर्ग्रंथों की आवश्यकतानुसार शुद्ध हो वह देना चाहिए। इस प्रकार परमार्थ सेवन का यह दूसरा प्रकार है।

३ व्यापन्न दर्शन वर्जन—जिसने प्राप्त सम्यग्दर्शन का वमन कर दिया—छोड़ दिया, अर्थात् जिन धर्म से पतित हो गया और मिथ्यात्व को अपना लिया है उसका—उसकी संगति का त्याग करना चाहिए।

यहां यह बात स्पष्ट होती है कि जैनेत्तर मतों की उत्पत्ति, जैन दर्शन भ्रष्टता में से होती है। इस प्रकार सम्य-क्त्व का वमन करने वालों में थोड़ा बहुत ज्ञान तो रहता ही है, किन्तु पतित होने के कुछ न कुछ कारण मिल ही जाते हैं।

जैसे कि आचार का पालन नहीं हो सकना। दीक्षा वय अथवा श्रुत पर्याय में अन्य साधु आदि से बड़ा होने पर भी उच्च पद नहीं मिलना। सत्कार सम्मान नहीं होना। मन में भोग लालसा का जाग्रत हो जाना। तीव्र कषाय एवं मिथ्यात्व का उदय होना और अपनी भूल का पोषण करने के लिए कल्पित सूत्रों अथवा ग्रन्थों को बना लेना, इत्यादि अनेक कारण होते हैं।

इस प्रकार सम्यक्त्व से गिरे हुए व्यक्ति अपने पूर्व के अभ्यास में कुछ हेर फेर करके नवीन शास्त्रों की रचना करते हैं और नये मत का प्रचार करके अपना अनुयायी वर्ग बना लेते हैं। लोक रुचि भेड़ प्रवाह के समान होती है। कोई अज्ञानता से, कोई स्वार्थ से, कोई कुछ संबंध होने से या फिर द्वेष पोषण के लिए ही अथवा आजीविकादि लालच के वश होकर नये मत के अनुयायी बन जाते हैं। तात्पर्य यह है कि विशुद्ध जिन धर्म की उत्पत्ति, अनादिकाल से तीर्थंकरों से होती है और जैनेत्तर मत की पडवाइयों से होती है। इनके स्वरूप में भी विभिन्नता होती है।

४ कुदर्शन वर्जन–मिथ्यात्व का और धर्म के निमित्त से मिथ्यात्वी के परिचय का त्याग करना चाहिए। २९ प्रकार के पाप-श्रुत का भी धर्म के निमित्त त्याग करना चाहिए। मिथ्याश्रुत का त्याग करना चाहिए। मिथ्याश्रुत वालों में से कितनों ही ने केवलज्ञानियों के ज्ञान की कोई कोई बात मान्य की है। उस मिलती हुई अमुक बात से आकर्षित होकर उनकी दूसरी बनावटी बातें और सिद्धांत पढ़ने और सुनने

भ्रम उत्पन्न हो जाता है। इसलिए जैन शास्त्रों का पुख्त ज्ञान हुए बिना दूसरों के साहित्य को नहीं पढ़ना, सुनना चाहिए।

जो जैन धर्म एवं सिद्धांत में कुशल हो गये हैं, जिनमें मिथ्यात्वियों के श्रुत से ही उन्हें निरुत्तर करके उन्हें जैन बनाने की शक्ति है, उन्हीं को जैनेत्तर शास्त्र पढ़ना चाहिए। जैनेतर शास्त्रों में कहीं कहीं जिनागमों से मिलती बात भी आ सकती है, किन्तु उन्हीं में दूसरे स्थानों पर भयङ्कर भूलें भी होती है। ये भूलें उन अच्छी बानों का प्रभाव भी नष्ट कर देती हैं। इसलिए प्रारम्भ में शुद्ध जिनागमों का ही अवलम्बन करना चाहिए। २५ मिथ्यात्व और ३६३ पाखण्ड मतों का वर्णन, मिथ्यात्व का नाश करके सम्यक्त्व प्राप्त करने के विषय में आया है। इनका वर्णन उन स्थानों से जान लेना चाहिए।

तीन लिंग

सम्यक्त्वी के लिए तीन लिंग होते हैं, जिससे यह जाना जा सकता है कि अमुक व्यवहार सम्यक्त्वी है।

१ प्रवचन प्रेम-धार्मिक ज्ञान सुनने, पढ़ने, पुनरावर्त्तन करने, पूछने और विचार करने की तीव्र जिज्ञासा होना, उसमें एकाग्रता होना, समझ कर धारण करना-जिससे विस्मृत्ति नहीं हो। जिस प्रकार एक युवती, गान तथा नृत्य कला में कुशल है। उस सुन्दरी के मधुर गायन और मोहक नृत्य में, एक धनवान, निरोगी और युवक पुरुष की रुचि और तन्मयता होती है। उससे भी हजार गुणी अधिक तन्मयता धर्म ज्ञान प्राप्त करने में हो।

२ धर्मराग—आत्मा के शुद्ध स्वरूप को जानकर उसकी प्राप्ति के लिए रागद्वेष रहित होकर प्रयत्न करे। सांसारिक सुख-भोग प्राप्ति, या धन पुत्रादि प्राप्ति की इच्छा के बिना, आत्मोपयोग की जाग्रति के साथ तन, मन, धन और वचन से धर्म आराधना की इच्छा होना, व्रत, तप, जप, नियम, परहित आदि शुभ कार्य करने की तीव्र इच्छा होना, धर्मराग रूप दूसरा लिंग है। जिस प्रकार जंगल में भटकते हुए गरीब और तीन दिन के भूखे व्यक्ति को मिष्टान्न देखकर खाने की जितनी उत्कृष्ट इच्छा होती है, उससे भी हजार गुणी अधिक इच्छा धर्म करने की हो, उसे धर्म राग कहते हैं।

३—देव गुरु की वैयावृत्य—अरिहंत और सिद्ध भगवान् के गुणों का स्मरण करके यथाशक्ति अनुभव में उतारना, उनके स्वरूप में लीन होना, वचन से स्तुति करना, गुणग्राम करना और उनको वन्दना नमस्कार करना। आचार्य, उपाध्याय और साधु साध्वी की गुणस्थान की, योग्यता के नियम के अनुसार स्तुति, भक्ति, गुणग्राम, सुपात्रदानादि करना। वैयावृत्य का हेतु गुणी के गुणों को अपने में उतारने का होना चाहिए।

यदि कोई सामायिक करे, साधुजी का धर्मोपदेश सुने और विनय पूर्वक सुपात्र दान दे, तो इस बाह्य क्रिया से भी वह सम्यक्त्वी माना जाता है। ये तीन लिंग बाह्य परिचय के लिए हैं।

भ्रम उत्पन्न हो जाता है। इसलिए जैन शास्त्रों का पुख्त ज्ञा
हुए बिना दूसरों के साहित्य को नहीं पढ़ना, सुनना चाहिए

जो जैन धर्म एवं सिद्धांत में कुशल हो गये हैं, जिन
मिथ्यात्वियों के श्रुत से ही उन्हें निरुत्तर करके उन्हें जैन
बनाने की शक्ति है, उन्हीं को जैनेत्तर शास्त्र पढ़ना चाहिए।
जैनेतर शास्त्रों में कहीं कहीं जिनागमों से मिलती बात भी
आ सकती है, किन्तु उन्हीं में दूसरे स्थानों पर भयङ्कर भूलें
भी होती है। ये भूलें उन अच्छी बातों का प्रभाव भी नष्ट
कर देती हैं। इसलिए प्रारम्भ में शुद्ध जिनागमों का ही अव-
लम्बन करना चाहिए। २५ मिथ्यात्व और ३६३ पाखण्ड मतों
का वर्णन, मिथ्यात्व का नाश करके सम्यक्त्व प्राप्त करने के विषय
में आया है। इनका वर्णन उन स्थानों से जान लेना चाहिए।

तीन लिंग

सम्यक्त्वी के लिए तीन लिंग होते हैं, जिससे यह जाना
जा सकता है कि अमुक व्यवहार सम्यक्त्वी है।

१ प्रवचन प्रेम-धार्मिक ज्ञान सुनने, पढ़ने, पुनरावर्त्तन
करने, पूछने और विचार करने की तीव्र जिज्ञासा होना, उसमें
एकाग्रता होना, समझ कर धारण करना-जिससे विस्मृति
नहीं हो। जिस प्रकार एक युवती, गान तथा नृत्य कला में
कुशल है। उस सुन्दरी के मधुर गायन और मोहक नृत्य में,
एक धनवान, निरोगी और युवक पुरुष की रुचि और तन्मयता
होती है। उससे भी हजार गुणी अधिक तन्मयता धर्म ज्ञान
प्राप्त करने में हो।

२ धर्मराग–आत्मा के शुद्ध स्वरूप को जानकर उसकी प्राप्ति के लिए रागद्वेष रहित होकर प्रयत्न करे। सांसारिक सुख–भोग प्राप्ति, या धन पुत्रादि प्राप्ति की इच्छा के बिना, आत्मोपयोग की जाग्रति के साथ तन, मन, धन और वचन से धर्म आराधना की इच्छा होना, व्रत, तप, जप, नियम, परहित आदि शुभ कार्य करने की तीव्र इच्छा होना, धर्मराग रूप दूसरा लिंग है। जिस प्रकार जंगल में भटकते हुए गरीब और तीन दिन के भूखे व्यक्ति को मिष्टान्न देखकर खाने की जितनी उत्कृष्ट इच्छा होती है, उससे भी हजार गुणी अधिक इच्छा धर्म करने की हो, उसे धर्म राग कहते हैं।

३–देव गुरु की वैयावृत्य–अरिहंत और सिद्ध भगवान् के गुणों का स्मरण करके यथाशक्ति अनुभव में उतारना, उनके स्वरूप में लीन होना, वचन से स्तुति करना, गुणग्राम करना और उनको वन्दना नमस्कार करना। आचार्य, उपाध्याय और साधु साध्वी की गुणस्थान की, योग्यता के नियम के अनुसार स्तुति, भक्ति, गुणग्राम, सुपात्रदानादि करना। वैयावृत्य का हेतु गुणी के गुणों को अपने में उतारने का होना चाहिए।

यदि कोई सामायिक करे, साधुजी का धर्मोपदेश सुने और विनय पूर्वक सुपात्र दान दे, तो इस बाह्य क्रिया से भी वह सम्यक्त्वी माना जाता है। ये तीन लिंग बाह्य परिचय के लिए हैं।

दस प्रकार का विनय दर्शन

१–५–पाँच परमेष्ठी ६ श्रुत धर्म ७ चारित्र धर्म ८ दस प्रकार के यति धर्म ९ संघ १० साधर्मी, सम्यग्दृष्टि, इन दस का विनय करना। निर्जरा के हेतु से ही विनय होना चाहिए।

तीन शुद्धि

मन, वचन, और काया की शुद्धि। मोहनीय कर्म की २८ प्रकृति को जीतने का प्रयत्न करने से मन शुद्ध होता है। भाषा समिति के पालन से वचन शुद्ध होता है और दर्शन विनय वैयावृत्य आदि में शरीर की प्रवृति होने से काया की शुद्धि होती है।

पांच दूषण त्याग

सम्यक्त्व को दूषित करने वाले पांच अतिचार हैं, जिनसे सम्यक्त्व का नाश हो जाता है। इन पाँच दोषों का त्याग करना चाहिए।

१ शंका—शंका होने का कारण मतभेद है। एक दूसरे के मतभेद से शंका की उत्पत्ति होती है। परस्पर विरोधी लगने वाली बातों का समन्वय नहीं होने पर मन में ऐसा विचार उत्पन्न हो जाता है कि 'इन दो बातों में सच्ची बात कौनसी है'? स्याद्वाद ज्ञान से समन्वय होता है। समन्वय करने से जो अर्थ निकले वह मोक्षमार्ग का विरोधी नहीं होना

चाहिए। यदि इतनी समझ आजाय तो सम्यग् परिणति चालू रहती है। स्याद्वाद अपेक्षावाद है। स्याद्वाद, की दृष्टि से जो बात कही जाती है, वह मुख्य रहती है और दूसरी बातें गौण हो जाती हैं। उन बातों का निषेध नहीं होता। जब अपेक्षा का उपयोग वस्तु के गुण बताने के लिए होता है, तब वह अपेक्षा 'अंश' का रूप धारण कर लेती है, अर्थात् 'नयवाद' उत्पन्न हो जाता है। सभी नय, एक वस्तु की भिन्न भिन्न विशेषताएँ बताते हैं, किन्तु वे सभी अवस्थाएँ-विशेषताएँ उस वस्तु में होनी ही चाहिए, तभी वह प्रमाण कहा जाता है। यदि सभी नयों की बातें आपस में मेल नहीं खाती हों, तो वह नय 'सुनय' नहीं, किन्तु 'दुर्नय' कहा जाता है। दुर्नय से एकान्तवाद की उत्पत्ति होती है, मतभेद होते हैं और इससे शंका की उत्पत्ति होती है।

स्याद्वाद, नय, प्रमाण आदि समस्त ज्ञान यथार्थ रूप में समझ लेना सभी के लिए सहज नहीं है। इसलिए शुद्ध देव गुरु और धर्म में श्रद्धा रक्खी जाय तभी धर्म (मोक्षमार्ग) में प्रवेश हो सकता है।

अरिहंत को शुद्ध देव के रूप में मानना चाहिए। वे सर्वज्ञ सर्वदर्शी हैं। इसलिए उनसे किसी भी प्रकार की भूल नहीं हो सकती। वे रागद्वेष से रहित हैं, इसलिए वे असत्य भी नहीं बोलते। उनके असत्य बोलने का कोई कारण नहीं है। इसलिए उनके वचन स्वीकार करने योग्य ही हैं। उनके प्रवचन अभी भी आगमों (सूत्रों) में मौजूद हैं और वह

'वीतराग सर्वज्ञ की वाणी है' ऐसा सिद्ध होता है। इन सूत्रों के अनुसार चलने वाले और सूत्रों के शुद्ध अर्थ बताने वाले गुरु पर विश्वास रखे बिना आगे प्रगति नहीं हो सकती। इन सूत्रों के शुद्ध अर्थ बताने वाले गुरु पर विश्वास रखे बिना आगे प्रगति नहीं हो सकती। इन सूत्रों में जो मोक्षमार्ग बताया है, वही शुद्ध साधन धर्म है–ऐसी श्रद्धा रखनी चाहिए।

यदि किसी ने एकाध सूत्र में कुछ परिवर्तन कर दिया अथवा छपने में भूल हो गई, तो विवेक बुद्धि से विचार करना चाहिए। जैनधर्म के मूल तत्त्व संवर, निर्जरा, मोक्ष, अहिंसा, संयम, और तप से कोई विरोध होता है,तो समझ लेना चाहिए कि इसमें परिवर्त्तन किया गया है। यदि परीक्षा करने की बुद्धि है, तो सम्यक् परिणति चालू रहती है। यदि इतनी बुद्धि नहीं है, या इस विषय में आचार्यों में मतभेद हो और उसका स्प–ष्टीकरण सूत्र में नहीं मिल सकता हो (क्योंकि आगम ज्ञान बहुतसा विच्छेद हो चुका है) और दोनों मतों में से कोई एक भी अहिंसा, संयम और तप का विरोध नहीं करता हो, तो 'तत्त्व केवली गम्य' करके तटस्थ रहना चाहिए। यदि ऐसा नहीं करे और किसी एक पक्ष को पकड़ ले और वह पक्ष केवलज्ञानी के ज्ञान से भिन्न हो, तो असम्यग्दृष्टि हो जाता है।

कितनी ही बातें ऐसी हैं कि जिनका निर्णय केवलज्ञान से ही हो सकता है। अपने पास तो सिर्फ मति और श्रुति

ज्ञान ही यत्किंचित् है। इससे अपन बहुतसी बातों का निर्णय नहीं कर सकते। यदि हम विवेक भूल कर गलत बात पकड़ बैठे, तो मिथ्यात्व में जा गिरते हैं। इसलिए शंका का निवारण श्रुत ज्ञान से करना चाहिए। यदि इससे भी समाधान नहीं हो, तो "तत्त्व केवली गम्य," "तमेव सच्चं णिसंकं जं जिणेहिं पवेइयं," "सूत्र में कहा वह सत्य है, मेरी बुद्धि की मलिनता है,"–इस प्रकार सोचकर शांति रखेंगे, तो अवश्य ही आगे के भव में केवली भगवान् के पास से निर्णय प्राप्त कर शुद्धतर बन सकेंगे।

व्यवहार से शुद्ध देव अरिहन्त, शुद्ध गुरु निग्रन्थ और शुद्ध धर्म केवली भगवान् का कहा हुआ है। इनमें शंका नहीं करनी चाहिए। निश्चय से ज्ञान, दर्शन और सुख रूप आत्मा ही है। यह आत्मा ही निश्चय से देव गुरु और धर्म स्वरूप है। इसमें शंका नहीं रखनी चाहिए।

२ कांक्षा–(१) कुदेव, कुगुरु, कुधर्म एवं मिथ्यात्व की इच्छा करना कांक्षा दोष है। धर्म के लिये तो इनकी इच्छा करना ही नहीं, किन्तु इहलौकिक सुख के लिए भी इनकी इच्छा नहीं करनी चाहिए। (२) शुद्ध देव, सद्गुरु और सद्धर्म की आराधना, इहलौकिक अथवा पारलौकिक पौद्गलिक सुख-भोग की इच्छा पूर्वक करना भी कांक्षा दोष है। यदि ऐसी इच्छा उग्र होकर निदान का रूप ले ले, तो वह सम्यक्त्व से भ्रष्ट कर मिथ्यात्व में डाल देती है। इच्छित वस्तु की प्राप्ति

नहीं हो वहाँ तक सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं हो सकती। (३) आत्मा से भिन्न वस्तुएँ (नौ प्रकार के द्रव्य और कषायादि भाव परिग्रह) जितनी भी हैं, वे आत्मा की नहीं है। ऐसा पौद्गलिक वस्तुओं को अभ्यन्तर भाव से अपनी मानना भी कांक्षा दोष है।

३ विचिकित्सा—वि = विशेष प्रकार से, विविध भांति से+ चिकित्सा = परीक्षा, अर्थात् बाह्य दृष्टि से, भौतिक, अज्ञान युक्त बुद्धि से या फिर कुतर्क से धर्म की परीक्षा करना—यह तीसरा दोष है। सम्यग्भाव परिणति से विपरीत जितने भी अर्थ इस शब्द के होते हों और उनसे सम्यक्त्व को दूषण लगता हो, वे सभी अर्थ इस दोष के अन्तर्गत भेदाभेद रूप से रहते हैं। जैसे कि—

अमुक क्रिया अच्छी है और अमुक अच्छी नहीं है। कोई कहता है कि ज्ञान का फल अधिक है, तो कोई कहता है कि दर्शन का फल अधिक है। कोई चारित्र को ही महत्व देते हैं तो कोई तप को विशेषता प्रदान करते हैं। इनके अवान्तर भेद में से अमुक भेद को अधिक महत्व देकर दूसरों को गौण कर देते हैं। इस प्रकार के तर्क वितर्क करना उचित नहीं है, क्योंकि सर्वोत्कृष्ट स्वरूप में सभी गुण एक साथ हो तभी मुक्ति होती है।

"अमुक मनुष्य का ज्ञान शुष्क है, अमुक क्रिया—जड़ है"। इस प्रकार के विचार से निन्दा का दोष उत्पन्न होता है।

मैं सर्वज्ञ नहीं हूँ, मुझे इस प्रकार का निर्णय देने का अधिकार नहीं है, ऐसा सोचकर मध्यस्थ होना ठीक है।

"इतर धर्मावलम्बियों में भी अहिंसा धर्म है, तो वे मोक्ष क्यों नहीं पा सकते" ? इस प्रकार का तर्क भी गलत है, क्योंकि स्वहिंसा, परहिंसा, द्रव्य हिंसा, भावहिंसा आदि अनेक सूक्ष्म भेदों का जिन्हें ज्ञान नहीं, जीव अजीव की पहिचान नहीं, हेयोपादेय का विवेक नहीं—ऐसे जीव, अहिंसा के पूर्ण पालक कैसे हो सकते हैं।

"क्षमा सरलतादि गुण अन्य मतावलम्बियों में भी होते हैं, तो उन्हें धर्मी क्यों नहीं माना जाय" ? इस प्रकार का तर्क भी समझ दोष का कारण है। क्योंकि वे शुद्ध ध्येय और शुद्ध मार्ग को नहीं जानते हैं, इसलिए उनके क्षमादि गुण यति धर्म के दस भेदों में नहीं आ सकते। एक तत्त्व की गलती से पतन होते देर नहीं लगती। इस विषय में 'जमदग्नि' ऋषि का उदाहरण स्पष्ट है।

मिथ्यात्वी के गुण सर्वथा निष्फल नहीं होते, वे गुण उन्हें 'यथाप्रवृत्तिकरण' तक ले आते हैं, किन्तु सम्यक्त्व के विना चारित्र के रूप में नहीं होते। यदि कोई कहे कि "तुम्हारे सूत्र तो साम्प्रदायिक हैं, उनमें अन्य मतावलम्बियों के क्षमादि गुणों को चारित्र धर्म में नहीं माना, तो इससे क्या हुआ, क्या उनके गुण उन्हें सुफल नहीं देंगे" ? इसका उत्तर यह है कि 'तुम प्रवचन की आराधना करने को आये हो या अपनी बुद्धि से धर्म के रूप की उत्पत्ति करना चाहते हो ? इस प्रकार तर्क

से धर्म का स्वरूप बनानें वाले के लिए सर्वज्ञ की आज्ञा कार्य साधक नहीं होती।

यदि बुद्धि से भी विचार किया जाय तो प्रत्यक्ष में भी लक्ष्य शुद्धि के बिना प्रयत्न व्यर्थ जाता हुआ दिखाई देता है। एक व्यक्ति सबल सशक्त और योद्धा है, उसके बंदूक तोप आदि साधन भी उच्च कोटि के हैं, किन्तु उसका लक्ष्य ठीक नहीं जमता, कुछ तिर्छा-अगल बगल निकल जाता है, तो उसकी शक्ति, साहस और साधन सभी बेकार जाते हैं। वह लक्ष वेध नहीं कर सकता। इसके विपरीत एक कमजोर लड़का मामूली धनुष बाण से लक्ष वेधना चाहता है और उसकी दृष्टि लक्ष पर ठीक जम गई है-इधर उधर नहीं जाती है, तो वह कभी भी अपनें लक्ष को वेध लेगा। कमजोर व्यक्ति धीरे धीरे चलकर भी इच्छित स्थान पर पहुँच सकता है-यदि उसका लक्ष ठींक है। इसके विपरीत सशक्त और तेज दौड़ने वाला, हवाई जहाज की रफ्तार वाला, यदि शीघ्र गति से दौड़े, पर उसका लक्ष ठीक नहीं है, तो वह इच्छित स्थान पर नहीं पहुँच कर अनन्त संसार में भटक जायगा। यह है शुद्ध दृष्टि का महत्व।

'पहले जमाने के साधु किस प्रकार पढ़ते थे, क्या पढ़ते थे, ये बातें उस जमाने की हैं। वर्त्तमान समय में जमाने के अनुसार पढ़ना चाहिए,' इस प्रकार कहने वाले को समझना चाहिए कि-'मोक्ष का मार्ग जो पहले था वही अब भी है,

उसमें कोई फर्क नहीं हुआ, न होगा ही। जिन चारित्र के पालने से पहले मोक्ष के अधिकारी होते थे, उसी से अब भी मोक्ष की साधना होती है और समस्त कर्मों के नष्ट होने पर मुक्ति मिलती है। किये हुए कर्मों का विपाक उदय अथवा तप से उदीरणा करके भुगतना पड़ेगा।

"कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि" कहा जाता है, फिर इसका क्या विश्वास कि हमारे प्रयत्न करने से मुक्ति होगी ही"—इस प्रकार की शंका नहीं लानी चाहिए और 'कडमाणे कडे' को सोचकर मोक्ष की साधना शुरू कर देनी चाहिए। तुम्हारी साधना कभी भी सफल होगी। जिस समय तुम्हारी साधना सफल होगी, उस समय मुक्ति मिल ही जायगी। की हुई साधना कभी व्यर्थ नहीं जाती। इसलिए आत्म श्रद्धा रखकर साधना करते रहना चाहिए। शीघ्र ही मोक्ष प्राप्त करने की अभिलाषा वाले को साधना का क्रम निरन्तर चालू ही रखना चाहिए। बीच में नहीं छोड़ना चाहिए।

मोक्ष मार्ग की आराधना में ग्लानि—खेद नहीं होना चाहिए। फल के प्रति सन्देह भी नहीं होना चाहिए। खेद से थाक लगता है और थाक से प्रमाद की उत्पत्ति होती है। फिर प्रमाद से शंका, शंका से संसार का आकर्षण होता है। फिर पतन हो जाता है।

मुनिजन स्नान नहीं करे और उनके वस्त्र मैले हो जाँय, तो उन्हें देखकर दुगंच्छा—घृणा करने से भी यह दोष लगता है और सम्यक्त्व से पतन भी हो जाता है, क्योंकि [illegible]

घृणा करने वाले की दृष्टि में साधु की साधुता का कोई महत्त्व नहीं है। साधु का आचार अहिंसा और निर्ममत्व युक्त है। शरीर और सफाई की दृष्टि साधुता में बाधक है, यह समझ कर इस दोष से बचना चाहिए।

निदान (धर्माराधना करके उसके फल स्वरूप पौद्-गलिक सुख, उच्च पदादि माँग कर अपने धर्म के फल को बेच देना 'निदान' कहलाता है) से सम्यक्त्व से पतन होता है। इस भेद में अनेक दोषों का समावेश होता है। दोषों से करणी के फल में सन्देह होता है, दूसरी ओर पौद्गलिक आसक्ति बढ़ती है और साधना छट जाती है। पुद्गलासक्ति साधक को संसार में घसीट ले जाती है। इसलिए करणी के फल में सन्देह हो ऐसे विचार ही नहीं करना चाहिए।

४ परपाखंड प्रशंसा—पर = अनात्मक, आत्मगुणघातक पाखण्ड = मिथ्यात्व की प्ररूपणा। मिथ्याभाव और मिथ्या करणी, जिससे आत्मा अपना शुद्ध स्वरूप प्राप्त करनें में असमर्थ रहता है। ऐसे मिथ्यात्व तथा इहलोक या परलोक के सुख के लिए मिथ्यात्व की करणी करनें वाले विधान, (पंचाग्नि तापादि) की प्रशंसा करना, यह महान् दूषण है। इससे मिथ्यात्व और मिथ्याचार का पोषण होता है और इससे वे मिथ्यात्व में अधिक दृढ़ होकर संसार में डूबते जाते हैं। इनका निमित्त प्रशंसा करने वाला बनता है और उसकी आत्मा को मिथ्यात्व के पुद्गल बंधते हैं। इसलिए इस दोष का त्याग करना चाहिए।

अपेक्षा पूर्वक यहाँ यह अर्थ भी होता है कि 'दूसरों के पाखण्ड की प्रशंसा नहीं करना, किन्तु यह अर्थ संगत नहीं लगता, क्योंकि दूसरे के पाखण्ड की प्रशंसा करने वाला तो अज्ञानता के कारण सम्यक्त्व परिणति वाला होना असंभव है और यह दूषण तो सम्यक्त्वी के लिए है। यदि दूसरे के पाखंड की प्रशंसा करने की छूट मानली जाय, तो अनेक प्रकार की बुराइयें उत्पन्न हो जाती हैं। इसलिए इस प्रकार की छूट सर्वज्ञ नहीं देते हैं। यहाँ इस प्रकार के भाव दिखाई देते हैं कि मिथ्याभाव अथवा मिथ्या करणी की प्रशंसा उस प्रकार नहीं करना कि जिससे आत्मा के सम्यक्त्व गुण की घात हो जाय। परमार्थ दृष्टि से अनात्मिक—पौद्गलिक भावों की प्रशंसा करना भी इस दोष में शुमार है।

५ परपाखंड संस्तव—अनात्मिक भावों में लेजानें वाले मिथ्यातत्वों का परिचय—संगति करना। मिथ्यात्वियों की धर्म निमित्त संगति करने से यह दोष लगता है। इस लोक अथवा पर लोक के सुख के लिए मिथ्यात्व की कोई भी क्रिया करना इस दोष में शुमार होता है। जैसे हरि हरादि देवों तथा पीर पैगम्बरादि की आराधना बहुमान आदि करना, अन्य बावा जोगी आदि की वन्दनादि करना—ये सब इस दोष में गिने जाते हैं। ऐसे लौकिकमिथ्यात्व का त्याग करना चाहिए।

जैन सिद्धांत में कुशलता प्राप्त हुए बिना मिथ्यात्वियों के तत्वों का अभ्यास करनें से भी यह दूषण लगता है।

जिसकी सम्यग् परिणती स्थिर होती है, वही मिथ्यातत्त्वों से वासित भावुक जनता में से, मिथ्यात्व के रोग को दूर करने के लिए मिथ्या शास्त्रों का अभ्यास कर सकता है।

सम्यक्त्व में दोष लगाने के असंख्य अध्यवसाय स्थान हैं। इनमें से जो जो आत्मा के समक्ष उपस्थित होते हैं, उन सब का समावेश इन पाँच दोषों में हो जाता है। इस प्रकार विशाल दृष्टि से इन पाँच अतिचारों के अर्थ को समझ कर इनका त्याग करना चाहिए। ये दोष ज्यों ज्यों सामने आवे, त्यों त्यों इन्हें पकड़ कर श्रुतज्ञान पूर्वक विचार करके इनका नाश ही कर देना चाहिए। तभी सम्यक्त्व निर्मल रहती है।

पांच लक्षण

'मुझमें सम्यक्त्व है या नहीं'—इस बात की परीक्षा, अपेक्षा पूर्वक इन पाँच लक्षणों से की जा सकती है। इसमें बाहरी दिखावे की नहीं—अभ्यन्तर परिणति की आवश्यकता है। बाहरी चिन्ह तो तीन लिंग में हैं। सम्यक्त्व के पांच लक्षण ये हैं।

सम

सम्यक्त्व की प्राप्ति और उसकी रक्षा के लिए अनन्तानुबन्धी कषाय का क्षय, उपशम अथवा क्षयोपशम करना होता है। किसी के प्रति शल्य, वैरभाव या तीव्र क्रोधादि को मन में से निकालना और क्षमा, संतोष, सरलता, विनयादि को स्थान देना चाहिए। राग का क्षय, उपशम या क्षयोपशम करते रहना, किसी वस्तु में इष्ट अनिष्टपन की

भावना का त्याग करते रहना। अमुक ने मुझे सुख दिया और अमुक ने दुःख दिया, इस प्रकार के विचारों को त्यागने का अभ्यास बढ़ाते रहने के लिए 'सम' के अनेक अर्थों का विचार करते रहना चाहिए। वे अर्थ इस प्रकार हैं.–

१ समता २ तुल्यता–सामान्य सत्ता ३ संतुलन,....मन, वचन और काया की स्थिरता, क्षयोपशम ४ मिथ्याभाव और कषाय के आवेश की रोक–उपशम, आवेश का क्षय–क्षायक भाव, कुछ क्षय और कुछ उपशम–क्षयोपशम भाव ५ आत्मिक गुणों को एक साथ धारण करना ६ एकत्व ७ सम रस भाव–शांत रस का अनुभव ८ सोऽहं ९ सम्यक् १० रागद्वेष का अभाव ११ सुख दुःख के अनुभव का अभाव १२ आत्मभाव की उत्पत्ति १३ आत्म प्रदेश का निष्कम्प होना।

ये सभी भेद, समता की तरतमता की अपेक्षा से भिन्न भिन्न गुण स्थानों को प्राप्त होते हैं। सभी शास्त्रों का सार समभाव में रहा हुआ है। इसलिए 'सम' का विशालभाव है और सम्यक्त्वी के लिए यह 'सम' बहुत ही महत्व पूर्ण है।

सम्वेग

मोक्ष एवं आत्मिक सुख में आनन्द, सं = सम्यक्, वेग = गति = मोक्षमार्ग में चलना। समकिती जीव को ऐसा निश्चय होता है कि सच्चा सुख तो अपनी आत्मा से ही मिलता है, अन्य कोई जीव अथवा वस्तु सुख नहीं दे सकते।

शरीरधारी जीव, पौद्गलिक वस्तु के द्वारा व्यवहार चलाता है। शरीर के आलम्बन से हिलता चलता है। इन्द्रियों और मन के आलम्बन से जानता देखता है और पौद्गलिक वस्तुओं का भोग करता है। किंतु सुख तो अपनी आत्मा में से ही उत्पन्न होता है। पर वस्तुएं तो निमित्त रूप हैं। उनमें अशुद्ध भाव से सुख का आरोपण किया जाता है, यह मोहनीय कर्म का प्रभाव है। यदि पर वस्तुओं में से उपयोग हटाकर शुद्ध आत्म तत्त्व में उपयोग रखने का अभ्यास किया जाय तो शनैः शनैः विश्वास हो जायगा कि सुख तो आत्मा में से ही प्राप्त होता है। आत्मा से पर वस्तु—जिनका आलम्बन लेना पड़ता है, वह सब बन्धनों में से मुक्त होने के लिए और सदा के लिए शुद्ध आत्मिक सुख भोगने के लिए है। श्री जिनेश्वरदेव के बताये हुए मोक्षमार्ग की आराधना करके शुद्ध आत्मा के अनन्त सुख में लीन रहना यही श्रेष्ठ है, जिससे फिर कभी पर (पौद्गलिक) वस्तु का आलम्बन ही नहीं लेना पड़े।

निर्वेद

निर्वेद = संसार अथवा विषयों से घृणा होना, जितने अंश में मोक्ष मार्ग में प्रगति होगी, उतने अंश में संसार से दूर होते जायँगे। यह स्वाभाविक बात है। इसलिए संसार की विचित्रता और अशुभता का विचार करके उसपर उदासीन भाव रखना चाहिए और काम भोग तथा समस्त संसारी विषयों के प्रति अरुचि उत्पन्न होनी चाहिये।

काम, शब्द और रूप से होता है और गंध, रस
ार स्पर्श से होता है। इसलिए सभी इन्द्रियों में से राग
ौर द्वेष को हटाकर मध्यस्थ परिणाम–ज्ञाता दृष्टा भाव
खने का अभ्यास करना चाहिए। निर्वेद से संसार के भाव
हटकर वैराग्य (विरक्ति) सर्वविरति परिणाम आते हैं।

अनुकम्पा

कम्प = धूजना, दुःख से पीड़ित होना, अनु = तदनुसार
होना, अर्थात् दूसरों के दुःख से दुःखी होना।

दूसरों के दुःख से दुःखी होने पर उस जीव को दुःख
से मुक्त करने की भावना होती है, उसे कार्यरूप में परिणत
करने की क्रिया, गुणस्थान भेद के अनुसार होती है और कम्पन
(दुःखी होना) समभाव की तरतमता और ज्ञान उपयोग के
अनुसार होता है, क्योंकि सुख दुःख वेदन तो राग द्वेष की
तरतमता पर आधार रखता है। इसलिये एकान्त रूप से शब्द
नय को ही पकड़ कर नहीं बैठ जाना चाहिए।

अनुकम्पा का स्वरूप यों समझना चाहिए कि "द्रव्य"
से जीवका रक्षण करना अर्थात् योग्य वस्तु देकर जीव को
दुःख में से छुड़ा लेना, यह क्रिया श्रावक और साधु की भिन्न
भिन्न है। जिसमें रक्षण की बुद्धि है, वह किसी जीव की हिंसा
तो करता ही नहीं है। प्ररूपणा की दृष्टि से साधु और श्रावक
की अनुकम्पा में भिन्नता नहीं है, किंतु स्पर्शना = आचार की
दृष्टि से भिन्नता है। साधु सर्वथा अहिंसक है और श्रा

अहिंसा का मर्यादित पालन करता है। भाव से सभी जीवों को आत्मा जानकर समभाव पूर्वक अहिंसा भाव धारण करना चाहिए और दूसरों को मानसिक दुःख भी नहीं देना चाहिए। यथाशक्ति जीवों को परमार्थ—मोक्षमार्ग में लगाना चाहिए।

आस्था

आस्था = अस्ति। सत्य में अस्तित्व की श्रद्धा, प्रतीति, खात्री, दृढ़ता, निश्चय, विश्वास। व्यवहार से शुद्ध देव अरिहंत और सिद्ध ही हैं; शुद्ध गुरु निर्ग्रंथ ही है और शुद्ध धर्म केवली प्ररूपित ही है और केवली भगवान् के कहे हुए तत्त्वों—भावों को उसी रूप में ग्रहण करने की बुद्धि। इस प्रकार दृढ़ निर्णय होना आस्तिक्य=आस्था है। जिस प्रकार बालक की अपनी माता पर श्रद्धा होती है, उससे भी अधिक श्रद्धा होना चाहिए। इस प्रकार की श्रद्धा के बिना विकास नहीं होता।

निश्चय से आत्मा, ज्ञान, दर्शन, चारित्र, सुख और अनन्त शक्ति रूप है, इसकी अनुभव पूर्वक श्रद्धा होनी चाहिए। जिसे ऐसी श्रद्धा होती है वही शुद्ध देव गुरु और धर्म का स्वरूप प्राप्त कर सकता है।

प्रभावना आठ

साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका, इन चार तीर्थ में वृद्धि करना। मिथ्यात्वियों को आत्म भान कराकर शुद्ध मोक्षमार्ग में लगाना, ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप में वृद्धि

करना, यह सब प्रभावना में माना गया है। इसके आठ भेद हैं।

१ **प्रवचन**–जिनेश्वरों का उपदेश, सर्वत्र फैलाना।

२ **धर्मकथा**–हेतु और दृष्टान्त सहित जिन प्रवचन को समझाना।

३ **वाद**–वाद और युक्तियों से जिनधर्म की श्रेष्ठता प्रमाणित करना।

४ **नैमेत्तिक**–निमित्त ज्ञान से जिन धर्म की पुष्टि करना।

५ **तप**–घोर तपस्या करके धर्म का प्रभाव फैलाना।

६ **विद्या**–विद्वत्ता पूर्वक जैन तत्त्वों का पोषण करना।

७ **प्रसिद्ध व्रत ग्रहण**–इससे जैन धर्म की महिमा बढ़ती है।

८ **कवित्त्व शक्ति**–प्रभावोत्पादक कविता के द्वारा श्रोताओं के मन में त्याग वैराग्य भाव भरना।

भूषण पांच

जिस प्रकार शरीर, वस्त्राभूषणों से सुशोभित होता है, उसी प्रकार सम्यक्त्व की प्राप्ति, शुद्धि, स्थिरता, और क्षायिक भाव में प्रकटता, निम्न पांच गुणों से होती है।

१ **आर्हत् दर्शन में कुशलता**–(१) धर्म के तत्त्वों का, सभी प्रकार की क्रियाका, उसकी विधि और रहस्यादि का

ज्ञान होना (२) पंच परमेष्ठि स्वरूप नमस्कार मन्त्र की भाव पूर्वक आराधना (३) अरिहंत और सिद्ध का स्वरूप जानकर उसमें लीन होना (४) गुरु की विनय, वैयावृत्य गुणग्रामादि करना (५) बारह व्रत धारण करना, सामायिक, प्रतिक्रमण, पौषध, तप, आत्मध्यान आदि क्रिया करना।

२ तीर्थसेवा–जिससे तिरा जाय वह तीर्थ है। साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका के आचार से संसार से तिरना होता है, इसलिए यह तीर्थ है।

श्रावक=श्र = श्रद्धा, व = विवेक, क = क्रिया, श्रद्धा और हेय उपादेय के विवेक पूर्वक क्रिया करे वह श्रावक।

साधु = आत्मा को साधे वह साधु।

चार तीर्थ को यथायोग्य अनुकूलता कर देना, शान्ति देना, आत्म साधना के मार्ग में आगे बढ़ाना, सेवा भक्ति करना, सत्संग करना, प्रबल उत्साह और एकाग्रता पूर्वक हित साधन करना, तीर्थ सेवा है।

३ स्थिरता–ज्ञान, दर्शन और चारित्र में स्थिर होना और इनसे गिरते हुए जीवों को स्थिर करना। मन वचन और काया की एकाग्रता साधनें से स्थिरता होती है। मन को विषय कषायादि संसार भावों से खींच कर ज्ञान और चारित्र के उपयोग में लगाना, आत्मध्यान में लीन करना, वाणी को विकथा में से खींचकर धर्मकथा में लगाना, काया का व्यापार यतना पूर्वक करना और इन्द्रियों को व्यर्थ के कर्म बन्धन के मार्ग में नहीं जाने देना।

४ गुरुभक्ति—हार्दिक लगन और नम्रता पूर्वक, निराशी भाव से, संयम और निर्जरा के हेतु से सुपात्रदानादि गुरु भक्ति करना। गुरुके गुणग्राम करना, उनकी आज्ञा का पालन करनें में तत्पर होना।

५ प्रभावना—पहले बताये हुए आठ प्रकार से जैनधर्म की प्रभावना करना।

यतना

यतना छः प्रकार की होती है। यतना=व्यवहार कुशलता, सावधानी, विवेक पूर्वक वर्त्तन करना, अर्थात् सम्यक्त्वी जीव को धार्मिक व्यवहार करते निम्न छः बातों का ध्यान अवश्य रखना चाहिए, १ वंदना २ नमस्कार ३ आलाप=आदर देना ४ संलाप=क्षेम कुशल पूछना ५ आहारादि प्रदान करना और ६ स्तुति करना।

उपरोक्त छः व्यवहार सम्यक्त्वी के साथ रखना, मिथ्यात्वी साधु, सन्यासी, योगी आदि के साथ उपरोक्त छः व्यवहार नहीं रखना, किन्तु पूछी हुई बात का उत्तर देना। उनके साथ ऐसा व्यवहार भी नहीं करना कि जिससे उनका अपमान हो, किन्तु उनके साथ धार्मिक सम्बन्ध नहीं रखना चाहिए। कारणवश उनसे मिलाप हो जाय, तो आवश्यकतानुसार ही बोलना चाहिए। यदि उन्हें शुद्ध मार्ग में लाने की शक्ति हो और इस उद्देश्य से वर्त्तालाप किया जाय तो बाधा नहीं है। यदि वे दुःखी हालत में हों, तो अनुकम्पा लाकर

सहायता करनी चाहिए, किन्तु धर्म निमित्त उनसे व्यवहार नहीं करना चाहिए।

अन्य तीर्थी गृहस्थों के साथ इस प्रकार का व्यवहार करना चाहिए कि जिससे लोक व्यवहार भी चलता रहे और सम्यक्त्व में दोष भी नहीं लगे। विवेक पूर्वक समझ सोचकर व्यवहार करना चाहिए, उनके मिथ्यातत्त्व अथवा क्रिया में भाग नहीं लेना चाहिए।

अभियोग

अभियोग = छिंडी, अपवाद मार्ग। अल्प सत्ववाले सम्यक्त्वी जीवों के लिए, विषम प्रसंग से पार होने के लिए, भावी स्थिति का विचार करके, बिना इच्छा के रुक्ष भाव से अपवाद अपनाया जाता है और उस आपवादिक कार्य के लिए यथोचित प्रायश्चित्त लेकर शुद्ध होना पड़ता है। अपवाद मार्ग पर रुचि नहीं रखनी चाहिए। इस अधम मार्ग का आश्रय, प्राण और इज्जत की रक्षा तथा दुःख से मुक्त होने के लिए किया जाता है। पतित होने की संभावना हो, तभी अपवाद का आश्रय लिया जाता है और वाद में प्रायश्चित्त लेकर शुद्धि की जाती है। उत्सर्ग मार्ग में इन अपवादों को स्थान नहीं हैं। वे अभियोग = आपवादिक स्थान छः हैं,-

१ राजाभियोग २ गणाभियोग ३ वलाभियोग (कोई वलवान व्यक्ति के दवाव से) ४ देवाभियोग, (देव के उपसर्ग से वचने के लिए) ५ वृत्तिकान्तार (आजीविका के कारण

अथवा अटवी आदि विषम परिस्थिति से पार होने के लिए) और ६ गुरु निग्रह (माता पितादि ज्येष्ठ वर्ग के आग्रह से या उनके लिए) ये छः कारण हैं।

भावना

सम्यक्त्व के महत्व को हृदय में स्थापित करने के लिए निम्न छः भावनाओं का चिन्तन करना चाहिए।

१ मूल भावना–जिस प्रकार मूल के आधार से ही वृक्ष ठहरता है, उसी प्रकार सम्यक्त्व रूप मूल के आधार से ही धर्म ठहरता है। बिना सम्यक्त्व के धर्म नहीं ठहर सकता।

२ द्वार भावना–बिना द्वार में प्रवेश हुए नगर में अथवा घर में प्रवेश नहीं हो सकता, इसी प्रकार सम्यक्त्व रूप द्वार में प्रवेश हुए बिना धर्मरूप नगर अथवा घर में प्रवेश नहीं किया जा सकता। सम्यक्त्व ही धर्म का प्रवेश द्वार है।

३ पीठ भावना–जिस प्रकार बिना नींव के मकान नहीं बन सकता, वैसे ही बिना सम्यक्त्व के धर्म नहीं हो सकता। धर्म की नींव सम्यक्त्व ही है।

४ आधार भावना–जिस प्रकार पृथ्वी हमारे और जगत के लिए आधारभूत है, उसी प्रकार सम्यक्त्व भी धर्म के लिए आधारभूत है।

५ पात्र भावन–जिस प्रकार महारसायनादि उत्तम वस्तुएँ पात्र के आधार से रहती हैं, उसी प्रकार धर्म के लिए भी सम्यक्त्व पात्र रूप है। बिना इस पात्र के धर्म ठहर ही नहीं सकता।

मंजूषा–जिस प्रकार रत्नादि मूल्यवान वस्तुएँ मजबूत तिज़ोरी में रखी जाती है, उसी प्रकार ज्ञान, चारित्र और तपादि धर्म भी सम्यक्त्व रूप मंजूष में रखा जाता है। उसी से उसका रक्षण होता है।

सम्यक्त्व के बिना चारित्र नहीं होता। सम्यक्त्व आधार है और चारित्रादि धर्म आधेय है। सम्यक्त्व स्वयं आत्म स्वरूप है, मिथ्यात्व मल के हटने पर सम्यक्त्व का प्रादुर्भाव होता है और सम्यक्त्व के सद्भाव में ही दूसरे गुणों को स्थान मिलता है। विना सम्यक्त्व के चारित्रादि गुण ठहर नहीं सकते। इसलिए आत्मार्थिओं को सम्यग्दर्शन की आराधना अवश्य ही करनी चाहिए।

स्थान

सम्यक्त्व के ठहरने योग्य स्थान वही है जहाँ निम्न लिखित छः प्रकार की सुविधा हो। यदि इनमें से एक भी न हो तो वहाँ सम्यक्त्व के योग्य स्थान नहीं रहता।

जिस आत्मा में निम्न छः विषयों में संपूर्ण रूप विश्वास के साथ स्वीकृति हो, वही सम्यक्त्व का निवास सकता है।

१ आत्मा है–जिसमें यह विश्वास हो कि आत्मा अस्तित्व है। भौतिक देह के सिवाय आत्मा भी होती है उसीसे इच्छा, संशय, चैतन्य, ज्ञान, स्मृति आदि होते हैं

इसमें आत्मा की सिद्धि होती है। जिसमें आत्म तत्त्व नहीं होता, उस जड़ में ये गुण नहीं होते। जब तक शरीर में आत्म तत्त्व होता है, तब तक ही उपरोक्त गुणों का अस्तित्त्व रहता है। आत्मा के निकल जाने के बाद, शव में इनमें से किसी भी गुण का अनुभव नहीं होता। इससे सिद्ध होता है कि ऐसे गुण आत्मा में ही होते हैं। इस प्रकार शरीर के अतिरिक्त आत्मा का भी अस्तित्व है।

२ आत्मा नित्य है–आत्मा का अस्तित्व मान लेना ही पर्याप्त नहीं है। अस्तित्व मान लेनें के बाद यह भी मानना चाहिए कि 'आत्मा नित्य है' –अविनाशी है और सदा काल रहने वाली है। आत्मा एक मूल द्रव्य है और द्रव्य का विनाश कभी होता ही नहीं। वह सदा सर्वदा कायम रहता है। अभी का लौकिक विज्ञान भी स्वीकार करता है कि 'किसी भी पदार्थ की उत्पत्ति और विनाश नहीं होता, किन्तु उसकी स्थिति में उत्पत्ति और विनाश रूप परिवर्त्तन होता है'। आत्मा एक गति में से दूसरी गति में जाती है और एक शरीर छोड़कर दूसरा शरीर धारण कर लेती है, किन्तु उसका नाश नहीं होता। और आत्मा की उत्पत्ति पांच भूतों में से नहीं होती।

भिन्न भिन्न जीवों के सुख दुःख की भिन्नता–विचित्रता देखी जाती है। इस पर विचार करने से जीवों का पूर्वभव होना साबित होता है। ऐसा नहीं होता कि पाप तो एक जीव करे और नरक में कोई दूसरा ही चला जाय। धर्म एक आत्मा करे और स्वर्ग अथवा मोक्ष कोई दूसरी ही आत्मा प्राप्त करले क्योंकि यह बात न्याय एवं कुदरत के भी विरुद्ध है।

ज्ञान गुण है । गुण किसी द्रव्य में ही रह सकता है। बिना द्रव्य के ज्ञान गुण कहां रहेगा ? द्रव्य की अपेक्षा आत्मा नित्य है और पर्याय (अवस्था) स्थिति भेद की अपेक्षा अनित्य हैं । पर्याय का परिवर्त्तन होता रहता है । पर्याय द्रव्य की ही होती है । प्रत्येक पर्याय में द्रव्य होता ही है । इसलिये आत्मा ध्रुव (नित्य) है । यदि पांच भूतात्मक शरीर का नाश होते ही आत्मा का भी नाश हो जाय, तो धर्माचरण की आवश्यकता ही नहीं रहे । इसलिए आत्मा नित्य है ।

३ आत्मा कर्म का कर्त्ता है—देव, मनुष्य, तिर्यंच और नारक रूप विभाव पर्याय में रहते हुए, जीव मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग इन पांच मुख्य हेतुओं के ५७ भेदों में के भेदों को प्राप्त कर कर्म करता है । बिना हेतु के कर्मों का बन्ध नहीं होता और कर्म बन्ध के बिना सुख दुःख नहीं होता ।

जिस प्रकार अफीमची, अफीम खाने से होने वाले नुकसान को जानता है, फिर भी अपनी बुरी आदत के चलते अफीम खाता ही रहता है । जिस प्रकार शराब के नशे से बेहोश होकर शराबी मनुष्य कुकृत्य करते हैं, उसी प्रकार अरूपी आत्मा, मूर्त कर्म के कारण सुख दुःख भोगता है ।

व्यवहार से आत्मा मूर्त कर्मों का कर्त्ता है और निश्चय से आत्मा अपने भावों का कर्त्ता है। आत्मा के अशुद्ध निमित्त से पुद्गल कर्म रूप में परिणत होते हैं और कर्म के निमित्त से आत्मा अशुद्ध भावों में परिणत होता है । यदि आत्मा शु

उपयोग में रहे, तो कर्म रूप निमित्त निष्फल होजाता है। धर्म का काम आत्मा को शुद्ध उपयोग में रखने का है।

४ आत्मा कर्म का भोक्ता है—व्यवहार से आत्मा कर्म के फल का, सुख दुःख के अनुभव के रूप में भुगतने वाला है। सुख और दुःख के अनुभव को तो सभी जानते हैं। जिस प्रकार विष खाने वाले को उसका असर होता है, उसी प्रकार कर्म का असर जीव पर होता है। विष और कर्म जड़ हैं। इन जड़ वस्तुओं में ऐसी इच्छा नहीं होती कि हम किसी को दुःख दें, किन्तु इनका स्वभाव ही आत्मा के लिए दुःखदायक होता है।

कर्म की भुगतान प्रदेश से भी होती है और विपाक से भी। प्रदेश से तो सभी कर्मों को भुगतना ही पड़ता है, किंतु शुद्ध आत्मोपयोग से जितने कर्म प्रदेश से भुगते जाते हैं, उतने विपाक (रस) से नहीं भुगतने पड़ते हैं। निश्चय दृष्टि से तो आत्मा अपने भावों का ही भोक्ता है और कर्म फल निमित्त रूप है। यदि आत्मा शुद्ध उपयोग में रहे, तो कर्म फल कुछ भी नहीं कर सकते।

५ मोक्ष है—जब बन्ध है, तो मोक्ष भी है ही। जिन कर्मों का बन्ध होता है, उनकी स्थिति पूर्ण होनें पर फल देकर छूट भी जाते हैं। जब शुद्ध आत्मोपयोग में रहकर आत्मा सभी कर्मों को एक साथ भुगत कर नष्ट कर देता है, तभी मोक्ष हो जाता है।

यदि मोक्ष नहीं हो, तो मोक्षमार्ग का धर्म रूपी साधन भी नहीं रहे, किन्तु धर्माचरण भी होता है और उससे मुक्ति होती है। मुक्ति होते समय समस्त कर्मों का अभाव होता है। आत्मा सर्वथा शुद्ध-अकर्मी हो जाती है। कर्म रहित आत्मा को कर्म बन्ध का कोई भी हेतु नहीं रहता। सर्वथा अरूपी और अकर्मी आत्मा को कर्म लग ही नहीं सकते। इसलिए मुक्तात्मा को कर्म फल भोगने की आवश्यकता ही नहीं रहती और जन्म मरणादि पौद्गलिक सुख दुःख नहीं होते। ऐसी आत्मा को शुद्ध आत्मिक सुख का ही अनुभव होता है

६ मोक्ष का उपाय है-मोक्ष का उपाय-दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप है।

१ दर्शन--इसके दो भेद हैं (१) समस्त सचैतन्य शरीरों में आत्मा का निराकार स्वरूप तथा सभी दृश्यमान पदार्थों में पुद्गल का सामान्य ज्ञान (२) पदार्थों के शुद्ध स्वरूप में निश्चलता तथा आत्मानुभव में निःशंकता।

२ ज्ञान-अपने शरीर में आत्मा है-जो ज्ञान, दर्शन, चारित्र, सुख और वीर्य स्वरूप है, उसका स्वसंवेदन ज्ञान। भिन्न भिन्न सचित्त शरीरों में रही हुई भिन्न भिन्न आत्माएं अपनी आत्मा जैसी ही है-ऐसा विशेष ज्ञान। षट् द्रव्य और नव तत्त्व का ज्ञान, इनमें केवल आत्मा का शुद्ध स्वरूप ही प्राप्त करने योग्य है। इस प्रकार का ज्ञान तथा इसके साधनों का ज्ञान।

३ चारित्र–आत्मा के शुद्ध स्वरूप में प्रवृत्ति तथा राग-द्वेष मय अशुद्ध स्वरूप से निवृत्ति रूप आचरण। ऐसे आचरण में प्रवेश कराने वाले चारित्र के भेदों का अनुकरण करना कि जिससे आत्मा में नये कर्मों का प्रवेश नहीं हो सके।

४ तप–छः प्रकार के वाह्य और छः प्रकार के आभ्यंतर तप–जो आत्मा में से कर्मों का अभाव करने का खास उपाय हैं, इनका आचरण करना। अथवा कर्म बंधन के हेतुओं का त्याग कर के सत्ता में रहे हुए कर्मों को शुद्ध ज्ञानोपयोग से नष्ट करना, यह मोक्ष का चौथा उपाय है।

●●● × ●●●●● × ●●●

सम्यक्त्व प्राप्ति के कारण

सम्यक्त्व की प्राप्ति मोहनीय कर्म के क्षयोपशम (और क्षय अथवा उपशम) से होती है। सम्यक्त्व मुख्यतः आत्मा की परिणति से सम्बन्ध रखती है। जो प्राणी मोहनीय कर्म के पहाड़ के समान प्रबल भार के नीचे दबा रहता है, वह सम्यक्त्व प्राप्ति के योग्य नहीं रहता, किन्तु जिसकी मोह सत्ता कमजोर होती है, वही सम्यक्त्व–मोक्ष के मार्ग पर पहुंचता है। इस विषय को स्पष्ट करने के लिए, विशेषावश्यक–भाष्य की निम्न गाथाएँ अनुवाद सहित उपस्थित की जाती है।

सत्तरहं पयडीणं अब्भिंरओ उ कोडिकोडीए ।
काऊण सागराणं जइ लहइ चउण्हमेगयरं ॥११९३॥

अर्थ—आयुष्य कर्म को छोड़कर सात कर्मों की अन्तः-कोड़ा–कोड़ी सागरोपम (प्रत्येकर्म क प्रकृति की एक क्रोड़ा-क्रोड़ सागरोपम में कुछ कम) प्रमाण स्थिति करने पर ही चार सामायिक (१. सम्यक्त्व सामायिक, २. श्रुत सामायिक, ३. देश विरति सामायिक और ४. सर्वविरति सामायिक) में से किसी एक प्रकार की सामायिक प्राप्त होती है ।

अंतिमकोडाकोडीए, सव्वकम्माणमाउवज्जाणं ।
पलियासंखिज्जइमे, भागे खीणे हवइ गंठी ॥११९४॥

अर्थ—आयु कर्म के सिवाय सात कर्मों की अन्तिम कोड़ा–कोड़ी सागरोपम प्रमाण स्थिति में से पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण स्थिति का क्षय होता है तब ग्रंथिदेश प्राप्त होता है ।

गंठि त्ति सुदुब्भेओ, कक्खडघणरूढ़ गूढ़गंठि व्व ।
जीवस्स कम्मजणिओ, घणरागदोसपरिणामो ॥११९५॥

अर्थ—कठोर, निविड़, शुष्क और अत्यन्त गूढ़ बनी हुई बांस की गांठ जैसी दुर्भेद्य होती है, वैसी ही कर्म जनित गांठ दुर्भेद्य होती है, जो जीव के प्रबल राग द्वेष रूप परिणाम से ही बनती है ।

भिन्नम्मि तम्मि लाभो, सम्मताईण मोक्खहेऊणं ।
सो य दुलहो परिस्सम–चित्तविघायाइविग्घेहिं ॥११६६॥
सो तत्थ परिस्सम्मइ, घोरमहासमरनिग्गयाइ व्व ।
विज्जा य सिद्धिकाले, जह वहुविग्घा तहा सोऽवि ११६७

अर्थ–मोह की इस गांठ का भेद होने पर ही मोक्ष के हेतुभूत सम्यक्त्वादि का लाभ होता है। मनोविघात तथा परिश्रम आदि से ग्रंथि भेद का होना महादुर्लभ है, क्योंकि ग्रंथिभेद करने में लगा हुआ जीव, महाघोर संग्राम में से विजय प्राप्त करके निकले हुए वीर सैनिक की तरह श्रम को प्राप्त होता है। जिस प्रकार मन्त्रादि विद्या सिद्धि के समय अनेक विघ्न उत्पन्न होते हैं और महान् प्रयत्न से सिद्धि होती है, उसी प्रकार ग्रंथिभेद भी बड़ी भारी कठिनाई से होता है ।

कम्मट्ठिई सुदीहा खविया जइ निग्गुणेण सेसंपि ।
स खवेउ निग्गुणो च्चिय किंथ मुणो दंसणाईहिं ।११६८।

प्रश्न–सम्यक्त्वादि गुण के बिना भी जीव ने बहुत ही लम्बी (६९ कोड़ाकोड़ी सागरोपम की) स्थिति को क्षय करदी, तो फिर शेष रही अन्तः क्रोड़ाकोड़ी सागरोपम की स्थिति भी वह उसी (मिथ्यात्व की) स्थिति में ही क्षय कर सकता है। इसमें सम्यक्त्वादि गुणों की आवश्यकता ही क्या है ? शिष्य के इस प्रश्न का उत्तर निम्न गाथाओं में दिया गया है–

पाएण पुव्व सेवा परिमउई साहणम्मि गुरुतरिया।
होई महाविज्जाए, किरिया पायं सविग्घा य ॥११९९॥
तह कम्मट्ठिइखवणे परिमउई मोक्खसाहणे गुरुई।
इह दंसणाइकिरिया दुलहा पायं सविग्घा य ॥१२००॥
अहव जओ च्चिय सुबहुं खवियं तो निग्गुणो न सेसंपि।
स खवेइ लहइ य जओ, सम्मत्त-सुयाइ-गुणलाभं १२०१

अर्थ-जिस प्रकार महा विद्या को सिद्ध करने वाली प्रारंभिक क्रिया सरल होती है, किन्तु अन्तिम क्रिया महान् विघ्नों से घिरी हुई होती है और उसमें महान् परिश्रम होता है, उसी प्रकार कर्म स्थिति का क्षय करने में यथाप्रवृत्तिकरण क्रिया तो सरल होती है, किन्तु ग्रंथिभेद से लगाकर मोक्ष साधन रूप सम्यग् ज्ञानादि क्रिया महा कठिन और अनेक विघ्न वाली है। सम्यग् ज्ञानादि के बिना अर्थात् गुण रहित अवस्था में किसी की भी मुक्ति नहीं होती। शेष रहे हुए कर्म विना सम्यक्त्व, ज्ञान और चारित्र के क्षय नहीं हो सकते।

अब निम्न गाथा में ग्रंथिभेद का क्रम बताया जाता है:-

करणं अहापवत्तं अपुव्वमनियट्टिमेव भव्वाणं।
इयरेसिं पढम चिय भन्नइ करणन्ति परिणामो ॥१२०२

अनादि काल से भव भ्रमण में पड़ा हुआ जीव सर्व प्रथम यथाप्रवृत्तिकरण करता है। फिर अपूर्वकरण और उसके

वाद अनिर्वृत्तिकरण करके सम्यक्त्व लाभ करता है। ये तीनों करण भव्य जीवों के तो अनुक्रम से शुद्ध होते हैं, किन्तु अभव्य जीव को तो एक यथाप्रवृत्तिकरण ही होता है, वाद के दो करण नहीं होते।

कौनसा करण किस अवस्था में होता है, यह निम्न गाथा में बताया गया है।

जा गंठी ता पढमं गंठि, समइच्छओ अपुव्वं तु।
अनियट्टीकरणं पुण सम्मत्तपुरक्खडे जीवे॥२०३॥

अनादिकाल से जीव राग द्वेष के महामलीन परिणाम से व गाढ़ कर्मों के भार से दबा हुआ रहता है और राग द्वेष की गूढ़ तम गांठ लगी रहती है। नदी के प्रवाह में पड़कर घिसते-घिसते गोल और कोमल स्पर्श युक्त बनने वाले पत्थर की तरह अकाम निर्जरा द्वारा कर्मों से हलका होता हुआ जीव उस गांठ तक पहुंचता है। इस प्रकार परिणामों की विशेषता से जीव ग्रंथिभेद तक पहुंचता है, उसे 'यथाप्रवृत्तिकरण' कहते हैं। ऐसी दशा वाले जीव के कर्म नष्ट करने के परिणाम तो नहीं होते, किन्तु अध्यवसाय ऐसे होते हैं कि जिससे वह हल्का होते होते ग्रंथि स्थान तक पहुंच जाता है। इसके बाद परिणामो की विशुद्धता से दूसरा अपूर्व करण होता है। अनादिकाल से मिथ्यात्व में बसे हुए जीव की पहले कभी भी इतनी शुद्धि नहीं हुई। प्रथम बार ही वह इतनी शुद्धता पा सका। यह दशा उसके लिए अपूर्व—प्रथम बार ही है। इसलिए उसे

'अपूर्वकरण' कहा गया। 'यथाप्रवृत्तिकरण' तो भव्य और अभव्य जीवों के भी होता है और अनन्तबार हो भी गये, किंतु 'अपूर्वकरण' तो केवल भव्यजीव के ही होता है। इस अपूर्व करण से जीव राग द्वेष मिथ्यात्व की तीव्रतम गांठ को तोड़कर छिन्न भिन्न कर देता है और सम्यक्त्व के सन्मुख हो जाता है। इसके पश्चात् उसे 'अनिवृत्तिकरण' होता है, जिससे वह पीछे नहीं हटकर सम्यक्त्व को प्राप्त कर ही लेता है।

उपरोक्त तीनों करणों से प्राप्त होने वाली सम्यक्त्व सामायिक को सरलता से समझने के लिये श्री जिनभद्रगणी क्षमाश्रमणजी महाराज नौ उदाहरण उपस्थित करते हैं। यथा-

पल्लग - गिरिसरिउवल -पिवीलिया-पुरिस-पह-जरग्गहिया।
कोद्दव-जल-वत्थाणि य सामाइयलाभ दिट्ठन्ता ॥१२०४॥

अर्थ—सम्यक्त्व सामायिक की प्राप्ति में ये नौ उदाहरण हैं—१ पल्य, २ पर्वत से गिरनें वाली नदी का पत्थर, ३ पिप्पलिका, ४ पुरुष, ५ मार्ग, ६ ज्वर पीड़ित, ७ कोद्रव, ८ जल और ९ वस्त्र।

पल्य का पहला उदाहरण

जो पल्लेऽतिमहल्ले धण्णं पक्खिवइ थोवथोवयरं।
सोहेइ बहुबहुयतरं झिज्जइ तं थोवकालेण ॥१२०५॥
तह कम्मधन्नपल्लं जीवोऽणाभोगओ बहुतरागं।

सोहंतो थोवतरं गिण्हंतो पावए गंठि । ॥१२०६॥

अर्थ-जिस प्रकार कोई कृषक वड़े कोठे में थोड़ा थोड़ा धान्य डाले और अधिक अधिक निकाले, तो वह कोठा थोड़े दिनों में ही खाली हो जाता है। उसी प्रकार कर्म रूप कोठे में से जीव, अधिक अधिक कर्म रूप धान्य-अनाभोगपने क्षय करते और थोड़े नये कर्म ग्रहण करके, ग्रंथि स्थान को प्राप्त होता है।

शिष्य-भगवन् ! ग्रंथि भेद होने के पूर्व, जीव असंयत अविरत एवं अनादि मिथ्यादृष्टि होता है। ऐसे जीव को अधिक कर्मों की निर्जरा और थोड़े कर्मों का बन्ध नहीं होता, क्योंकि आगमों में इसका निषेध किया है। (अर्थात् मिथ्यादृष्टि के बंध अधिक और निर्जरा कम होती है) अन्यत्र कहा है कि जैसे-

१ वहुत बड़े पल्य (एक प्रकार का भाजन) में कोई पुरुष, कुंभ प्रमाण धान्य डाले और नालिका (एक वहुत छोटी प्याली) प्रमाण निकाले, वैसे ही असंयत अविरत जीव, वहुत कर्म बान्धता है और थोड़े कर्मों की निर्जरा करता है।

२-वड़े पल्य में से कोई कुंभ प्रमाण धान्य निकाले और नालिका प्रमाण डाले, इस प्रकार प्रमत्तसंयत बहुत से कर्मों की निर्जरा करता है व थोड़े कर्म बांधता है।

३-कोई बड़े पल्य में से कुंभ प्रमाण धान्य निकालता है, किन्तु उसमें डालता नहीं है, वैसे अप्रमत्तसंयती निर्जरा तो वहुत करता है, पर बन्ध नहीं करता।

इस प्रकार प्रथम भेद में बताये माफिक मिथ्यादृष्टि प्रति समय बंध तो बहुत अधिक करता है, और निर्जरा थोड़ी करता है, किन्तु आप इससे विपरीत ही बतलाते हैं। इसका क्या कारण है ?

गुरु—वत्स ! यह एकान्त नियम नहीं है कि असंयत, अविरत, मिथ्यादृष्टि को बन्ध अधिक और निर्जरा अल्प ही होती है। यदि ऐसा ही नियम हो, तो बहुलकर्मी जीव को सम्यग्दृष्टि प्राप्त करने का कभी अवसर ही प्राप्त नहीं हो सकता, किन्तु ऐसा नहीं होता है, क्योंकि सम्यग्दृष्टि जीव को सम्यक्त्व प्राप्त करने के पूर्व बहुत अधिक कर्मों का (६९ कोटा कोटि सागरोपम प्रमाण) क्षय करने से सम्यग्दृष्टि प्राप्त होती है। दूसरे यह कि जो मिथ्यादृष्टि सर्वदा अतिमात्रा में में ही बन्ध करता रहे, तो काल क्रम से उसे सभी पुद्गल राशि को कर्म रूप में संग्रहित करने का प्रसंग आ सकता है, जिससे एक भी पुद्गल अग्राह्य नहीं रहे,कितु ऐसा तो नहीं होता है। प्रत्यक्ष दिखाई देता है कि स्तंभ, कुंभ, बादल, पृथ्वी, गृह, शरीर, वृक्ष, पर्वत, नदी 'समुद्रादि भाव से परिणत हुए पुद्-गल, सदैव भिन्न रहते ही हैं, इसलिए बन्ध और निर्जरा के विषय में ये तीन भंग समझने चाहिए—१—किसी को उत्कृष्ट कर्म बंध के हेतु से और पूर्वबद्ध कर्मों की थोड़ी निर्जरा के हेतु से, बंध अधिक और निर्जरा कम होती है। २—किसी को बंध और निर्जरा समान होती है, और ३ किसी को बन्ध अल्प और निर्जरा अधिक होती है। इन तीन भागों में से कोई

मिथ्यादृष्टि, तीसरे भाग में रहता है तब उसे बँध थोड़ा और निर्जरा बहुत होती है और वह ग्रंथी देश को प्राप्त कर लेता हैं।

अनाभोगपन से इतने अधिक कर्मों की निर्जरा कैसे हो सकती है ? इस शंका के समाधान में आचार्य श्री, पर्वतीय नदी में रहे हुए पाषाण का दूसरा उदाहरण उपस्थित करते हैं।

गिरिनइ-वत्तखिपत्थरघडणोवम्मेण पढमकरणेणं
जा गंठी कम्मट्ठिई खवणमणाभोगओ तस्स ॥१२०७॥

अर्थ—जिस प्रकार पर्वत से गिरनेवाली नदी के मार्ग में रहा हुआ पत्थर, अनाभोग से (बिना इच्छा के अपने आप) पानी के प्रवाह से घिसकर अथवा परस्पर टकराकर गोल त्रिकोणादि अनेक आकार वाले हो जाते हैं। वैसे ही अनाभोग से यथाप्रवृत्तिकरण करते ग्रंथि देश प्राप्त हो सकता है।

चिंटियों का दृष्टान्त—

खितिसाभावियगमणं, थाणूसरणं तओ समुप्पयणं।
थाणं थाणुसिरे वा, ओरुहणं वा मुइंगाणं ॥ १२०८
खिइगमणं पिव पढमं थाणूसरणं व करणमप्पुव्वं।
उप्पयणं पिव तत्तो जीवाणं करणमनियट्टिं ॥ १२०९
थाणु व्व गंठिदेसे, गंठियसत्तस्स तत्थवत्थाणं।
ओयरणं पिवतत्तो पुणोऽवि कम्मट्ठिइविवुड्ढी ॥ १२१०

अर्थ—जिस प्रकार कुछ चींटियाँ पृथ्वी पर स्वाभाविक रूप से

चलती हैं, कुछ ठूंठ पर चढ़ती हैं, दीवाल पर चढ़ती है, कुछ खूंटे पर चढ़कर उड़ जाती हैं कुछ खूंटे पर ही रह जाती है और कुछ खंबेपर चढ़कर पुनः नीचे उतर जाती हैं, इस प्रकार यहां भी समझना चाहिए। चींटियों के पृथ्वी पर स्वाभाविक गमन करने की तरह पहला यथाप्रवृत्तिकरण है, खूंट पर चढ़ने जैसा अपूर्व करण है, खूंटे पर से उड़ने जैसा अनिवर्तिकरण हैं । जिसने ग्रंथि का भेदन नहीं किया, ऐसे ग्रंथि सत्त्व को खूंट पर ठहर जानें की तरह रुकना होता है और वहां से पुनः लौटने रूप कर्म स्थिति की वृद्धि होती है ।

मुसाफिर का दृष्टान्त-

जहवा तिन्नि मणूस जतडविपहं सहावगमणेणा ।
वेलाइक्कमभीया तुरंति पत्ता य दो चोरा ॥१२११॥
दट्ठुं मग्गतडत्थे, ते एगो मग्गओ पडिनियतो ।
बितिओ गहिओ तइओ, समइक्कंतो पुरं पत्तो ॥१२१२
अडवि भवो मणूसा, जीवो कम्मट्ठिई पहो दीहो ।
गंठी य भयत्थाणं, रागदोसा य दो चोरा ॥१२१३
भग्गो ठिइ परिवड्ढी गहिओ पुण गंठिओ गओ तइओ ।
सम्मत्तपुरं एवं जोएज्जा तिण्णिकरणाइं ॥१२१४॥

अर्थ-जिस प्रकार कोई तीन मनुष्य, स्वाभाविक गति से अटवी में जाते हुए, बहुतसा मार्ग उल्लंघ गये, किन्तु संध्या हो जाने से वे भयभीत हो गये, इतने में उन्हें दो चोर मिले ।

चोरों को देखकर उन तीन पथिकों में से एक मनुष्य पीछा लौट गया। दूसरे को चोरों ने पकड़ लिया और तीसरा पथिक चोरों का सामना करके आगे बढ़कर इच्छित नगर में पहुंच गया।

संसार रूपी अटवी में पथिक रूप तीनों प्राणी हैं। एक ग्रंथिदेश से पीछे लौटा हुआ, दूसरा ग्रंथिदेश में रहा हुआ और तीसरा ग्रंथिदेश का भेद करनेवाला। कर्म स्थिति रूप दीर्घ पथ, ग्रंथिरूप भय स्थान, और राग द्वेष रूपी दो चोर हैं।

चोर को देखकर पीछे भागने वाले के समान, ग्रंथि-भेद से पुनः लौटकर, कर्म स्थिति का बढ़ानें वाला है। चोरों द्वारा पकड़े हुए पथिक के समान ग्रंथिदेश में ही रहा हुआ जीव है और चोरों का अतिक्रम करके इच्छित स्थान पर जानेवाले के समान ग्रंथि को भेदकर सम्यक्त्व रूपी नगर को प्राप्त होने वाला जीव समझना चाहिए।

इस दृष्टान्त की योजना तीनों करण में करनी चाहिए, जैसे कि–ग्रंथिदेश तक लाने वाला यथाप्रवृत्तिकरण, चोरों का तिरस्कार करके आगे बढ़ने वाला अपूर्वकरण और सम्यक्त्व प्राप्ति रूप अनिवृत्तिकरण है।

प्रश्न–भगवन्! जीव ग्रंथिभेद करके सम्यग्दर्शनादि रूप मोक्ष मार्ग प्राप्त करता है, तो क्या परोपदेश से प्राप्त करता है या स्वाभाविक रूप से? अथवा दोनों प्रकार का योग होते हुए भी सम्यक्त्व प्राप्त नहीं करते?

आचार्य उत्तर देते हैं कि–

उवएसओ सयं वा लभइ पहं कोइ न लभइ कोई।
गंठित्थाणं पत्तो, सम्मत्तपहं तहा भव्वो। १२१५

जिस प्रकार अरण्य में इधर उधर भटकते हुए कोई मनुष्य स्वयं योग्य मार्ग पा लेता है,कोई दूसरे के बतलाने से मार्ग पर आता है। और कोई ऐसा भी होता है जो किसी भी प्रकार मार्ग न पाकर भटकते ही रहता है। उसी प्रकार कोई भव्यात्मा संसार रूपी अटवी में भटकते हुए स्वयं सम्यक्त्वादि मार्ग पा लेता है और कोई गुरु आदि के उपदेश से सन्मार्ग लाभ करता है तथा कोई अभव्य अथवा दुर्भव्य सन्मार्ग नहीं पाकर भटकता ही रहता है औ ग्रंथिदेश तक आकर भी वापिस लौट जाता है।

ज्वर पीडित व्यक्ति का दृष्टान्त

भेसज्जेण सयं वा, नस्सइ जरओ न नस्सए कोइ।
भव्वस्स गंठिदेसे, मिच्छत्तमहाजरोऽवे वं ॥१२१६॥

जिस प्रकार किसी मनुष्य का ज्वर विना औषधि के स्वभाव से ही दूर हो जाता है, किसी का ज्वर औषधोपचार से छूटता है और किसी का औषधोपचार करते हुए भी ज्वर नहीं छुटता, उसी प्रकार किसी भव्यात्मा का मिथ्यात्व रूपी महाज्वर, विना प्रयत्न के स्वभाव से ही छूट जाता है और किसी किसी का गुरु वचन रूप औषधि प्रयोग से नष्ट होता है तथा किसी अभव्य का मिथ्यात्व ज्वर प्रयत्न करने पर भी नहीं निकलता।

कोद्रव का उदाहरण

नासइ सयं व परिक्कमओ व जह कोद्दवाण मयभावो।
नासइ तह मिच्छमओ सयं व परिकम्मणाए वा ॥ १२१७ ॥

एक प्रकार के कोद्रव की मादकता (कालांतर से) स्वभाव से ही नष्ट हो जाती है, किसी की प्रयोग करने से नष्ट होती है और किसी की मादकता बनी ही रहती है। उसी प्रकार कुछ जीवों का मिथ्यात्व अपने आप नष्ट हो जाता है। कुछ का उपदेश रूप प्रयत्न से छूटता है और कुछ ऐसे भी जीव हैं कि जिनकी मिथ्यात्व रूपी मादकता कदापि नष्ट नहीं होती।

प्रश्न—मिथ्यात्व किस प्रकार शुद्ध होता है ?

उत्तर—**अपुव्वेण तिपुंजं मिच्छत्तं कुणइ कोद्दवोवमया।**
अनियट्टीकरणेण उ सो सम्मद्दंसणं लहइ। १२१८।

जिस प्रकार कोद्रव को शुद्ध करने से तीन प्रकार के कोद्रव हो जाते हैं। कुछ कोद्रव सर्वथा शुद्ध हो जाते हैं, कुछ अर्ध शुद्ध होते हैं और कुछ शुद्ध होते ही नहीं, उसी प्रकार जीव भी मिथ्यात्व के दलिकों को शुद्ध करते हुए उनके तीन पुंज करता है, शुद्ध, अर्ध शुद्ध और अशुद्ध। इनमें से सम्यक्त्व का आवरण करनेवाले रस को नष्ट करके, शुद्ध किये हुये मिथ्यात्व के पुद्गलों का जो पुंज है, वह जिनोक्त तत्त्वरुचि का आवरण नहीं करता, इसलिए उसे उपचार से सम्यक्त्व

कहते हैं। अर्ध शुद्ध मिथ्यात्व दलिकों के पुंज को सम्यग् मिथ्यात्व-मिश्र-कहते हैं, और जो सर्वथा अशुद्ध पुद्गलों का पुंज है, वह मिथ्यात्व कहा जाता है। इस प्रकार अपूर्वकरण से तीन पुंज होते हैं, किन्तु अनिवर्तिकरण विशेष से जीव सम्यक्त्व पुंजमय हो जाता है, दूसरे दो पुंज मय नहीं होता। जब सम्यक्त्व से पतित होकर पुनः सम्यक्त्व लाभ करता है, तब भी अपूर्वकरण से तीन पुंज करके अनिवर्तिकरण से सम्यक्त्व लाभ करता है।

शंका-दूसरीबार सम्यक्त्व लाभ करते समय अपूर्वकरणता क्यों कहा जाता है? वह अपूर्व तो रहा ही नहीं, क्योंकि अब दूसरीवार सम्यक्त्व पा रहा है?

समाधान-सिद्धांतवादी और वृद्ध आचार्य कहते हैं कि स्वल्प समय तक ही उसका लाभ होता है, इसलिये अपूर्व के समान होने से उसे अपूर्वकरण कहते हैं। कर्मग्रंथ वाले कहते हैं कि वह अन्तरकरण करता है। अन्तरकरण करते हुए जीव उपशम सम्यक्त्व लाभ करता है, और उसी से सम्यक्त्व के तीन पुंज करता है। उसके बाद क्षायोपशमिक पुंज के उदय से क्षायोपशमिक सम्यक्त्व पाता है।

अब ग्रंथीप्रदेश तक आये हुए अभव्य की दशा बताई जाती है।

तित्थंकराइपूयं दट्ठुणणणेण वावि कज्जेण ।
सुयसामाइयलाहो होज्ज अभव्वस्स गंठिम्मि ॥१२१६॥

तीर्थंकर की पूजा–भक्ति देखकर अभव्य मनुष्य अपने मन में विचार करता है कि–"इस धर्म से ऐसा सत्कार होता है, राज्य ऋद्धि अथवा देवताई सुख प्राप्त होते हैं" । इस प्रकार की इच्छा से ग्रंथि स्थान को प्राप्त हुआ अभव्य, ऋद्धि आदि के लोभ से कष्टकारी धर्मानुष्ठान करता है, किन्तु मोक्ष की श्रद्धा रहित होने से वह सम्यक्त्व सामायिक से सर्वथा शून्य होता है । उसे अज्ञान रूप श्रुत सामायिक का लाभ हो सकता है, क्योंकि अभव्य को भी ग्यारह अंगों का × अध्ययन होना शास्त्र में माना है ।

अब पूर्व कही हुई गाथा का स्पष्टीकरण किया जाता है ।

मयणा दरनिव्वलिया निव्वलिया य जह कोद्दवा तिविहा ।
तह मिविच्छत्तं तिहं परिणामवसेण सो कुणइ ॥ १२२०॥

जिस प्रकार प्रयोग करने से कोद्रव धान्य अशुद्ध, अर्द्धशुद्ध और शुद्ध होता है, उसी प्रकार अपूर्वकरण रूप परिणाम से मिथ्यात्व भी शुद्ध, अर्धशुद्ध और अशुद्ध यों तीन प्रकार का हो जाता है ।

× अभव्य आठ पूर्व से कुछ अधिक का ज्ञाता होता है—सं०

जल एवं वस्त्र का दृष्टान्त

जह वेह किंचि मलिणं, दरसुद्धं सुद्धमंबु वत्थं च ।
एवं परिणामवसा करेइ सो दंसणं तिविहं ॥१२२१॥

पानी और वस्त्र, मलिन होता है तब शुद्ध करने से कुछ पानी और वस्त्र शुद्ध हो सकता है, कुछ अर्ध शुद्ध होता है और कुछ अशुद्ध ही रहता है। वैसे जीव भी अपूर्व-करण रूप परिणाम से दर्शन-मोहनीय कर्म को शुद्ध करते अशुद्ध, अर्धशुद्ध और शुद्ध ऐसे मिथ्यात्व, मिश्र और सम्यक्त्व यों तीन प्रकार बन जाते हैं।

इस प्रकार सम्यक्त्व प्राप्ति में कितनी बाधाएँ रही हुई है, यह इस विवरण से स्पष्ट हो जाता है। जीव के मोह की मन्दता होने पर वह यथाप्रवृत्तिकरण की स्थिति में आता है और विशेष रूप में क्षयोपशम होने पर ग्रंथिभेद करता है। यथाप्रवृत्तिकरण ओघ संज्ञा से भी होता है, किन्तु मिथ्यात्व की गांठ, आत्मा के प्रबल पुरुषार्थ से कटती है और इसीसे अपूर्वकरण करके वह मोक्ष के आदि करण सम्यक्त्व को प्राप्त होता है। प्रत्येक भव्य प्राणी को सम्यग्दर्शन प्राप्त कर सम्यक् चारित्र में परिणति बढ़ाने और मिथ्यात्व से सर्वथा वंचित रहने का ही प्रयत्न करना चाहिए।

सम्यक्त्व प्राप्ति का क्रम

विश्व में अनन्तानन्त जीव हैं, किन्तु सम्यक्त्वी जीव उनके अनन्तवें भाग में ही हैं। मिथ्यात्वी जीव, सम्यक्त्वी से अनन्तगुण अधिक हैं। अनन्त जीव मुक्तहो चुके और भविष्य में भी अनंत जीव मुक्त होंगे, फिर भी मिथ्यात्वी जीव तो मुक्तात्माओं से तथा अमुक्त सम्यक्त्वियों से सदैव अनन्तगुण अधिक ही रहेंगे। इसका कारण यह कि यह सारा विश्व मिथ्यात्वी जीवों से ठसाठस भरा हुआ है। विश्व का एक भी ऐसा आकाश प्रदेश नहीं जो जीव से रहित हो। सूक्ष्म जीवों से सारा विश्व ठसाठस भरा हुआ है और जीवों में विशालतम संख्या मिथ्यात्वियों की ही है। एकेन्द्रियों से लगाकर चौरेन्द्रिय तक के समस्त जीव (कुछ अपर्याप्त विकलेन्द्रिय को छोड़कर) मिथ्यादृष्टि ही हैं, क्योंकि उन्हें न तो श्रवणेन्द्रिय प्राप्त है, न मन ही। मन के अभाव में असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीव भी मिथ्यादृष्टि ही होते हैं। इस प्रकार मिथ्यात्व इन जीवों में सर्वत्र व्याप्त है और ये जीव सदैव अनन्त (वनस्पति अनन्त और अन्य असंख्य) ही होते हैं।

सम्यक्त्व प्राप्ति का मुख्य साधन श्रवणेन्द्रिय की प्राप्ति होना है। जिसे श्रवणेन्द्रिय प्राप्त हुई, वह ज्ञान की बातें सुन सकता है, इसलिए आगमकार ने **'सवणे णाणे य विन्नाणे'** कहा है। इसमें श्रवण की भूमिका सर्व प्रथम प्राप्त होती है। जिसे श्रवण भूमिका प्राप्त हुई अर्थात् जो श्रोता बना, वह—उसमें से कोई, अनुकूल संयोग पाकर आगे बढ़ता है। श्रवण भूमिका में पहुंचने वाले तो असंख्य प्राणी हैं, किन्तु उनमें

बड़ी संख्या असंज्ञी–मन रहित जीवों की है। ऐसे जीव भी सम्यक्त्व रूपी रत्न पाने के योग्य नहीं है। जिन जीवों के मन होता है वे ही श्रवण की हुई वस्तु को अवधारण कर सकते हैं, मनन चिन्तन कर सकते हैं। अतएव मात्र श्रवण मिल जाने से ही सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसके बाद ज्ञान की दूसरी भूमिका प्राप्त होना भी आवश्यक है।

श्रवण=श्रोतेन्द्रिय मन सहित ज्ञान सुनकर सोचने की योग्यता प्राप्त होना जितना सरल है, उतना ज्ञान प्राप्ति का योग मिलना सरल नहीं है। बेचारे नारकों और तिर्यंचों को कौन ज्ञान सुनाता है। देवों में भी बहुत से भोग विलास में सराबोर रहते हैं। यह योग विशेषकर मनुष्यों को प्राप्त होता है।

मनुष्यों में भी सम्यग् ज्ञान के सुनाने वाले कितने ? अनार्य देशों में ऐसा सुयोग प्राप्त होना कठिन ही है, किन्तु आर्य देश में भी ऐसा योग सरल नहीं है। मिथ्यात्व के चंगुल में फँसे हुए प्राणियों को सम्यग्ज्ञान के श्रवण का सुयोग प्राप्त होना असंभवसा है। भोग प्रधान रुचि वाले मनुष्यों को त्याग धर्म कैसे रुचे ? दर्शन–मोह के उदय से प्राप्त सुयोग और ज्ञान श्रवण करनेवाले भी सम्यक्त्व का वमन कर देते हैं, तो जो जन्म से तथा कौटुम्बिक आदि परिस्थितियों से ही निरन्तर मिथ्या वार्तों के सुनने में रुचि रखते हैं, उन्हें सम्यग्ज्ञान श्रवण करने का सुयोग मिले ही कैसे ? तात्पर्य यह कि यदि

श्रवण की भूमिका प्राप्त हो गई तो ज्ञान की प्राप्ति होना बड़ा ही कठिन है। उदय भाव के वश में होकर जीव श्रवण भूमिका को प्राप्त करके भी ज्ञान से वंचित रह जाते हैं और जीवन समाप्त कर ऐसी विषम स्थिति को प्राप्त कर लेते हैं, कि जिससे पुनः श्रवण भूमिका प्राप्त होना ही कठिन हो जाय।

पुण्योदय से किसी जीव को श्रवण के साथ सम्यग्ज्ञान सुनने या पढ़ने का सुअवसर प्राप्त हो भी जाय, तो 'विज्ञान' भूमिका का प्राप्त होना कठिन हो जाता है। यह विज्ञान भूमिका ही तो सम्यक्त्व प्राप्ति करवाती है। सुनते तो बहुत हैं, पर उस पर चिन्तन मनन करके अवधारण करनेवाले तो विरले ही होते हैं। संसार में ऐसे प्राणी भी होते हैं। जिन्हें सम्यग्ज्ञान—वीतराग वाणी सुनने का सुयोग प्राप्त होता है, वे सुनते भी हैं, और ज्ञान का अध्ययन भी करते हैं, यहाँ तक कि पूर्वधर हो जाते हैं। नौ पूर्व से अधिक ज्ञान का अभ्यास करके महापण्डित जैसे हो जाते हैं; फिर भी विज्ञान भूमिका की प्राप्ति के अभाव में वे मिथ्यादृष्टि ही रहते हैं। उनके पढ़ने का लक्ष्य, आत्म कल्याण का नहीं होता। वे परीक्षा में उच्च श्रेणी में उत्तीर्ण होकर महापण्डित कहलाना तथा लौकिक सुख सामग्री प्राप्त करना चाहते हैं। ऐसे विज्ञान भूमिका से शून्य व्यक्ति उम्र भर पढ़ते—सुनते रहें, तो भी मिथ्यादृष्टि ही रहते हैं।

जिस प्रकार भूमि पर अनुकूल वर्षा हो जाय, खूब—खूब पानी बरसे, किन्तु कृषक बीज ही नहीं बोवे, तो फल कैसे

मिले। उसी प्रकार श्रवण रूपी क्षेत्र में ज्ञान की वर्षा तो खूब होती रहे, पर विज्ञान का बीज ही नहीं बोया जाय तो सम्यक्त्व रूपी फल मिले ही कैसे? अथवा वर्षा खूब हो रही हो, किन्तु उस पानी को पीकर पेट में उतारा ही नहीं जाय तो प्यास मिटे कैसे? जब तक विज्ञान भूमिका प्राप्त नहीं होती, तब तक मिथ्यात्व की उष्णता दूर होकर सम्यक्त्व रूपी शीतलता प्राप्त नहीं होती। विज्ञान रहित ज्ञान प्राप्त करने वाले, तो कोई अभव्य जीव भी हो सकते हैं, किन्तु उससे उनका मिथ्यात्व नहीं मिटता। वास्तव में विज्ञान भूमिका ही सम्यक्त्व रत्न को प्रदान करती है। इसके बाद विरति धर्म की प्राप्ति होती है **'सवणे णाणे य विन्नाणे, पच्चक्खाणे य संजमे,'** तात्पर्य यह कि श्रवण से ज्ञान, ज्ञान से विज्ञान विज्ञान से प्रत्याख्यान और प्रत्याख्यान से संयम की प्राप्ति होती है। जो निसर्गरुचि सम्यक्त्ववाले हैं, वे भी प्रायः पूर्वभव में विज्ञान भूमि को प्राप्त किये हुए होते हैं। अतएव श्रवण और ज्ञान का सुयोग पाकर विज्ञानभूमिका को बलवान एवं सुदृढ़ बनाने का प्रयत्न करते ही रहना चाहिए।

महान् सिद्धि

धर्म के ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप ये चार भेद हैं। मोक्ष मार्ग चारों ही भेदों से युक्त है। इन चारों की उत्कृष्टता ही से मोक्ष प्राप्त होती है। लेकिन इन चारों में भी सम्यग्दर्शन का महत्व अत्यधिक है। ज्ञान, चारित्र और तप

से भी इसका मूल्य बहुत अधिक है। बिना सम्यग्दर्शन के यदि नौ पूर्व से अधिक ज्ञान पढ़ लिया, उच्च चारित्र का पालन कर लिया और उग्र तपस्या से देह को कृश बना डाला, तो फल क्या हुआ ? अकाम निर्जरा और शुभ बन्ध ही न ? जो चारित्र और तप, सम्यग्दर्शन के साथ होने पर मोक्ष दिलाने वाला होता है, वही इसके अभाव में स्वर्गीय सुख देकर फिर दुःख परम्परा में गिराने वाला हो जाता है। तब मूल्य किसका अधिक हुआ ? सम्यग्दर्शन का ही न ?

सम्यग्दर्शन में वह शक्ति है कि इसकी उपस्थिति में दुर्गति का बन्ध हो ही नहीं सकता, यदि वह साथ नहीं छोड़े, तो चारित्र की प्राप्ति करा ही देता है—इस भव में नहीं हो तो पर भव में।

जीव, पहले तो अकाम निर्जरा के द्वारा ६९ क्रोड़ाक्रोड़ सागरोपम की मोहनीय की स्थिति को तोड़ता है, उसके बाद सम्यक्त्व प्राप्त करता है। सम्यक्त्व प्राप्ति के समय भी उसके एक क्रोड़ाक्रोड़ सागरोपम लगभग स्थिति के कर्म होते हैं। यदि जीव सम्यक्त्व को पाकर उसे दृढ़ता पूर्वक पकड़ रक्खे, तो वह अधिक से अधिक ६६ सागरोपम जितने काल में ही समस्त कर्मों को नष्ट करके मुक्ति प्राप्त कर सकता है और यह ६६ सागरोपम की स्थिति भी अधिकतर दैविक सुखों में बीतती है। बीच के मनुष्य भव भी उसके सुखों से पूर्ण होते हैं।

विचार करिये, अधिक निर्जरा किससे होती है? अनन्त संसार का अन्त कौन करता है? एक सम्यग्दर्शन ही ऐसा है कि जिसके चलते अनन्त पुद्गल परावर्त्तन का संसार भ्रमण नष्ट होकर अधिक से अधिक अर्ध पुद्गल परावर्त्तन तक सिमट जाता है और सम्यग्दर्शन से रहित चारित्र का पालन किया जाय, तो वह चारित्र और तप कितना ही उग्र क्यों न हो, एक भी भव कम नहीं होता। बिना सम्यक्त्व के उच्च चारित्र और उग्र तप का पालन करने वाले अभव्यों के अनन्त भव भ्रमण में कुछ भी कमी नहीं होती। दूसरी ओर कोई अनपढ़ हो—अधिक पढ़ा लिखा नहीं हो, चारित्र के गुण भी उसमें नहीं हों, किन्तु सम्यक् श्रद्धा युक्त हो, तो उसका भी मूल्य है—महत्व है। वह दर्शन गुण, उस आत्मा में चारित्र गुण भी जगा देगा और मुक्ति प्राप्त करा देगा। अतः स्पष्ट हो चुका कि सम्यग्दर्शन के बिना पढ़ा हुआ श्रुत भी सम्यग्ज्ञान नहीं होता, पाला हुआ चारित्र भी सम्यग् चारित्र नहीं होता, और तपा हुआ उग्र तप भी सम्यग् तप नहीं होकर अकाम निर्जरा का ही कारण होता है। आराधना की दृष्टि से सम्यग्दर्शन के विना तीनों बेकार हैं, किन्तु इन तीनों के विना अकेला सम्यग्दर्शन भी मूल्यवान है। इन तीनों को लाकर मोक्ष में पहुंचाने वाला है। सम्यग्दर्शन ही मोक्ष महल की आधार शिला है, अतएव यह महा मूल्यवान रत्न है। तीन रत्नों में बहुमूल्य वस्तु सम्यग्दर्शन है। इसकी प्राप्ति, रक्षण और संवर्धन में सदैव प्रयत्न शील रहना चाहिए और

आगे बढ़कर सम्यग्ज्ञान तथा चारित्र वृद्धि का प्रयत्न करना चाहिए।

चारित्र केवल इस भव का ही साथी रहता है। भवान्तर में जाते समय चारित्र साथ नहीं जाता। मोक्ष पाने वाले का चारित्र भी यहीं छूट जाता है, किंतु दर्शन तो भवभव का साथी है। यदि आत्मा उदय भाव के वश होकर इसे नहीं छोड़े, तो यह भवान्तर में भी साथ जाता है, यहां तक कि मुक्ति में भी यह साथ रहता है।

उपरोक्त कथन का आशय, चारित्र के महत्व को गिराने का नहीं है, और यह भी सत्य है कि यदि विज्ञान भूमिका प्राप्त होने के बाद प्रत्याख्यान भूमिका नहीं आवे और चारित्र को प्राप्त नहीं करे, तो निश्चय ही वह सम्यक्त्वरत्न को गँवाकर मिथ्यात्व में गिर जाता है। यों सम्यक्त्व की स्थिति ६६ सागरोपम से कुछ अधिक बताई है, लेकिन विचार करते और एक विद्वान आचार्य के मत से यह लगता है कि ये ६६ सागरोपम भी चौथे गुणस्थान में नहीं बीतते हैं। बीच में प्रत्याख्यान भूमिका आती है; तब ६६ सागरोपम तक सम्यक्त्व रह सकती है। श्रीमद् सागरानन्दसूरिजी तो लिख गये कि-'के तो आगल वध, के राजी नामुं आप,' अर्थात् सम्यग्दर्शन रूप चौथे गुणस्थान से आगे बढ़कर प्रत्याख्यान की भूमिका में आने पर ही सम्यग्दर्शन, ६६ सागरोपम जाजेरा रह सकता है और मुक्ति दिला सकता है। यदि प्रत्याख्यान भूमिका में नहीं आवे, तो पीछे हटकर मिथ्यात्व में जाना पड़ता है। दर्शन प्राप्ति के बाद चारित्र, मुक्ति का

प्रत्यक्ष साधन हो जाता है। दर्शन का गुणस्थान मात्र एक ही है–चौथा, और शेष दस गुणस्थान चारित्र के ही हैं। अतएव चारित्र का महत्व भी कम नहीं है। लेकिन यह महत्व दर्शन सहचारी चारित्र का ही है, दर्शन रहित चारित्र का महत्व कुछ भी नहीं है। आगे के सभी गुणस्थानों में दर्शन साथ रहता ही है। तात्पर्य यह कि चारित्र भी वही मूल्यवान् और कार्य साधक होता है, जो सम्यक्त्व युक्त हो।

जिस प्रकार मोहनीय कर्म के क्षय हो जाने के बाद शेष तीन कर्मों का क्षय हो जाना सरल होता है और अघाति कर्मों का क्षय भी सरल हो जाता है, उसी प्रकार दर्शन-मोहनीय के हटने से चारित्रमोहनीय का क्षयोपशमादि भी देरअवेर होता ही है अर्थात् सम्यक्त्व प्राप्ति के बाद देर से भी हो, पर कभी न कभी चारित्र की प्राप्ति हो ही जाती है, क्योंकि सम्यग्दृष्टि जीव, चारित्र रुचि वाला होता है। यदि वर्त्तमान में वह चारित्र-मोहनीय के उदय से चारित्र का अंशत: भी आराधन नहीं कर सकता, तो उसकी चारित्र रुचि उसे कालान्तर में चारित्र दिलाकर रहेगी।

विज्ञान भूमिका की दशा

विज्ञान भूमिका को प्राप्त हुई भव्यात्मा में निर्ग्रंथ प्रवचन के प्रति अत्यन्त रुचि होती है। वह स्वीकार करती है कि–

"सद्दहामिणं भंते ! निग्गंथं पावयणं, पतियामिणं भंते ! निग्गंथं पावयणं, रोयामिणं भंते ! निग्गंथं पावयणं"।

भगवन् ! मैं निर्ग्रंथ प्रवचन की श्रद्धा करता हूँ। यह श्रद्धा तो ओघसंज्ञा से भी हो सकती है। शास्त्रों में लिखा, इसलिए 'तमेव सच्चं णिःसंकं जं जिणेहिं पवेइयं' मानकर श्रद्धा व्यक्त की जा सकती है, लेकिन साधक आगे बढ़कर उत्साह पूर्वक कहता है कि 'मैं निर्ग्रंथ प्रवचन की अपूर्वता-सर्वश्रेष्ठता की प्रतीति-विश्वास-खातरी करता हूँ। प्रतीति करने के बाद यदि रुचि-अपनाने की इच्छा व आदर नहीं करे तो भी न्यूनता रहती है, इसलिये वह यह भी कहता है कि-मैं 'निर्ग्रंथ प्रवचन में रुचि रखता हूं,' इस प्रकार जिसकी दशा हो, वही विज्ञान भूमिका को प्राप्त सम्यग्दृष्टि है। वह अपने हृदय में दृढ़ता पूर्वक मानता है कि "इस विश्व में एक मात्र निर्ग्रंथ प्रवचन ही आत्मा के लिए वास्तविक अर्थ-प्रयोजन है। यही परमार्थ है। इसके सिवाय सभी अनर्थ हैं, दुःख परम्परा के बढ़ाने वाले हैं, अनादि संसार के हेतु हैं"। इस प्रकार का श्रद्धा बल, प्रातः स्मरणीय आनन्द, कामदेव और अरहन्नक आदि श्रेष्ठ श्रमणोपासकों में था। वे गृहस्थ होते हुए भी जिनेश्वर द्वारा प्रशंसित थे। उनकी दृढ़ता साधुओं के लिए भी आदर्श रूप थी। इस प्रकार की दृढ़ श्रद्धा, क्षायोपशमिक सम्यक्त्व में होते हुए, क्षायिक सम्यक्त्व की कारण बनती है और यथाख्यात चारित्र प्राप्त करवा कर जैन से जिनेश्वर बना देती है।

वर्त्तमान युग में दर्शनमोहनीय के उदय से प्रेरित, कई जैन नामधारी लोग, श्रद्धालुओं की श्रद्धा को नष्ट करने के लिए 'सर्वधर्म समभाव' की मीठी जहर की गोली खिला कर दर्शन रूपी आरोग्यता को नष्ट करते हैं और मिथ्यात्व रूपी रोग के घर बना देते हैं। नकली वस्तु देकर असली वस्तु छीनते हैं। मोक्ष मार्ग छुड़वा कर संसार मार्ग में जोड़ते हैं। ऐसे लोगों से सावधान रहना चाहिए और अपने सम्यक्त्व रूपी महान् रत्न की रक्षा करनी चाहिए।

मूल आधार

सम्यक्त्व का मूल आधार, देव तत्त्व पर विश्वास करना है, क्योंकि धर्म का उद्गम स्थान ही देव है। सर्वज्ञ जिनेश्वर देव द्वारा उपदिष्ट धर्म ही सत्य-परम सत्य, तथा शाश्वत सुखों का देने वाला है। यही धर्म उपादेय है। परमार्थ साधक और परमपद के इच्छुक को सबसे पहले धर्म के उद्गम स्थान-देव तत्त्व को पहिचानना चाहिए। जिस प्रकार ग्राहक के सामने असली, नकली, बढ़िया, घटिया, विशुद्ध, अशुद्ध, निर्दोष, सदोष और अच्छी बुरी सभी तरह की चीजें बाजार में आती हैं। यह ग्राहक की योग्यता और विवेक बुद्धि पर निर्भर है कि वह कैसी वस्तु अपनावे। असली ले या नकली, अच्छी ले या बुरी। इसी प्रकार आत्म साधक व्यक्ति के सामने भी इस संसार रूप बाजार में अनेक धर्म

और मन्तव्य उपस्थित हैं। उन सब में से किसे अपनाना, यह साधक की विवेक बुद्धि को सोचना है। बुद्धिमान परीक्षक सोचता है कि मैं किसकी बात मानूं ? जो बुराइयाँ और खामियाँ मुझमें हैं, उन्हीं बुराइयों और खामियों के पात्र का पल्ला पकड़ने से मेरा निस्तार नहीं होगा। जो स्वयं विषय और कषाय में ओतप्रोत है, रागद्वेष से जिनका सम्बन्ध दृढ़ता पूर्वक लगा हुआ है, और जो अज्ञान के पाश से मुक्त नहीं हुए हैं, उनका आश्रय लेने से मेरा क्या हित होगा ? जिस प्रकार दरिद्र की सेवा से कोई धनवान नहीं हो सकता, उसी प्रकार संसार रत प्राणी की सेवा से मुक्ति लाभ नहीं हो सकता। इस प्रकार सोचते हुए जिस सद्भागी साधक की दृष्टि जिनेश्वर देव की ओर जाती है, वह सहसा बोल उठता है कि–

"अहो, ! मिल गया, अचिन्त्य चिन्तामणि मिल गया। भव्य जीवों का जीवन आधार, विश्वत्राता, जिसे मैं विश्व की धर्म हाटों में ढूंढ़ रहा था वह धर्मराज, प्रकृति की सुन्दर वाटिका के शान्त एकान्त स्थान में मिल गया। अहो ! इस विश्व हितङ्कर में कितनी शान्ति विराज रही है। इस महा–मानव में न तो विषयों के विष का लेश है और न कषायों का कलुष ही। रागद्वेष विहीन यह विश्व–पिता, प्रत्येक भव्य को यही सन्देश देता है कि–

"देवाणुप्पिया। बुज्झ ! बुज्झ !! बुज्झ !!!

संबुज्झं किं न बुज्झई" ! मैंनें उस लोकनायक का महान् उपदेश सुना। वह सर्वज्ञ था। उसकी वाणी अपूर्व एवं अविरुद्ध थी। दुनिया के दूसरे धर्म नायकों की तरह उसकी वाणी में विसंवाद नहीं था। उस सर्वदर्शी धर्म सम्राट ने विश्व के ऐसे रहस्य प्रकट किये कि जिन्हें दुनिया का दूसरा कोई भी देव नहीं जान सका। अहो! मैं कितना भाग्यशाली हूं। आज मुझे मेरा तारक मिल गया। मैं निहाल हो गया। संसार की समस्त संपत्ति मुझे मिल गई"।

जो वीतराग एवं सर्वज्ञ हो, वहीं सच्चा मार्ग दर्शक हो सकता है। तत्त्वों का वास्तविक स्वरूप और आत्मोत्थान की उत्तम विधि वही बता सकता है। वह दुनियां के दूसरे देवों की तरह रुष्ट और तुष्ट नहीं होता। वह प्रत्येक आत्मा में परमात्म सत्ता स्वीकार करता है। वह किसी एक ईश्वर को जगत् का नियामक स्वीकार नहीं करता। उसके तत्त्वज्ञान में अनन्त ईश्वरों का अस्तित्व है और सम्यग् पुरुषार्थ द्वारा कोई भी आत्मा, परमात्मा बन सकता है-ऐसा उसका उद्घोष है। उसके मार्ग में छोटे बड़े और सूक्ष्म प्राणियों तक की अहिंसा का अद्वितीय विवेक हैं। आत्म शुद्धि का क्रम तथा कर्म निर्जरा का जैसा स्वरूप, जिनेश्वर के धर्म में है, वैसा अन्यत्र कहां है ?

वर्त्तमान में, उस विश्वोत्तम द्वारा सुवासित वातावरण में रहकर भी जो जीव, उसको नहीं पहिचान सकते और

दूसरे सरागी सद्वेषी तथा अल्पज्ञों के चक्कर में पड़कर, उस परमवीतरागी, सर्वज्ञ सर्वदर्शी परमात्मा को, असर्वज्ञ एवं सरागी बताते हैं और उसका महत्व गिराकर उसे निम्न कोटि का बताते हैं, वे सचमुच जिन धर्म के विरोधी हैं । भव्य-प्राणियों को मिथ्यात्व में भटकाने वाले हैं और हैं मोक्षमार्ग के प्रत्यनीक । ऐसे व्यक्तियों के हाथ में यदि नेतृत्व आजाय, तो वे अपनें कुकृत्यों से इस उत्तमोत्तम मार्ग का लोप करने में ही अपनी शक्ति लगाते हैं । जो जिनेश्वर भगवंतो की वीतरागता सर्वज्ञता नहीं मानते, वे जैनत्व से ही इन्कार करते हैं । जब जिनेश्वर वीतराग नहीं, सर्वज्ञ सर्वदर्शी नहीं, तो उनका उपदिष्ट मार्ग भी विशुद्ध नहीं । उनमें भूल एवं स्खलना हो सकती है,तो उसके मार्ग के प्रचारक गुरु वर्ग भी उसी दूषित मार्ग के प्रचारक हो सकते हैं । धर्म का मूल उद्गम स्थान ही जहां त्रुटि पूर्ण हो, तो उनका धर्म और उसके आश्रित गुरु वर्ग भी त्रुटि पूर्ण ही होता है । इस प्रकार भगवान् जिनेश्वर देवों की वीतराग, और सर्वज्ञ-सर्वदर्शिता को नहीं मानने वाले उनके मार्ग को भी त्रुटि पूर्ण माने तो इसमें सन्देह ही क्या है ? ऐसे लोग जिनेश्वर तथा उनके तत्त्वोपदेश तथा मुक्ति मार्ग के विरुद्ध प्रचार करने वाले हैं, उनका महत्व गिराने वाले हैं । वे भव्य जीवों के हित-शत्रु हैं ।

हाँ, तो धर्म का उद्गम स्थान देव तत्त्व है । आत्मा को परमात्मा बनाने वाली प्रक्रिया का वास्तविक उपदेष्टा

यदि कोई है, तो केवल सर्वज्ञ सर्वदर्शी जिनेश्वर भगवंत ही है। धर्म के इस मूलाधार को यथार्थ रूप में मानने वाला, उनके प्रवचनों पर पूर्ण श्रद्धा रखने वाला ही सम्यक्त्व युक्त हो सकता है। जिसके हृदय में जिनेश्वर भगवंतों की परम वीतरागता, सर्वज्ञ सर्वदर्शिता तथा उनके निर्ग्रंथ प्रवचन में श्रद्धा नहीं-दृढ़ श्रद्धा नहीं, वह सम्यग्दृष्टि नहीं है-मिथ्यादृष्टि है।

जो धर्म के मूलाधार ऐसे देव तत्त्व पर श्रद्धा रखता है, वही गुरु तत्त्व पर भी श्रद्धा रखता है। गुरु के गुरुत्व की कसौटी उसके सामने मौजूद रहती है। देव के बताए हुए लक्षणों से युक्त, सर्व त्यागी, मुक्ति पथ के पथिक, निरवद्य जीवन व्यतीत करने वाले और जिनेश्वर भगवंत के वचनों का प्रचार करने वाले ही सच्चे गुरु हैं। वे मुक्ति पथ के सार्थ हैं। आचार्य उनके सार्थवाह है, इतना ही नहीं, वे जिनेश्वर भगवंत के प्रतिनिधि हैं और अपनी साधना से वे शीघ्र ही जिनेश्वर के समान होनें वाले हैं। ये निर्ग्रंथ मुनिराज सम्यग्दृष्टियों के लिए दूसरे आधार हैं।

वर्त्तमान समय में इस गुरुपद का वेश धारण करके कई लोग अपनी कुश्रद्धा और कदाचार से निर्ग्रंथ धर्म का लोप करते हैं। कई संसार मार्ग के प्रचारक बन गये हैं। उन्हें अपने वेश का भी ख्याल नहीं होता। वे जैन मुनि कहाते हुए भी जिनेश्वरों का महत्व गिरावें, और उन्हें अन्य सरागी अल्पज्ञों की श्रेणी में रक्खे, तथा सावद्य प्रचार करें, तो वे

वास्तव में सुगुरु नहीं हैं–कुगुरु हैं, सुगुरु के वेश में कुगुरु हैं। सम्यग्दृष्टियों का कर्त्तव्य है, कि ऐसे धर्म घातक स्वांगधारियों का संसर्ग भी, कुगुरु त्याग की तरह त्यागना चाहिए। ऐसे लोग, तथारूप के कुगुरु से भी अधिक भयानक होते हैं।

सम्यक्त्व प्राप्ति और स्थिति का तीसरा आधार, सम्यग् श्रुत है। सम्यग्श्रुत वह है, जिसमें निर्ग्रंथ प्रवचन सुरक्षित हैं। ऐसे आचारांगादि सम्यग् श्रुत के श्रवण, पठन, मनन से सम्यक्त्व की प्राप्ति, स्थिति, रक्षा और वृद्धि (दृढ़ता) होती है। सम्यग्–श्रुत, उत्थान में सहायक होता है। इसके आधार से हम देव और गुरु का स्वरूप, अगार और अनगार धर्म तथा निर्वाण मार्ग को जान सकते हैं और यथा शक्य आचरण करके उन्नत हो सकते हैं।

सम्यग्दृष्टि मनुष्यों के लिए सम्यग् श्रुत ही अवधि, मनःपर्यव और केवलज्ञान का मार्ग प्रशस्त करता है। सम्यग् श्रुत के अवलंबन से आत्मा अशुभ परिणति से बचकर प्रशस्त भावों में विचरण करता है। यह श्रुतावलम्बन ही आत्मा–वलम्बन का कारण है। इससे परावलम्बन छूटकर आत्मा–वलम्बन बढ़ता है।

सम्यक्त्व के बिना चारित्र भी व्यर्थ

'सम्यग्दर्शन' ही सिद्धि का प्रथम सोपान है, धर्म की मूल भूमिका है। इसके बिना प्राणी अनाराधक रहता है, फिर भले ही वह प्रशान्त कषायी और शुक्ललेश्या युक्त

क्यों न हो। प्रथम गुणस्थान में पांचों महाव्रतों का कठोरता से पालन भी होता है, उग्र तपस्या भी होती है। इतना होते हुए भी वह आराधक नहीं माना जाता। उसका गुणस्थान पहला ही होता है। इसका मुख्य कारण यही है कि उस क्रिया के साथ धर्म का आधारभूत सम्यग्दर्शन नहीं है। वह सारी साधना बिना नींव के हवाई महल के समान है। गुब्बारा (फुग्गा) वहीं तक आकाश में ऊँचा उड़ता रहता है जब तक कि उसकी हवा नहीं निकले। जबतक उग्र आचार से प्राप्त शुभ कर्म रूपी हवा की शक्ति है, तबतक वह प्राणी दैविक सुख पाता रहता है, और जहाँ यह शक्ति खत्म हुई, तो ऐसा नीचे गिरता है कि फिर उसके लिए दुःख परम्परा ही मुख्य रह जाती है। सम्यक्त्व के अभाव में उसकी साधना, आराधकता की सीमा में नहीं आसकती।

दूसरी ओर चौथे गुण स्थान में अठारह पाप में से एक मिथ्यात्व जाता है और शेष १७ पापस्थान रहते हैं। फिर भी वह आराधना की जघन्य सीमा में तो आ ही जाता है।

एक ओर १७ पापस्थान रहते हुए भी आराधक, और दूसरी ओर चारित्राचार का कठोरता से पालन करते हुए भी अनाराधक। पहले के लिए चौथा गुणस्थान, तब दूसरे के लिए पहला ही। इसका मुख्य कारण ही सम्यक्त्व की महिमा है, यथार्थ श्रद्धान का महत्व है। जिसकी दृष्टि सुधर गई, उसका आचरण भी सुधरता ही है। चारित्र-मोहनीय

कर्म के उदय से यदि वह इस भव में चारित्र प्राप्त नहीं कर सकता, तो अगले मनुष्य भव में चारित्र प्राप्त कर लेगा, यदि अगले मनुष्य भव में चारित्र प्राप्त नहीं किया और सम्यक्त्व का संबल भी छूट गया, तो एक बार के सम्यक्त्व के संस्कार उसमें फिर से सम्यक्त्व को जगा देगा और अधिक से अधिक अर्ध पुद्गल परावर्त्तन तक तो उसे मोक्ष में पहुँचा ही देगा।

ज्ञान भी अज्ञान

मिथ्यात्व के सद्भाव में ऊँचे प्रकार का ज्ञान भी अज्ञान होता है। ये प्राणी ऐसे होते हैं, जिनमें ज्ञानावरणीय के क्षयोपशम से जानकारी अधिक होती है। नवपूर्व से अधिक ज्ञान तक पा लेते हैं, किन्तु वे ज्ञानियों की दृष्टि में अज्ञानी ही रहते हैं। जिस प्रकार सम्यक्त्व के अभाव में उग्र चारित्र भी अचारित्र रहता है, उसी प्रकार सम्यक्त्व के अभाव में पूर्वों का आगमिक ज्ञान भी अज्ञान होता है और तप भी बन्ध का कारण होता है।

सम्यक्त्व प्राप्त होते ही उसी समय अज्ञान, ज्ञान के रूप में परिवर्तित हो जाता है। एक समय का भी अन्तर नहीं रहता, फिर भले ही वह स्वल्प ही हो। और बिना सम्यक्त्व के पूर्वों का ज्ञान भी अज्ञान। सम्यक्त्व में वह शक्ति है कि वह अज्ञान को ज्ञान बना देती है।

इतना महत्त्व क्यों ?

कोई पूछ सकता है कि 'सम्यक्त्व को इतना महत्व क्यों दिया गया ? ज्ञान, चारित्र और तप से भी सम्यक्त्व को अत्यधिक महत्व देने का कारण क्या है' ? प्रश्न ठीक है, इसके समाधानमें कहा जाता है–किसी भी कार्य में प्रवृत्ति करने के पूर्व उसके उद्देश्य, नियम तथा परिणाम को समझ लेना आवश्यक है। बिना सोचे समझे किया हुआ प्रयत्न बेकार जाता है और दुःखदायक भी हो जाता है।

आँखों पर पट्टी बाँधकर चलने वाला या अन्धा व्यक्ति, गलत दिशा में चलकर इच्छित स्थान से उलटा दूर भी चला जाता है, और कूएँ या खड्डे में गिरकर जान से भी हाथ धो लेता है। यदि उसकी आँखों की पट्टी खुलजाय या नैत्र की ज्योति प्राप्त करले, तो वह खाई खड्डे से बचकर निश्चित स्थान पर पहुँच सकता है।

एक बाई यदि बिना सोचे समझे भोजन की सामग्री का उपयोग करे, और हलवे में नमक, मिर्च, और मसाले मिलादे, तथा दाल शाक में शकर आदि डाल दे, तो वह परिश्रम करते हुए और मूल्यवान् सामग्री लगाते हुए भी विफल तथा निन्दा की पात्र होगी।

एक निशाने बाज, पूरी शक्ति से और बढ़िया साधनों से निशाना लगावे, किन्तु उसकी दृष्टि सधी हुई नहीं है, तो

वह निशाना नहीं वेध सकेगा। उसका निशाना चूक जायगा, और उसका प्रयत्न बेकार हो जायगा।

दो भूखे चूहे, भोजन की तलाश में निकले। उन्हें मिठाई की सुगन्ध आगई थी। उस घर में एक सँपेरा ठहरा था। उसके एक करंडिए में साँप और दूसरे में मिठाई थी। एक चूहे ने करंडिए को सूँघा।, पहले में उसे सुगन्ध नहीं आई, वह दूसरे करंडिए के पास गया और सुगन्ध पाकर उसे काट-कर मिठाई खाई। दूसरे चूहे नें बिना सोचे समझे साँप वाले करंडिए को काटा, और साँप का भक्ष बन गया।

यह है बिना सोचे समझे प्रयत्न का परिणाम। बिना सोचे समझे प्रयत्न करने से सुख के बजाय दुःख पल्ले पड़ता है और राष्ट्र तक बरबाद हो जाते हैं। इससे सम्यग्दर्शन का महत्व समझ में आ सकता है। सम्यग्दर्शन के अभाव में ही जीव, अनादिकाल से संसारअटवी में परिभ्रमण कर रहा है। इसके बिना कठोर संयम तथा उग्र तप भी, बेकार से रहे। यह है सम्यग्दर्शन का महत्त्व।

स्वच्छन्दता नहीं चलती

इस प्रकार सम्यक्त्व रूपी महान् रत्न की प्राप्ति सरल नहीं है। यह किसी की इच्छा या समझ पर आधारित नहीं है और न किसी के अभिप्रायों से इसका रूप बनता बिगड़ता है। यह अपने आप में जैसा है वैसा ही है। सर्वज्ञ

भगवंतो ने सम्यग्दर्शन का जो स्वरूप बताया है, वही सत्य, तथ्य और यथार्थ है। उसीकी आराधना से ध्येय की सिद्धि होती है।

यदि कोई लौकिक विद्याओं का पण्डित' विश्व-विद्यालयों का प्रोफेसर, प्रिंसिपल अथवा भौतिक विज्ञान का आचार्य सम्यग्दर्शन के विषय में अपना अभिप्राय व्यक्त करे, और वह आप्त वचनों से किञ्चित् भी विपरीत लगता हो, तो उसे स्वीकार नही किया जा सकता, क्योंकि वीतराग सर्वज्ञ भगवंतो के सिद्धांत में छद्मस्थ त्रुटि नहीं बता सकता। वह इसके योग्य ही नहीं है। आजकल के प्रोफेसरों को तो पूर्व के ज्ञान का अंश भी ज्ञात नहीं है, जब नौ पूर्व से अधिक पढ़े हुए भी मिथ्यादृष्टि हो सकते हैं, तो आज कल के इन प्रोफेसरों की हस्ति ही क्या है? ये तो उनके सामने बेंतिये और वामन से भी छोटे हैं। यदि इनकी स्वच्छन्द बुद्धि के अनुसार सम्यग्दर्शन का रूप बनता हो, तो वह एक रूप में रह भी नहीं सकता। भिन्न भिन्न पण्डितों के भिन्न भिन्न मत होते हैं, किन्तु सम्यग्दर्शन का रूप तो एक ही है। अतएव इसके स्वरूप के विषय में किसी को अपनी टांग अड़ाना, निरी हिमाकत है, अनधिकार हस्तक्षेप है। एक अश्रद्धालु=कुश्रद्धालु, जिनेन्द्र भगवान् के सिद्धांतों को बिगाड़ने की कुचेष्टा करे, यह उसकी स्वच्छन्दता का नग्न ताण्डव ही है।

एक भाषा शास्त्री है, वह आरोग्य शास्त्री, न्यायशास्त्री, युद्ध विद्या विशारद, वाणिज्य निपुण और कृषि विशारद आदि नहीं हो सकता—यह सब कोई जानता है। तब वह धर्म विशारद, धर्मज्ञ और धर्म का महाज्ञानी बनने का ढोंग करके आप्त सिद्धांतों को झुठलाने की कुचेष्टा क्यों करता है ? वह जिन शब्दों और वाक्यों का अपनी स्वच्छन्दता पूर्वक भिन्न अर्थ करता है और संस्कृति के प्रतिकूल परिणाम निकालता है, क्या यह उसकी अनधिकार चेष्टा नहीं है ?

आत्मार्थियों का कर्त्तव्य है कि वे हिताहित को समझे और कुप्रचारकों के चक्कर में नहीं आकर जिनेश्वर भगवंतो के वचनों पर पूर्ण विश्वास रखें। अपनी श्रद्धा की सुरक्षा ही संसार से पार उतारने वाली प्रथम शक्ति है। परम दुर्लभ सुश्रद्धा को पाकर, जो उसे सुरक्षित रखता हुआ आगे बढ़ेगा, वह अवश्य मुक्ति लाभ करेगा।

सम्यग्दर्शन जीव के लिए महान् आधार स्तम्भ है। जब तक इसकी प्राप्ति नहीं होती, तब तक अनन्त जन्म मरण का बीज—मिथ्यात्व मौजूद ही रहता है। मिथ्यात्व की जड़ काट देना, मानो अनन्त जन्म मरण की जड़ काटना है। संसार में सर्वत्र मिथ्यात्व भरा हुआ है। अनन्तानन्त जीव, मिथ्यात्व के चंगुल में फँसे हुए हैं। सारा वातावरण, मिथ्यात्व मय बना हुआ है। ऐसे वातावरण में सम्यक्त्व की खैर कहाँ ? जिस प्रकार भयानक वन में, जीवन और धन की सुरक्षा होना कठिन हो जाता है, उसी प्रकार मिथ्यात्व से भरपूर

संसार में, सम्यक्त्व का सुरक्षित रहना भी कठिन हो जाता है। कई भोले जीव लुट जाते हैं, अपने सम्यक्त्व रत्न को खो बैठते हैं और फिर से मिथ्यात्व के चंगुल में फँस जाते हैं। इनमें से कई तो अनन्त जन्म मरण कर लेते हैं। इस प्रकार मिथ्यात्व महा भयानक डाकू है। जितना बल चारित्रावरणीय मोह का नहीं, उतना दर्शनावरणीय मोह का है। उनहत्तरकोड़ाकोड़ी सागरोपम से भी अधिक स्थिति दर्शनावरणीय मोह की है। जीव का भयानक शत्रु, मिथ्यात्व है। इस मिथ्यात्व के चंगुल में दृढ़ता पूर्वक जकड़ा हुआ प्राणी, अनादि काल से दुःख भोग रहा है। यदि जीव का सम्यग् पुरुषार्थ जागृत होकर एक बार थोड़ी देर के लिए भी—अन्तर्मुहूर्त मात्र भी सम्यक्त्व को अपना ले—एक बार आधार स्तंभ को पकड़ ले, तो निहाल हो जाय। फिर मिथ्यात्व का उस पर उतना जोर नहीं चल सकता। कभी वह जीव पुनः मिथ्यात्व के चक्कर में आ भी जाय, तो उसके सम्यक्त्व के संस्कार उसका उद्धार करके ही छोड़ते हैं। फिर उस आत्मा की मुक्ति में सन्देह नहीं रहता। मिथ्यात्व की यह शक्ति नहीं कि उस आत्मा को अर्धपुद्गल परावर्त्तन से अधिक, संसार में रोक सके। यह सम्यक्त्व रूपी महान् आधार स्तंभ अपतित जीवों के लिए तो उपकारी है ही, उन्हें १५ भव से अधिक नहीं करने देता। किन्तु उन पतित जीवों के लिए भी महान् उपकारी है कि जिन्हें अर्धपुद्गल परावर्त्तन से पूर्व मोक्ष में पहुँचा देता है।

सत्यक्त्व रूपी आधार स्तम्भ को दृढ़ता पूर्वक पकड़ने वाला, चारित्र को भी प्राप्त करता है और अप्रमत्त होकर अकषायी=वीतराग बन जाता है। वह सर्वज्ञ सर्वदर्शी होकर सिद्ध हो जाता है। जिसने इस आधार को छोड़ा, उसका चारित्र भी व्यर्थ हो जाता है। उपशान्त मोह वीतराग, ग्यारहवें गुण स्थान से गिरकर, मिथ्यात्व के चक्कर में वे ही पड़ते हैं, जिन्होंने सम्यक्त्व रूप आधार स्तम्भ को छोड़ दिया। ऐसी आत्मा नरक निगोद में भी जा सकती है, किन्तु चारित्र से पतित होकर भी जिसने इस आधार स्तम्भ को नहीं छोड़ा, वह ऐसी अधमदशा को प्राप्त नहीं होता। मिथ्यात्व का क्षय कर देने वाला, यदि पहले से आयुकर्म को नहीं बाँधा हुआ हो, तो वह अवश्य ही, उसी भव में मुक्ति प्राप्त करेगा। यदि चारित्र से गिर गया, तो फिर चढ़ेगा, अवश्य चढ़ेगा। उसका वह आधार स्तम्भ उसे नहीं गिरने देगा। ऐसा अचिन्त्य, अनुपम और अपूर्व प्रभाव है—इस आधार स्तम्भ का।

निगोद से खिंचकर लानेवाला

मिथ्यात्व के उदय से जीव सम्यक्त्व से पतित हो जाता है, ऐसे जीव में से कुछ जीवों की दशा इतनी बिगड़ जाती है, जो निगोद में जाकर उत्पन्न हो जाते हैं। वहाँ एक शरीर में अनन्त जीव रहते हैं। उस शरीर में ऐसे जीव भी होते हैं, जो अभव्य तथा कृष्णपक्षी होते हैं। ऐसे जी

साथ, एक ही शरीर में वह जीव रहता है, उनका आहार और श्वासोच्छ्वास भी एक साथ होता है, भौतिक सुख दुःख समान होते हैं। इस प्रकार वह निकृष्टतम दशा में पड़ा हुआ होने पर भी उसमें विशेषता है। एक बार के सम्यक्त्व के स्पर्श ने, उसमें इतनी योग्यता तो रख ही दी है कि वह शुक्लपक्षी ही रहता है। उसके सम्यक्त्व के वे संस्कार, उसे निगोद से निकालकर पुनः सम्यक्त्व की ओर आकर्षित करते हैं और वह सम्यक्त्व ही नहीं, पर विरति पाकर परमपद को प्राप्त कर लेता है। ऐसा अचिन्त्य प्रभाव है, सम्यक्त्व रत्न का। इसलिए परम कृपालु गुरुदेव कहते हैं कि 'हे जीव ! सम्यग्दृष्टि बन, बुज्झ, बुज्झ, बुज्झ ।

मिथ्यात्व की भयंकरता

जिस प्रकार विष की १ बूंद भी प्राण घातक हो सकती है, उसी प्रकार मिथ्यात्व का किंचित्—थोड़ा सा स्वीकार भी सम्यक्त्व का घात कर देता है। समाचार पत्रों में ऐसी खबरें भी पढ़ने को मिली, कि 'अमुक रोगी ने, दवा के भरोसे विष पी लिया और मर गया'। अलमारी में दवाइयों की अनेक बोतलें रक्खी हुई हैं, उसमें विष की बोतल भी है। डाक्टर, खुद भूलकर दवा के बदले विष पी गया और मर गया। अलमारी में दवा की बोतलें अधिक थी और विष की एक दो ही थीं, फिर भी भूल हो गई और उसका घातक परिणाम भुगतना पड़ा। दूसरी ओर सारा विश्व मिथ्यात्व

से भरा हुआ है। दुनिया के आकर्षक और मोहक साधन–विषय कषाय को भड़काने के निमित्त, प्रचुर मात्रा में मौजूद हैं और सम्यक्त्व के निमित्त बहुत ही थोड़े। वे प्रति समय सम्यक्त्व को दूषित करना चाहते हैं। यदि पूरी सावधानी नहीं रखी गई, तो सम्यक्त्व का स्थिर रहना कठिन हो जाता है।

जिस चारित्र के कारण सभी कर्मों का नाश होकर मोक्ष मिल सकता था, उस चारित्र में थोड़ासा मिथ्यात्व का विष मिल गया, तो क्या हुआ? अधिक से अधिक ग्रैवेयक देव होकर सागरोपमों तक दैविक सुख भोगते रहे, पर अंत में पुनः जन्म और मृत्यु, यह क्रम तो चलता ही रहा। मिथ्यात्व के विष से दूषित बने हुए, उग्र चारित्र से जीव का एक भी भव कम नहीं हुआ।

मिथ्यात्व अपने नग्न रूप में–भोंडी शकल में–भी आता है और सुन्दराकार बनकर भी आता है। बीभत्स रूप में आये हुए मिथ्यात्व से, तो समझदार बच सकते हैं, किन्तु सुन्दर रूप में सजधज कर आया हुआ मिथ्यात्व, बड़े बड़े समझदारों को भी चक्कर में डालकर चंगुल में फँसा लेता है। जिस प्रकार ऊपरी चमक दमक और नाज नखरों को देखकर लोग, वदसूरत पर भी आसक्त हो जाते हैं, उसी प्रकार सुन्दर आवरणों में रहा हुआ मिथ्यात्व, सम्यग्दृष्टियों को अपनी ओर खींच लेता है, भले अभिग्रहिक अथवा अभिनिवेश मिथ्यात्व नहीं हो, प्रकृति सरल हो और जैसा समझ में आया

वैसा स्वीकार किया हो, किन्तु इससे क्या हुआ ? क्या मिथ्या श्रद्धा रूपी विष, सरलता के कारण अमृत हो गया ? नहीं, सरलता और विश्वास के साथ, सोने के भरोसे खरीदा हुआ पीतल, खरीददार को दुखदायक ही होता है।

इस प्रकार मिथ्यात्व भयङ्कर वस्तु है। जब तक यह प्राणी के साथ लगा रहता है, तब तक वह घनचक्कर ही बना रहेगा। उसके चार गति के चक्कर में कोई कमी नहीं आयगी। इसलिए मिथ्यात्व के गाढ़ बन्धन से मुक्त होना जीव की बड़ी भारी सफलता है।

मिथ्यात्व

सम्यक्त्व का प्रतिपक्षी है मिथ्यात्व। यही अनन्त भव भ्रमण कराने वाला है। अनादिकाल से जीव जन्म मरण के चक्कर में पड़ा है—इसी के प्रताप से। यदि यह महाशत्रु हट जाय तो जीव का परम सुखी होना सरल हो जाय। भगवान् फरमाते हैं कि—"मिथ्यात्व से संसार मजबूत होता है, जिसमें प्रजा निवास करती है। (सूय १-१२-१२) मिथ्यात्व ही के कारण संसार है। यदि संसार में मिथ्यात्व नहीं रहे, तो एक दिन ऐसा भी हो सकता है कि सभी जीव मुक्त हो जायँ और संसार में कोई जीव नहीं रहे, किन्तु ऐसा नहीं हो सकता। मिथ्यात्व की सत्ता सम्यक्त्व की अपेक्षा अनन्त गुणी है। सम्यक्त्वी जीव तो केवली समुद्घात के सिवाय लोक के

मुक अंश में ही है, किन्तु मिथ्यात्वी तो लोक के प्रत्येक आकाश प्रदेश में विद्यमान हैं। सम्यग्दृष्टि अत्यन्त अल्प संख्यक हैं और रहेंगे और मिथ्यादृष्टि सदा से अत्यंत बहुत संख्यक ही नहीं, अनन्त गुण अधिक रहे हैं और रहेंगे। प्रत्येक सम्यग्दृष्टि को मिथ्यात्व से बचते रहना चाहिए। जिस प्रकार बहुमूल्य वस्तु—रत्नादि को कूड़े, कर्कट, कर्दम एवं चोरादि से बचाया जाता है, उसी प्रकार सम्यक्त्व रूपी स्फटिक रत्न को मिथ्यात्व रूपी मल, कर्दम और चोर से बचाना चाहिए। मिथ्यात्व से सतर्क रहने के लिए उसका स्वरूप भी समझना आवश्यक हो जाता है। मिथ्यात्व के भेद निर्ग्रंथ महर्षियों ने इस प्रकार बतलाये हैं।

१ धर्म को अधर्म समझना—सम्यग्ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तपरूप धर्म को अधर्म समझना मिथ्यात्व है। कोई कोई अनसमझ जैनी, उपरोक्त धर्म के पालन में 'क्रिया जड़ता' कहकर इस मिथ्यात्व का सेवन करते हैं।

२ अधर्म को धर्म समझना—जिस प्रवृत्ति से आत्मा की पराधीनता बढ़ती है, बन्धनों में विशेष बंधती है—ऐसे मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और अशुभ योग में धर्म समझना भी मिथ्यात्व है। हिंसादि कृत्यों में धर्म मानना आदि इसी भेद में आ जाता है और संवर निर्जरा रहित लौकिक क्रिया में धर्म मानना भी इसी भेद में है।

३ संसार के मार्ग को मुक्ति का मार्ग समझना—मिथ्यात्व अविरति आदि संसार मार्ग है। जिस प्रवृत्ति से जीव

संसार के परिभ्रमण में ही चक्कर काटा करता है—जन्म मर की श्रृंखला कायम रखता है, वह सभी संसार मार्ग है। ऐ मार्गों को मुक्ति का मार्ग मानना।

४ मुक्ति के मार्ग को बंधन का (संसार) का मा मानना—संयम संवर और तपस्यादि से मुक्ति की साधन होती है, किन्तु इन्हें बन्धनरूप मानना अथवा तप आदि आत्म हिंसा मानना।

५ अजीव को जीव मानना—जिसमें जीव नहीं है उसमें जीव मानना।

६ जीव को अजीव मानना—स्थावरकाय और समूर्छिम आदि को जीव नहीं मानना अथवा पंचभूत की मान्यता रखकर जीव का अस्तित्व ही नहीं मानना।

७ कुसाधु को सुसाधु मानना—जिसमें न तो दर्शन और न चारित्र गुण ही है, जिसकी श्रद्धा प्ररूपणा खोटी है, जो पांच महाव्रत, पांच समिति, तीन गुप्ति से रहित है, जिसके आचरण सुसाधु जैसे नहीं है, उसे लौकिक विशेषता के कारण, अथवा साधुवेश देखकर सुसाधु मानने से यह मिथ्यात्व लगता है।

८ सुसाधु को कुसाधु समझना—जिसकी श्रद्धा प्ररूपणा शुद्ध है, जो महाव्रतादि श्रमण धर्म का पालक है—ऐसे सुसाधु को कुसाधु समझना।

९ रागी द्वेषी को मुक्त समझना—इतर पंथों के

:व, राग द्वेष युक्त हैं और छद्मस्थ हैं, इसलिए वे मुक्त नहीं :ए। किन्तु अज्ञान वश उन्हें मुक्त समझना।

१० मुक्त को संसार में लिप्त समझना–भगवान् महावीर प्रभु रागद्वेष से मुक्त हो चुके थे, फिर भी गोशालक मति ने आर्द्रकुमार श्रमण के सामने उन्हें अमुक्त कहा था, इसी प्रकार या प्रकारान्तर से मुक्तात्मा को संसार में लिप्त समझना मिथ्यात्व है।

उपरोक्त दस मिथ्यात्व का उल्लेख स्थानांगसूत्र के १० वें स्थान में है। मिथ्यात्व के कुल २५ भेद पूर्वाचार्यों ने बतलाये हैं, किन्तु मूल भेद तो ये दस ही हैं। बाकी के भेद तो इन दस भेदों में रहे हुए मिथ्यात्व को ही स्पष्ट करने वाले हैं। एक दृष्टि से देखा जाय तो उपरोक्त दस भेदों का समावेश निम्न पाँच भेदों में होजाता है–

(१) नौवां और दसवां भेद, देव संबंधी मिथ्यात्व को बतलाता है।

(२) सातवां और आठवां भेद, गुरु संबंधी मिथ्यात्व को स्पष्ट करता है।

(३) पांचवाँ और छठा भेद, तत्त्व संबंधी मिथ्यात्व से संबंधित है। संग्रह नयकी दृष्टि से मुख्य तत्त्व तो जीव और अजीव ही हैं।

(४) तीसरा और चौथा भेद, मार्ग संबंधी है। यह संसार मार्ग और मोक्ष मार्ग के विषय में होती हुई कुश्रद्धा का निर्देश करता है।

(५) पहला और दूसरा भेद धर्म संबंधी मिथ्या मान्यता के विषय में हैं।

यदि हम और भी संक्षेप में सोचें, तो देव गुरु और धर्म संबंधी मिथ्यात्व में सभी भेदों का समावेश हो जाता है। क्योंकि देव और गुरु के अतिरिक्त छहों भेदों का समावेश, धर्म तत्त्व संबंधी मिथ्यात्व में हो जाता है। तत्त्व और मार्ग संबंधी मिथ्यात्व श्रुतधर्म संबंधी मिथ्यात्व ही है।

आगम विहित दस भेदों के सिवाय जो पन्द्रह भेद हैं, वे इन दस भेदों के मिथ्यात्वी जीवों के प्रकार को स्पष्ट करने वाले हैं—स्वतन्त्र नहीं है। वे पन्द्रह भेद ये हैं।

१ आभिग्रहिक मिथ्यात्व—अपने ग्रहण किये हुए मिथ्या सिद्धांत को, तत्त्व की परीक्षा किये बिना ही पकड़ रखना। वापदादों से चली आती हुई गलत मान्यता नहीं छूटना।
(ठाणांग २-१)

२ अनाभिग्रहिक मिथ्यात्व—सभी मतों और पंथों को सत्य मानना। 'अपने लिए तो सभी एक समान है' —इस प्रकार सत्यासत्य, गुणावगुण और धर्म अधर्म का विवेक नहीं रखकर 'सर्व धर्म समभाव' रूप मूढ़ता अपनाना। (ठाणांग २-१)

३ आभिनिवेशिक मिथ्यात्व—अपने सिद्धांत को गलत जानकर भी अभिमान वश हठाग्रही होकर उसे पकड़े रहना।
(भगवती ९-३३)

४ सांशयिक मिथ्यात्व—तत्त्व अथवा जिनेश्वर के वचनों में शंकाशील बने रहना। (शंका—उपासक १)

५ अनाभोग मिथ्यात्व–विचार शून्यता अथवा मनन शक्ति के अभाव में, ज्ञानावरणीयादि कर्म के उग्रतम उदय से होने वाला मिथ्यात्व। यह मिथ्यात्व सभी असंज्ञी जीवों में होता है।

६ लौकिक मिथ्यात्व–जिनमें वीतरागता सर्वज्ञता और हितोपदेशकता के गुण नहीं–ऐसे रागी द्वेषी, छद्मस्थ और मिथ्यामार्ग प्रवर्त्तक, संसार मार्ग के प्रणेता को देव मानना, संवर के लक्षण युक्त सम्यग्चारित्र रूप पांच महाव्रत, तथा समिति गुप्ति से रहित, नामधारी साधु या गृहस्थ को गुरु मानना और अधर्म–जिसमें सम्यग्ज्ञानादि का अभाव है और जो लौकिक क्रियाकांड मय है, उसे धर्म मानना, तीर्थयात्रा, स्नान, यज्ञयागादि सावद्य प्रवृत्ति में धर्म मानना लौकिक मिथ्यात्व है। (अनुयोगद्वार)

७ लोकोत्तर मिथ्यात्व–तीर्थंकर भगवान् लोकोत्तर देव हैं, वे वीतराग हैं, उनकी आराधना अपनी आत्मा में वीतरागता का गुण लाने के लिए ही करनी चाहिए, किन्तु अपनी विषय कषायों की पूर्ति के लिए उनकी आराधना की जाय, निर्ग्रंथों की सेवा, मांगलिक श्रवण, सामायिक आयम्बि–लादि तप, भौतिक स्वार्थ भावना से किया जाय, तो यह लोको–त्तर मिथ्यात्व है। इसका दूसरा अर्थ गौशाला जैसे को देव, निन्हवादि को गुरु और शुभ बंध की क्रिया को लोकोत्तर धर्म मानना भी है। (अनुयोग द्वार)

८ कुप्रावचन मिथ्यात्व–निर्ग्रंथ प्रवचन के अतिरिक्त अन्य कुप्रावचनिक–मिथ्या प्रवचन के प्रवर्त्तक, प्रचारक और मिथ्या प्रवचन को मानना। (अनुयोगद्वार)

९ न्यून-मिथ्यात्व–तत्त्व के स्वरूप में से कम मानना। एकाध तत्त्व या उसके किसी भी भेद में अविश्वासी होना। कोई कोई यों कहा करते हैं कि 'इतनीसी बात नहीं माने तो क्या होगया'? किन्तु यह सब स्वमत या परमत वाद है। जो जैनी कहलाता है उसे तो जिनेश्वरों के वचनों को पूर्ण रूप से यथार्थ मानना ही पड़ेगा। पूर्वाचार्यों ने मिथ्यात्व की व्याख्या करते हुए लिखा कि–" **सूत्रोक्तस्यैकस्याप्यरोचनादक्षरस्य भवतिनरः मिथ्यादृष्टिः** (स्थानांग १ टीका) श्री प्रज्ञापना सूत्र के मूल पाठ में लिखा कि **'मिथ्यादर्शन विरमण समस्त द्रव्यों से होता है"**। (पद २२) टीकाकार श्रीमलयगिरिजी नें इसकी टीका में सभी द्रव्यों और सभी पर्यायों से मिथ्या-दर्शन विरमण माना है। और सम्यक्त्व की व्याख्या करते हुए श्री अभयदेव सूरिजी ने स्थानांग टीका में लिखा कि **"जिना-भिहितार्थश्रद्धानवतीदृष्टिः–दर्शनं श्रद्धानं"**। अतएव इसमें किञ्चित् भी न्यून मानना मिथ्यात्व है। (ठाणांग २-१)

१० अधिक मिथ्यात्व–जिन प्रवचन से अधिक मानना मिथ्यात्व है। (ठाणांग २-१)

११ विपरीत मिथ्यात्व–जिनागमों के विपरीत प्ररूपणा करना मिथ्यात्व है। क्योंकि सम्यक्त्व का अर्थ ही जिन प्ररू-

पित तत्त्वों को यथातथ्य मानना है। "**जिणपण्णत्तं तत्तं इहसमत्तं**" अतएव जिन प्रवचन से विपरीत मान्यता नहीं करना चाहिए। (ठाणांग २-१)

१२ अक्रिया मिथ्यात्व-सम्यग्चारित्र की उत्थापना करते हुए एकान्तवादी बनकर आत्मा को अक्रिय मानना। चारित्रवानों को 'क्रियाजड़' कहकर तिरस्कार करना।

(ठाणां. ३-३)

१३ अज्ञान मिथ्यात्व-ज्ञान को बंध और पाप का कारण मानकर अज्ञान को श्रेष्ठ मानना। (ठाणांग ३-३)

१४ अविनय मिथ्यात्व-पूजनीय देवगुरु और धर्म का विनय नहीं करके अविनय करना। उनकी आज्ञा का उल्लंघन करना, उन्हें असत् कहना आदि।

(ठाणांग ३--३)

१५ आशातना मिथ्यात्व-देव गुरु और धर्म की आशातना करना। इनके प्रति ऐसा व्यवहार करना कि जिससे ज्ञानादि गुणों और ज्ञानियों को ठेस पहुँचे। (आवश्यक सूत्र)

इस प्रकार मिथ्यात्व के भेदों को समझकर इससे बचते रहना प्रत्येक जैनी का कर्त्तव्य है। सम्यक्त्व की शुद्धि और रक्षा के लिए अतिव सावधानी की आवश्यकता है। मिथ्याज्ञान से भावित हुए कुछ भाई इसे जैनियों की संकीर्णता कहकर घृणा करते हैं, किन्तु वे वास्तविकता को समझने का प्रयत्न

नहीं करते जिस प्रकार आरोग्य का अर्थी कुपथ्य से बचता है, स्वच्छता प्रेमी मैल से बचता है और ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए स्त्री सहवास वर्जनीय है, उसी प्रकार सम्यक्त्व की रक्षा के लिए मिथ्यात्व के निमित्तों से बचना आवश्यक है। यदि इसका कोई यह अर्थ लगावे कि "जैनियों का ऐसा नियम विद्वेष एवं झगड़े का मूल है"–तो यह कहना गलत है, जैन-धर्म किसी से झगड़ने की शिक्षा नहीं देता, वह तो सहन करने की शिक्षा देता है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि हम अपनी मूल वस्तु को सुरक्षित नहीं रखें। जिस प्रकार हमें अपनी मूल्यवान और अत्यन्त प्रिय वस्तु को दूसरों से बचाये रखने के लिए पूर्ण सावधान रहते हैं, उसी प्रकार सम्यक्त्व रत्न को बचाने के लिए भी पूर्ण सावधान रहना चाहिए। सावधानी नहीं रखने के कारण नन्द मणिहार मिथ्यात्वी बना। सम्यक्त्व की सुरक्षा के कारणों से सम्पर्क नहीं रखने से वह मिथ्यात्वी बनगया (ज्ञाता १३) और आनन्दादि श्रमणोपासकों ने इस रत्न की रक्षा की ओर पूरी सावधानी बरती। उन्होंनें प्रतिज्ञा करली कि "मैं अन्य तीर्थिक, देव गुरु से परिचयादि नहीं रखूंगा, तो उनका दर्शन गुण कायम रहा और वे एकाभवतारी होगए। (उपासकदशा १)

हम छद्मस्थ हैं, हमारी बुद्धि उतनी नहीं जितनी सर्वज्ञों, पूर्वधरों, श्रुतकेवलियों और गणधरादि महापुरुषों की थी। हमारी यह शक्ति नहीं कि हम उन सर्वज्ञों, महाज्ञानियों

की सभी बातों को पूर्ण रूप से समझ सकें। हमारी कोशीश तो अवश्य होनी चाहिए कि हम सभी बातों को समझें, किन्तु जो समझ में नहीं आवे उसे झूठी मानकर या अविश्वासी बन-कर अपने सम्यक्त्व रत्न को नहीं गँवादें। सागरदत्त के पुत्र नें अविश्वास किया, तो उसे सुन्दर मयूर नहीं मिल सका और जिनदत्त के पुत्र ने विश्वास रखकर सुन्दर बच्चा प्राप्त किया और सुखी हुआ (ज्ञाता. ३) जिस प्रकार हम रत्न की परीक्षा नहीं जानते हैं और जौहरी के वचन पर विश्वास करके उसे खरा और मूल्यवान मानते हैं और पूर्ण सावधानी से रखते हैं, उसी प्रकार यदि कांक्षामोहनीय के उदय से हमारे समझ में कोई बात नहीं आवे, तो अविश्वासी नहीं बनकर यही विचार करना चाहिये कि **"तमेव सच्चं णीसंकं जं जिणेहिं पवेइयं"। (भगवती १-३)** =जिनेश्वर भगवान् ने कहा वह सत्य और यथार्थ ही है। उसमें किसी प्रकार की शंका नहीं है। इससे सम्यक्त्व शुद्ध रहती है। मोक्षार्थियों को हृदय में यह बात पूर्ण रूप से जमा लेनी चाहिए "निर्ग्रंथ प्रवचन ही अर्थ है, यही परमार्थ है, इसके सिवाय संसार के जितने वाद, विवाद, सिद्धांत वचन हैं, वे सब अनर्थ रूप हैं। संसार के विषय वासना के साधन, कुटुम्ब परिवार, धन, वैभव, जमीन जाय-दाद, सत्कार, संमान और अधिकार सबके सब अनर्थ रूप हैं। सामान्य अर्थ और परम अर्थ एक मात्र निर्ग्रंथ प्रवचन ही हैं, **"णिग्गंथे पावयणे अट्ठे अयं परमट्ठे सेसे अणट्ठे"** (भगवती २-५) इस प्रकार जिसके हृदय में दर्शन धर्म की पूर्ण प्रतिष्ठा

हो चुकी है और वह इस गुण को छोड़ता नहीं है, तो थोड़े भवों में मुक्ति प्राप्त कर सकता है—यह निःसन्देह समझना चाहिए। ऐसी भव्यात्मा, पन्द्रह भव से अधिक तो कर ही नहीं सकती (भगवती ८-१०) भगवती सूत्र के टीकाकार श्री अभयदेव सूरिजी तो श. १ उ. १ की टीका में लिखते हैं कि मोक्ष का सच्चा कारण दर्शन ही है, इसलिए ज्ञान के बनिस्बत दर्शन के विषय में विशेष प्रयत्नशील होना चाहिए"।

नन्दीसूत्रकार श्री देववाचक आचार्य ने संघ की स्तुति करते हुए सम्यग्दर्शन को 'सम्यग्दर्शन रूप विशुद्ध मार्ग वाला' (गा. ४) संयम का परिकर—रक्षक (गा. ५) 'सम्यक्त्वरूप प्रभावाला निर्मलचन्द्र' (गा. ६) और संघ रूपी सुमेरु पर्वत की "दृढ़ वज्रमय उत्तम और बहुत गहरी आधारशिला—नींव (गा. १२) रूप माना है; जिसपर कि चारित्र तपादिरूप महान् पर्वताधिराज सुदर्शन टिक रहा है।

सम्यक्त्व प्राप्ति आवश्यक

कुदेवादि को मानना अथवा 'जीव को अजीव' आदि खोटी मान्यता रखना ही मिथ्यात्व है—ऐसी बात नहीं है। यह विवेचन तो उन जीवों की अपेक्षा से है, जो किसी अन्य देवादि के मानने वाले हों। संसार में अनेक प्रकार के मत चल रहे हैं, जो अपने पक्ष को धर्म के नाम से चलाते हैं, उनमें से बहुत से पुण्य, पाप, स्वर्ग, नर्क आदि मानते हैं, भले ही उनकी मान्यता विपरीत हो, किन्तु वे भी अपने मत को धर्म

ही कहते हैं। इस प्रकार के अन्य मतों को ही असम्यग् दृष्टि कहने से तो विवेचन अधूरा ही रहता है। शेष ऐसे जीव भी रह जाते हैं जो किसी भी धर्म या पंथ को नहीं मानते। कुछ तो धर्म मात्र से घृणा करके धर्म निरपेक्ष हो गये हैं और कई ऐसे हैं कि जिनके जीवन का लक्ष ही अर्थ प्राप्ति या भौतिक सुखों में लीन रहना है। तथा धर्म का सम्बन्ध केवल मन वाले संज्ञी जीवों से ही है। असंज्ञी जीव तो सभी ऐसे हैं कि जिनका किसी भी धर्म से कोई सम्बन्ध ही नहीं है। इस प्रकार के असंज्ञी, और धर्म-निरपेक्ष संज्ञी जीवों को 'कुश्रद्धा' रूप मिथ्यात्व नहीं लगता, फिर भी वे सम्यग्दृष्टि नहीं हैं, क्यों कि उनमें वास्तविक तत्त्व श्रद्धान् का अभाव है। उनमें कुश्रद्धा नहीं, परन्तु अश्रद्धा है, तत्त्व की रुचि नहीं है। जब तक तत्त्व श्रद्धान नहीं हो जाय, तबतक जीव मिथ्यादृष्टि ही रहता है। तात्पर्य यह कि मिथ्यात्व निवृत्ति के लिए तत्त्व श्रद्धान् होना परमावश्यक है। इसीलिए उत्तराध्ययन २८ में 'कुदर्शन-वर्जन' रूप आचार के पूर्व ही 'परमार्थ-संस्तव और 'सुदृष्ट परमार्थ सेवन' रूप आचार का होना बताया गया है। तत्त्वार्थसूत्र भी "तत्त्वार्थ श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्" कहता है। तात्पर्य यह कि कुश्रद्धान त्याग ही पर्याप्त नहीं, किन्तु तत्त्वार्थ श्रद्धान् होने पर ही मिथ्यात्व छूटता है और सम्यग्दृष्टि बनता है। मिथ्यात्व त्याग के लिए तत्त्वार्थ श्रद्धान आवश्यक है।

जैन संस्कृति

सुधार अथवा सफाई को संस्कार कहते हैं। बुराई को हटाकर अच्छाई लाना अथवा मैल दुर्गन्धादि निकाल कर स्वच्छता एवं सुगन्धी में सराबोर होना संस्कार है। जिसका सुधार हो गया, सफाई हो गई, वह संस्कृत अथवा संस्कृति कहलाता है। 'संस्कृति' शब्द भी इसी प्रकार का है। आचार विचार को सुधारने वाली संस्कृति है। किसी परंपरा के लक्ष, आचार एवं विचार की वे सभी बातें जो विकास की ओर अग्रसर करती है—संस्कृति कहलाती है। संस्कृति के साथ "जैन" विशेषण होने पर उसका अर्थ होगा 'जैन धर्म ने जिसे हेय माना, उसे त्याग कर उपादेय को स्वीकार करना'। साध्य' साधक और साधना मिलकर संस्कृति वनती है। जैन सिद्धांत के अनुसार ध्येय शुद्धि, विचार शुद्धि ही 'जैन संस्कृति है'।

प्रश्न हो सकता हो कि ऐसे कौनसे आचार विचार हैं कि जिनके अस्तित्व से हम व्यक्ति को जैन संस्कार युक्त अथवा जैन संस्कृति का अंग मान सकें ? इस प्रश्न के समाधान में हमें जैनत्व का स्वरूप जानना आवश्यक होगा।

जैन वही है जो जिनेश्वर भगवन्त को ही अपना परम आराध्य माने। उन्हें परम तारक के रूप में स्वीकार करे। उनके अतिरिक्त जगत् के अन्य-मत मान्य आराध्य को आत्मोद्धारक नहीं माने। २ जिनेश्वर देव ने साधुओं के लिए जिन नियमों-आचारों का पालन करने की आज्ञा दी है, उनके पालन करने वाले और जिनेश्वर के उपदेशों का प्रचार करने वाले, त्यागी निर्ग्रंथ महात्माओं को गुरुपद में पूज्य माने तथा ३ जिनेश्वरों के आत्मोत्थानकारी उपदेश-'निर्ग्रन्थ प्रवचन' को ही धर्म माने। इस प्रकार की श्रद्धा प्ररूपना और स्पर्शना =आचार विचार जिसका हो वह जैन है।

जैन संस्कृति में इस संसार का कर्त्ता, किसी सर्वोच्च सत्ता अथवा ईश्वर को नहीं मानकर वस्तु के स्वभाव को माना है। जैन सिद्धांत मानता है कि यह विश्व जीव और जड़ पदार्थमय है। सभी पदार्थ अपने स्वभाव = पारिणामिक भाव के अनुसार परिणत होते हैं। अनादिकाल से जड़, जड़ रूप ही है और चेतन, चेतन रूप ही है। जीव, जीव रूप ही रहेगा तथा जड़, जड़ ही रहेगा। ऐसी कोई शक्ति या व्यक्ति नहीं-जो जीव को जड़ या जड़ को जीव बनादे। संसार के सभी पदार्थ-अनन्तानन्त वस्तुएँ, अपने पारिणामिक भाव से

युक्त हैं। वस्तु का स्वभाव सर्व व्यापक है। एक पारिणामिक भाव ही ऐसा है. जो वस्तु की अपनी मूल और वास्तविक शक्ति है। जीव, अविनाशी है। वह सदा सर्वदा द्रव्यापेक्षा अविनाशी ही रहेगा। उसका विनाश कभी भी नहीं होगा, और जड़ विनाशी हैं। वह मिलता बिछुड़ता और सड़ता गलता ही रहेगा।

जीव, जड़ का उपभोग करता है, किन्तु जड़ जीव का उपभोग नहीं करता। इसी दृष्टि से जड़—पुद्गल के ३ भेद किये हैं। जैसे—प्रयोगपरिणत, मिश्रपरिणत और स्वभाव-परिणत।

१ जिन पुद्गलों को जीव ने, अपने शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, आहार और कर्म आदि रूप में परिणत किये, वे 'जीव प्रयोग परिणत' है।२ जिन जड़ द्रव्यों को जीव ने प्रयोग में लाकर छोड़ दिया है और छोड़ने के बाद उनमें जो परिणमन होता है, वह 'मिश्र परिणमन है, जैसे—मुर्दे शरीर में आकृति आदि वही है और सड़ान आदि भी हो रहा है। ३ जड़ वस्तु में रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और आकार इनका खुद के स्वभा-वानुसार परिणमन होता है। इस प्रकार विश्व के सभी दृश्य अदृश्यपदार्थों—द्रव्यों का परिणमन उपरोक्त तीन प्रकार से ही होता है।

एक जड़ वस्तु, दूसरी जड़ वस्तु से मिलकर नाना रूप में परिणत हो जाती है। कभी सुन्दराकार, सुरूप, सुगन्ध और सुस्वादु बन जाती है, तो वही भद्दे आकार, कुरूप. दुर्गन्ध

और दुःस्वादु हो जाती है। एक में मिलकर अनुकूल बन जाती है, तो दूसरे में मिलकर प्रतिकूल हो जाती है। इस प्रकार पर्याय का परिवर्तन प्रति समय होता रहता है। ये पर्यायें भी द्रव्य की ही होती है। अन्तर इतना ही है कि द्रव्य शाश्वत होता है और पर्यायें अशाश्वत = परिवर्तनशील = नष्ट होने वाली। पर्याय की अपेक्षा ही जैन दर्शन ने (उत्पाद और व्यय = उत्पत्ति और नाश) माना है। पारिणामिक के अलावा उदयादि पाँच भावों का भी इसीमें समावेश होता है। जीव की विविध प्रकार की अवस्थाएँ उदय भाव के कारण होती है। स्थावर से त्रस, विकलेन्द्रिय से पूर्णेन्द्रिय, असंज्ञी से संज्ञी और जन्म, जरा, बचपन, युवावस्था, सुख, दुःख, रोग, शोक, तथा संयोग वियोगादि सब जीव के अपने उदयभाव के कारण होते हैं। यह उदयभाव भी जीव की अपनी विभाव परिणति से निष्पन्न होता रहता है। इसका कर्त्ता जीव स्वयं है। अपने सुख दुःख और जन्म मरणादि विविध अवस्थाओं को जीव ने खुद ने उत्पन्न किया है। विश्व में ऐसी कोई शक्ति नहीं जो जीव को बरबस सुखी दुखी कर सके, या जन्म दे सके। जीव, जिन अवस्थाओं का अनुभव करता है, वे उस खुद की उत्पन्न की हुई है। इस प्रकार जैन दर्शन किसी अन्य शक्ति को इस जीव और अजीव मय संसार का कर्त्ता नहीं मानता और प्रत्येक वस्तु को अपने स्वभावादि युक्त मानता है। निमित्त दूसरे हो सकते हैं, किन्तु उपादान तो प्रत्येक वस्तु का अपना ही होता है। यह जैन संस्कृति का अपना सिद्धांत है।

जैन सिद्धांत आत्मा को मानता है। इसका कहना है

कि दिखाई देने वाला शरीर ही सब कुछ नहीं है, लेकिन इस शरीर का कर्त्ता, भोक्ता और अधिष्ठाता, इसमें रहा हुआ आत्म तत्व है। संसार में ऐसे भी मत हैं, जो पंचभूतात्मक शरीर को ही आत्मा मानकर, आत्म तत्त्व को भिन्न नहीं मानते हैं, लेकिन जैन संस्कृति का यह स्पष्ट मन्तव्य है कि 'आत्मा है, और वह अरूपी है। अरूपी होने से वह दिखाई नहीं देता। आत्मा असंख्यात प्रदेश वाला है, वह कुटस्थ नहीं है। आत्मा एक नहीं, लेकिन अनन्त हैं और स्वभाव तथा द्रव्यादि की अपेक्षा सभी समान है। जैसा स्वरूप एक आत्मा का है, वैसा ही समस्त आत्माओं का है। इसमें कुछ भी अंतर नहीं है। जो अन्तर है, वह बाहरी तथा विभाव दशा का है।

आत्मा नित्य है। वह न तो किसी समय उत्पन्न हुआ या होता है और न नष्ट हुआ या होता है। वह सदा सर्वदा रहता है। वह शाश्वत है, अनादि अपर्यवसित है। लोक में अनंतानन्त आत्माएँ हैं, वे सभी नित्य हैं।

आत्मा कर्म का कर्त्ता है। समस्त आत्माएँ, अपने अपने कर्म की कर्त्ता है। जो अकर्मी हो चुकी, वे भूतकाल में कभी कर्म की कर्त्ता थी। संसारी आत्माएँ, वर्तमान में कर्म कर रही हैं। कर्म का बन्धन, मुख्यतः विभाव दशा में होता है। विभाव दशा का कर्त्तापन, संसारी आत्माओं में हैं। अकषायी आत्माओं में विभाव परिणति नहीं होती। कषायात्माओं में विभाव परिणति, न्यूनाधिक रूप से होती ही रहती है। इसका कारण उनकी खुद की उत्पन्न की हुई दशा है। जीव स्वतः अपने भले

बुरे = शुभाशुभ, कर्मों को निष्पन्न करता है। इसलिए कर्मों का कर्त्ता जीव ही है—दूसरा नहीं।

किये हुए कर्मों का भोक्ता भी आत्मा ही है। चाहे प्रदेश रूप से भुगते या अनुभाग—रस रूप से, अव्यक्त या व्यक्त रूप से। करणी का फल तो मिलेगा ही।

मोक्ष भी है। ऐसा नहीं होता कि सभी जीव संसार में ही भ्रमण किया करें, इस जन्म मरण और भव भ्रमण रूप संसार में, सभी जीव भटका ही करें। जिन जीवों ने जन्म मरण के कारणों को मिटा दिया, वे मुक्त होते हैं और सदा के लिए परमानन्द दशा को प्राप्त कर लेते हैं। लोकाग्र पर उन मुक्ताओं का सादि अनन्त = स्थायी, स्थान हो जाता है। फिर वहां से हटने की (आवागमन करने की) आवश्यकता नहीं रहती।

मोक्ष का उपाय है। मोक्ष तभी प्राप्त होता है जबकि उसके उपायों का अवलम्बन लिया जाय। उन उपायों को ही धर्म अथवा मोक्ष पुरुषार्थ कहते हैं।

जैन धर्म मोक्ष के उद्देश्य से ही धर्माचरण का उपदेश करता है। इसलिए तत्त्व ज्ञान में जीव अजीव आदि नव तत्त्वों का निरूपण किया गया है। जैन धर्म का निश्चित मत है कि सबसे पहले हेय, ज्ञेय और उपादेय का ज्ञान होना आवश्यक है। जब तक यह विवेक नहीं हो, तब तक जीव, सम्यग्—मार्ग को प्राप्त नहीं कर सकता। हम ऊपर लिख आये हैं कि संसार में जीव और जड़ ये दो ही प्रकार की वस्तु है, और इन्हीं से संसार

है। सबसे पहले इन दोनों की जानकारी करना चाहिए। ये दोनों जानने योग्य है। इसके बाद वन्ध, पाप, पुण्य * और आस्रव को जानना चाहिए, ये हेय (त्यागने रूप) हैं, छोड़ने के लायक हैं। उपादेय केवल संवर निर्जरा और मोक्ष है। इनमें से मोक्ष साध्य और संवर निर्जरा साधन है। इन तत्त्वों को जानकर शंका रहित, दृढ़ श्रद्धान होना ही 'जैन संस्कार है। यह है जैन धर्म की विचार संस्कृति, इससे विचारों की शुद्धि होती है। इसके बाद आचार संस्कृति का क्रम शुरु होता है। इसमें अहिंसा का स्थान सर्वोपरि है।

जैन संस्कृति के आचार, सारे संसार की अन्य संस्कृतियों से उच्च हैं। जिस गृहस्थ के जीवन में जैनाचार का संस्कार होगा, वह त्रस तो दूर रहे, स्थावर जीवों के आरम्भ में भी विवेक रखेगा। वह ध्यान रखेगा कि कहीं मेरे द्वारा किसी निरपराध जीव की हिंसा नहीं हो जाय। वह हिंसा मात्र को बुरी मानता है, इसलिए खान पान में भी सावधानी रखता है। रात्रि भोजन का त्याग भी जैन संस्कृति की ही विशेषता है। जैन श्रमण का जीवन जैसा निर्दोष होता है, वैसा किसी भी मत के धर्म गुरु का नहीं हो सकता। जैन श्रमण, अपना जीवन टिकाने के लिए, खाने पीने जैसी आवश्यक वस्तु के लिए

* पुण्य कार्य, गृहस्थ दशा में साधारण तया उपादेय है। मोक्ष मार्ग में सहायक हो सकता है, किन्तु स्वतः मोक्ष का साधन नहीं होने से और इसकी उत्पत्ति आस्रव से ही होने के कारण, बंध रूप होने से हेय कोटि में माना गया है।

भी बड़े सावधान रहते हैं। वह सचित्त वस्तु का उपयोग करना तो दूर रहा, परन्तु उसके लिए किसी ने सचित्त को अचित बनाकर दिया हो, तो भी वह स्वीकार नहीं करता। फिर भले ही वह प्यास के मारे प्राण गँवा दें। क्या ऐसा उत्कट आचार, संसार की किसी दूसरी संस्कृति में है? जैन श्रमणों के बोलने के नियम, आवश्यक वस्तु ग्रहण करने के नियम, और अन्य आचार, इतने उत्तम हैं कि जिससे उनके पालने वाले की आत्मा अवश्य ही उज्ज्वल होती रहती है। ऐसे नियम अन्यत्र मिलना असम्भव है। यदि जैन गृहस्थ भी अपने नियमों का पालन करें, तो वे भी संसार में आदर्श और दूसरों के लिए अनुकरणीय हो सकते हैं (किन्तु वर्त्तमान में बहुत से जैन गृहस्थ और कई जैन श्रमण विकार ग्रस्त होगए, जिससे जैन संस्कृति का प्रभाव घट गया) यह जैन आचार संस्कृति का स्वरूप है।

विकृति

जैन संस्कृति, सम्यग् ज्ञान पूर्वक पाले हुए आचार को ही चारित्र मानती है। जिसमें सम्यग् ज्ञान नहीं—विशुद्ध श्रद्धान नहीं, ऐसे व्यक्ति के चारित्र को सम्यग् चारित्र नहीं माना जाता। जिस प्रकार पराधीनता अथवा किसी प्रकार की विवशता से पाला हुआ आचार, सम्यग् चारित्र नहीं होकर अकाम कष्ट है और उससे वासना युक्त शुभ बन्ध हो सकता है, उसी प्रकार स्वेच्छा पूर्वक होते हुए भी अज्ञान युक्त पाला हुआ सदाचार भी शुभ बन्ध का कारण हो सकता है, लेकिन

मुक्ति का कारण नहीं हो सकता । आज संसार के प्रभाव
प्रभावित होकर बहुत से जैनी कहाने वाले भी अज्ञान यु
विचार रखते हैं । जैसे कि–

१ संसार के उपकार के लिए तीर्थङ्कर भगवान्
अवतार लेना ।

वास्तव में भगवान् अपने तीर्थंकर नाम कर्म त
गति आयु आदि कर्मों के उदय से ही अवतरित होते हैं।
चाह कर जन्म नहीं लेते । लेकिन अजैन मान्यता के असर से जैनी
भी वैसा बोलते हैं ।

२ घातीकर्मों के क्षय करने से ही वीतरागता प्रकट
होती है, उस वीतरागता में प्रेम अथवा स्नेह नाम की कोई
वस्तु नहीं होती, न द्वेष इर्षादि भी रहते हैं । प्रशस्त राग के
अस्तित्व में घातीकर्मों का अस्तित्व भी रहता ही है । वीत-
राग भगवान् प्रशस्त राग से भी रहित होते हैं, लेकिन कई
प्रचारक, जैन सिद्धांत से अश्रद्धालु होकर भगवान् में मोह
तृष्णा और लोभ का क्षय नहीं मानकर विस्तार मानते है
और प्रचारित करते हैं । यह अजैन संस्कृति का प्रभाव है ।

३ निर्ग्रंथनाथ भगवान् कभी सावद्य उपदेश नहीं
देते । उनके पवित्र उपदेशों में सावद्य प्रवृत्ति का निषेध
स्पष्ट रूप से अंकित है । फिर भी कुछ नव–शिक्षित प्रचारक
पण्डित, भगवान् के नाम से सावद्य प्रचार करते हैं, और भग-
वान् को भी सावद्य उपदेश देने वाले वतलाते हैं । यह स
अजैन संस्कृति का असर है ।

४ जैन श्रमण विश्वभर के लिए पूज्य है और संसारी-लोग, निर्ग्रंथों के उपासक हैं, किन्तु निर्ग्रंथों को भी जो संसार का सेवक बतलाते हैं, वे मात्र नाम के ही जैनी हैं।

५ निर्ग्रंथों का धर्म शासन, गृहस्थ उपासकों पर होता है, क्योंकि श्रमण प्रधान धर्म है। किन्तु कुछ अग्रसर लोग, अपना धार्मिक निर्णय, श्रमण संघ पर लादते हैं। यह जैन संस्कृति से बहिर्भूत प्रवृत्ति है।

६ निर्ग्रंथों ने श्रुत चारित्र धर्म को संसार के सभी धर्मों से उच्चतम एवं लोकोत्तम माना है। लेकिन कुछ स्वतन्त्र विचारक, लौकिक व्यवस्था को श्रुत चारित्र धर्म के बराबर बताकर प्राथमिकता देते हैं। यह भी जैन संस्कृति के विपरीत प्रचार है।

७ किसी असाध्य रोगी के शीघ्र ही मर जाने की कामना अजैन ही करते हैं। किन्तु कई भोले और अनजान जैनी भी ऐसे अवसर पर कहते सुने गये कि—'इस दुःख से तो यह प्राणी मर जाय तो अच्छा,' अथवा यों कहते हैं कि—'अब तो भगवान् इसे सम्भाल लें तो अच्छा।' इस प्रकार के विचार वाले जैनी नहीं कहे जा सकते। ऐसा विचार करने वाले उस प्राणी की मृत्यु के कामी हैं। जब कि वह प्राणी स्वयं मरना नहीं चाहता और इच्छा करता है कि—"मैं बच जाऊँ तो अच्छा।"

ऐसे समय मरणोन्मुख व्यक्ति में साहस उत्पन्न कर प्राप्त समय को सफल करने की यथा अवसर प्रेरणा अवश्य

करनी चाहिए। उसकी परिणति को अशुभ से मोड़कर शुभ में लगानी चाहिए। परन्तु उसकी मृत्यु की कामना करना तो कदापि उचित नहीं है।

८ किसी स्वजन की मृत्यु हो जाने के बाद उसके शव को जला देना और शोक से निवृत्त हो जाना,–इतना ही आवश्यक कर्त्तव्य है। इसके लिए रोना, या मृतक के हितार्थ धूप, दीप, भोज आदि देना, जैनधर्म की दृष्टि से विकार है। जैन धर्म मानता है कि व्यक्ति की खुद की करणी उसके काम आती है। मृत्यु के बाद स्वजनों द्वारा की हुई कोई भी क्रिया, मृतक के लिए उपकारक नहीं हो सकती। मृतक को धूप देना, उसके शौक की वस्तुएँ रखना या दान करना, उसके हितार्थ ओसर मोसर करना, ये सब लौकिक क्रियाएँ हैं और अजैन संस्कृति का प्रभाव है। श्राद्ध पक्ष में कई जैन कहाने वाले, मृतक के नाम पर श्राद्ध करते हैं। महिनों और वर्ष भर तक फर्जियात रोना आदि कुरूढ़िएँ, जैनी कहलाने वालों के लिए शोभनीय नहीं है। यह संसर्ग दोष से घुसा हुआ विकार है और है जैन धर्म के प्रतिकूल। अतएव इसको मिटाना चाहिए।

९ साधु साध्वी के देहान्त के बाद शव को बाहर के लोगों के दर्शनार्थ, वहुत लम्बे समय तक रखा जाता है और वड़े ठाठवाट से समारोह पूर्वक अन्तिम क्रिया होती है। देह दर्शन के लिए शव को लम्बे समय तक रोक रखना हिंसा है। क्योंकि शव में अन्तर्मुहूर्त में ही सम्मूच्छिम जीवों की उत्पत्ति होने लगती है और दुर्गन्ध पैदा होकर फैलती है। ठाठवाट से

शव संस्कार करना—यह मृतात्मा के प्रति संमान प्रदर्शित करने की लोक रुढ़ि है, परन्तु उसमें भी विवेक होना चाहिए। अनावश्यक और व्यर्थ के आडम्बर में शक्ति का अपव्यय करने के बदले शुभकार्य किये जाएँ, तो विकार हटकर वास्तविक प्रभावना हो सकती है।

१० अजैन मान्यता में विवाह को धर्म माना है। जैन धर्म, विवाह को धर्म नहीं मानता, किंतु ब्रह्मचर्य पालन को धर्म मानता है, फिर भी हम लोग विवाह शादी करते हैं, यह विषय वासना को मर्यादित रखकर अनैतिकता को रोकने के लिए है। किन्तु कई जैन बन्धु व बहिने, अजैन संस्कारों के कारण, विवाह को धर्म मानकर पुत्री विवाह को 'कन्यादान'—एक प्रकार की शुभ क्रिया मानते हैं, यह अज्ञान है। अब 'जैन विवाह पद्धति की आवाज भी उठने लगी है। मैंने पुरानी और नई जैन विवाह पद्धति भी देखी, किन्तु वैदिक पद्धति में और उसमें सिवा मुख्य देव परिवर्त्तन के विशेष फर्क नहीं देखा। जैन विवाह संस्कार विधि में भी गणपति आदि देव और हवन तथा पूजा की विधि तथा अनेक प्रकार की सामग्री मौजूद है। यदि विवाह पद्धति में से व्यर्थ के क्रियाकलापों को हटाकर विकारों को नष्ट करना है, तो पूर्ण रूप से करना चाहिये।

हमें यह ध्यान रखना है कि विवाह संस्कार, जैन धर्म का सैद्धान्तिक कर्त्तव्य—धर्म नहीं है। फिर भी हम उदय के आधीन होकर करते हैं, तो इसमें आवश्यक और धर्म सम्मत

क्रिया को ही अवकास होना चाहिए। अनावश्यक और व्यर्थ की सभी क्रियाओं को बन्द कर देनी चाहिए। आवश्यक क्रियाएँ ये हैं।

१ सगे सम्बन्धी और ज्ञातिजन की साक्षि से वरवधू को जीवन पर्यन्त सहिष्णुता पूर्वक सहयोग रखने, दुःख सुख और प्रत्येक परिस्थिति में एक हृदय से, समान रूप से साथी रहकर जीवन निर्वाह करने, तथा स्वजनादि की मर्यादा पूर्वक सेवादि करने की प्रतिज्ञा करना।

२ धर्म स्थान पर जाकर धर्म गुरु, (मुनिराज अथवा महासतीजी) और उनकी अनुपस्थिति में व्रतधारी श्रावक से 'सरदार संतोष व्रत' एवं 'सपति संतोष व्रत' की प्रतिज्ञा लेकर इस लौकिक मांगलिक कार्य को धर्म मंगल के रूप में यथाशक्ति परिणत करना तथा यथाशक्ति नित्य नियम के रूप में धर्माराधना की प्रवृत्ति चालू करना।

इसके अतिरिक्त भैरू, भवानी आदि का पूजन और अनेक प्रकार की व्यर्थ क्रियाएँ, सब त्यागनीय है। न हवन की आवश्यकता है, न पूजन की।

संसार 'कर्मपत्नी' को 'धर्मपत्नी' कहता है, किन्तु वास्तविक धर्मपत्नी वही है, जो धर्म वृद्धि में सहयोग दे।

११ जैन धर्म में पाप त्याग के प्रत्याख्यान होते हैं, किन्तु किसी दुखी की सेवा अथवा प्रसूति की परिचर्या के प्रत्याख्यान नहीं होते। हां, किसी विशिष्ठ साधना के समय ये क्रियाएँ नहीं होती, किन्तु इन क्रियाओं को करने के प्रत्या-

ग्रान नहीं होते। वैदिकों के प्रभाव के कारण जैन धर्म की
र्तिपूजक परम्परा में ऐसे त्याग होने लगे। कई बहिनें
पनी वधुओं और पुत्रियों के प्रसव काल के समय तथा कुछ
दन बाद भी उनकी परिचर्या करने के प्रत्याख्यान कर लेती
। उनकी मान्यता है कि 'यदि वे उनकी सेवा करेंगी, तो
न्हें सूतक लग जायगा और इससे वे दर्शन पूजनादि से
चित रह जायँगी। हमारी साधुमार्गी जैन समाज में तो ऐसी
ाधा है ही नहीं। प्रसूति सेवा के बाद वे सामायिकादि कर
कती है। मृतक का अग्नि संस्कार होने के बाद भी सामा-
यकादि हो सकती है। फिर भी संसर्ग दोष के कारण हमारे
माज में भी कहीं कहीं वैसे प्रत्याख्यान होने लगे हैं। यह भी
वकार का ही परिणाम है।

१२ साधु और श्रावक की जितनी भी धर्म क्रियाएँ
ैं, वे सब आत्म कल्याण के लिए है–निर्जरा के लिए है, किंतु
चुंदड़ी का उपवास' 'संकट्या तेला', मदना सुन्दरी का आदर्श
सामने रखकर 'व्याधिहरण और सुख सम्पत्ति करण ओली'
आदि तप भौतिक स्वार्थ साधना के उद्देश्य होता है और इस
विकार में त्यागी वर्ग भी सहायक होता है। तपस्याएँ हों,
किन्तु उसके साथ रही हुई स्वार्थ भावना मिटकर आत्मकल्याण
का हेतु ही रहे, इसका ध्यान रखने की आवश्यकता है। ऐसा
होने पर ही विकार हटकर संस्कार शुद्ध हो सकेंगे।

श्री भरतेश्वर और श्रीकृष्ण तथा अभयकुमार ने
भौतिक इच्छा से तप किये थे; किन्तु वे विरति में स्वीकार

नहीं किये गये। उनके वे पोषध, आत्म पोषक नहीं, किन्तु स्वार्थ पोषक थे। स्वार्थ पोषक तप में त्यागियों की अनुमति नहीं होनी चाहिए और जो विकार घुसे हैं, उन्हें दूर करना चाहिए।

१३ चेचक, मोतीझरा आदि बिमारियों को देव मानना भी विकार ही है। इस विकार से भी बचना चाहिए।

१४ अजैन लोगों के संसर्ग से जैन लोग भी सीतला, काली, अम्बिका, भैरु, भवानी, रामदेवजी आदि देवों को मानते हैं, पीर, पैगम्बर को पूजते हैं। चण्डी, मण्डी, आदि को पूजते हैं। होम करते हैं, नैवेद्य चढ़ाते हैं। यह सब त्यागने योग्य है। इन कार्यों के प्रवर्त्तकों एवं प्रचारकों की संगति करने से दोष लगता है। यह लौकिक मिथ्यात्व है। और यह सब हमारे जैनत्व में खामी बतलाने के लक्षण है। इस विकार से प्रत्येक जैनी को बचना चाहिए।

१५ जैन श्रमण, दीक्षित होने के दिन से जीवन पर्यन्त आरम्भ समारम्भ के सर्वथा त्यागी होते हैं। जो लोग मन्दिर और तीर्थ स्थान के लिए तथा उपाश्रय बनाने का उपदेश करते और प्रेरणा देते हैं, उन्हें हम संयम से गिरे हुए मानते थे, किन्तु अब कोई श्रमण, स्थानक, आश्रम एवं स्मारकादि बनवाने की प्रेरणा करते हैं। कोई विद्यालय खुलवाते हैं, और इनके लिए धन जुटाने का प्रयत्न करते हैं। ये सब कार्य उनकी साधुता के विपरीत है। साधुता में घुसा हुआ यह विकार शीघ्र ही मिटना चाहिए।

१६ जैन श्रमण आडम्बर को प्रोत्साहन नहीं दे सकते, किन्तु कुछ समय से धर्म के नाम पर प्रभातफेरियाँ, जुलूस आदि की प्रेरणा करके आडम्बर बढ़ाने लगे।

इस प्रकार के अन्य जितने भी विकार हैं उन सब को हटाकर शुद्ध जैन संस्कारों की प्रतिष्ठा करनी चाहिए। इसीसे हमारा उत्थान होगा।

सुलभ बोधि के कारण

जिन सत्कार्यों से जीव का धर्म प्राप्त करना सरल हो जाता है, और बिना कठिनाई के धर्म को समझकर स्वीकार किया जा सकता है, उन्हें 'सुलभ बोधि के कारण' कहते हैं। ये कारण दुर्लभ बोधि के कारण से उल्टे हैं। यथा-

१ अरिहंत भगवान् का गुणगान करना, जैसे-अरिहंत भगवान्, राग द्वेष को नष्ट करके वीतराग हुए हैं, वे सर्वज्ञ सर्वदर्शी हैं। देवेन्द्र भी उनकी वन्दना करते हैं। उनकी वाणी पूर्ण सत्य और परम हितकारी है। वे मोक्षगामी हैं। उन्हें मेरा नमस्कार है।

२ अरिहंत प्रणीत धर्म के गुणग्राम करना-वस्तु स्वरूप को प्रकाशित करने में सूर्य के समान, गुणरत्नों का समुद्र, सभी जीवों का परम हितैषी बन्धु, ऐसा श्रुतचारित्र रूप जिनधर्म जयवन्त वर्तो।

३ आचार्य उपाध्याय के गुणगान करना-परहित में

रत, पाँच आचार के पालक और प्रवर्तक, चतुर्विध संघ के नायक, मोक्ष मार्ग के नेता–ऐसे आचार्य उपाध्याय को नमस्कार हो।

४ संघ की स्तुति करना–संसार में सर्वोत्तम गुणों के भण्डार, जिनधर्म को धारण करके प्रवर्तन करने वाला, ऐसा जंगम तीर्थ रूप संघ, प्रतिदिन उन्नत होता रहे।

५ तप और ब्रह्मचर्यादि शील का पालन करके दे हुए उनकी प्रशंसा करना जैसे–अहो! शील का कैसा उत्तम प्रभाव है। जिन्होंने काम पर विजय पाई, जो भोग को रोग मानकर त्याग चुके थे और तप के द्वारा कर्मों को क्षय करते थे, वे कर्मों के शेष रहने से महान् ऋद्धिशाली देव हुए हैं इत्यादि।

इस प्रकार धर्म, धर्मदाता, धर्म नेता आदि का गुणगान करने से भविष्य में–परभव में धर्म की प्राप्ति सुलभ होती है। इसलिए दुर्लभबोधि के कारणों को त्यागकर सुलभबोधि के कारणों का विशेष रूप से पालन करना चाहिए।

(ठाणांग ५-२)

उत्थान क्रम

संसार से मुक्त होने की योग्यता उसी जीव में होती है, जो भवसिद्धिक=भव्य हो, जिसका स्वभाव वैसा हो, जिसमें वैसी योग्यता हो। इस प्रकार की योग्यता जीव में स्वभाव से

ही होती है। यह अनादि पारिणामिक भाव है (अनुयोगद्वार) किन्तु जीव की अनादिकाल से मिथ्यापरिणति चालू हीं रही, जिसके कारण वह अपने स्वभाव का प्रकटीकरण नहीं कर सका। उसकी दशा काली—अन्धकारमयी ही रही। वह 'कृष्णपक्षी' ही बना रहा। अनादिकाल से वह कृष्णपक्षी रहा। किन्तु जब उत्थानकाल प्रारम्भ होता है, तो सर्वप्रथम वह कृष्णपक्षी मिट-कर 'शुक्लपक्षी' होता है। इस प्रकार की अवस्था भी अनन्त-काल—अनन्त उत्सर्पिणी अवसर्पिणी एवं क्षेत्र से देशोनअर्ध-पुद्गल परावर्त्तन रहती है, अर्थात् मोक्ष जाने के इतने पहले से वह शुक्लपक्षी बन जाता है। कई जीव शुक्लपक्षी बनने के साथ सम्यग्दृष्टि हो जाते हैं और कई मिथ्यादृष्टि अवस्था में ही रहते हैं। जो सम्यग्दृष्टि हो जाते हैं, वे बाद में सम्यक्त्व का वमन करके पुनः मिथ्यादृष्टि होते ही हैं,क्योंकि देशोन अर्ध पुद्गल परावर्त्तन तक उन्हें संसार में रहना होता है और इतना समय सम्यक्त्व अवस्था में नहीं रह सकते।

शुक्लपक्षी के लिए अर्ध पुद्गल परावर्त्तन बताया, उसी प्रकार सम्यक्त्व का अन्तर अथवा सादि सान्त मिथ्यात्व का काल भी जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अनन्तकाल यावत् देशोन अर्धपुद्गल परावर्त्तन है। (जीवाभिगम समुच्चय जीवा-धिकार) इसलिए कोई जीव शुक्लपक्षी होने के साथ ही सम्य-क्त्व भी पा लेता है और फिर कालान्तर में छोड़ देता है। जब चारित्र—यथाख्यात चारित्र का, व्यक्ति की अपेक्षा उत्कृष्ट अन्तर इतना हो सकता है, तब सम्यक्त्व का हो, इसमें तो असंभव जैसी बात ही नहीं है।

शुक्लपक्षी होने के बाद जीव सम्यक्त्वी होता है, औ सम्यक्त्वी के बाद परिमित संसारी होता है। कई जीव सम्यक्त्व प्राप्त करके भी उसे सुरक्षित नहीं रख सकते और मिथ्यात्व के झपट्टे में आकर खो देते हैं। वे अनन्त संसारी भी बन जाते हैं, किन्तु जो सम्यक्त्व को सुरक्षित रखते हैं, वे परिमित संसारी × बनजाते हैं, फिर उनका निस्तार शीघ्र हो जाता है। इसके बाद सुलभबोधि होता है। जिससे भवान्तर में धर्म प्राप्ति सरलता से हो सके। इसके बाद आराधक होना आवश्यक है। जो आराधक हो चुका, वह १५ भव से अधिक संसार में नहीं रहता (भगवती ८-१०) और चरमभववर्ती का तो वह भव ही अन्तिम होता है। यदि वह देव हुआ, तो फिर देवभव नहीं पाएगा और मनुष्य भव पाकर मुक्त हो जायगा और मनुष्य हुआ, तो उसी भव में मुक्त हो जायगा।
(रायपसेनी सूत्र

इस प्रकार जो भव्य जीव होते हैं, वे पहले कृष्णपक्ष से शुक्लपक्षी होते हैं। फिर सम्यक्त्वी, परिमित संसारी, सुलभबोधि, और आराधक होते हैं और अंत में चरम शरीरी होकर मुक्त होजाते हैं।

जीव, मिथ्यात्व से चौथे गुणस्थान में पहुँच कर सम्यग्दृष्टि होते हैं। कोई कोई जीव, मिथ्यात्व छोड़ने के साथ

× 'परिमित्त संसारी' का अर्थ जीवाभिगम मूलपाठ से उत्कृष्ट देशोन अर्ध-पुद्गल-परावर्त्तन होता है, किन्तु यहां मध्यम का स्वल्प संसार-लगभग १५ भव ही उपयुक्त लगता है।

सम्यक्त्व और अप्रमत्त संयत एक साथ बनजाते हैं, तो कोई सम्यक्त्व और देशविरत होने के बाद, अप्रमत्त गुणस्थान स्पर्श कर फिर प्रमत्त होते हैं। अप्रमत्त गुणस्थान से आगे बढ़कर, क्षपक श्रेणी प्राप्त कर, क्रमशः अयोगी अवस्था पाकर मुक्त हो जाते हैं।

इस उत्थान क्रम से जीव, जिनेश्वर बनकर सिद्ध हो जाता है। मैं भी इस पद को प्राप्त करूं और सभी आत्माएँ परम-पद को प्राप्त कर सुखी बने।

सम्यग्दर्शन का महत्त्व

सम्यग्-ज्ञान से जीवादि पदार्थों और हेय, ज्ञेय तथा उपादेय का ज्ञान होता है, किन्तु उस ज्ञान के साथ श्रद्धा गुण नहीं हो, तो वह वास्तविक लाभप्रद नहीं होता। जाने हुए पर विश्वास होने से ही आचरण में रुचि होती है। बिना श्रद्धा का ज्ञान, मिथ्यादृष्टि का होता है। जिसे शास्त्रीय परिभाषा में 'दीपक सम्यक्त्व' अथवा 'विषय प्रतिभास ज्ञान' कहते हैं। जैसा ज्ञान सम्यग्दृष्टि का होता है, वैसा ही—कभी उससे भी अधिक और प्रभाव जनक ज्ञान, मिथ्यादृष्टि को भी होता है, फिर भी वह सम्यग्दृष्टि नहीं माना जाता। क्योंकि उसमें दर्शन=श्रद्धा गुण नहीं है। सम्यक्ज्ञान पर श्रद्धा होने से ही सम्यग्दृष्टि माना जाता है। श्री उत्तराध्ययन अ. २८ गा. ३५ में लिखा कि—

"नाणेण जाणइ भावे, दंसणेण य सद्दहे"।

अर्थात्--ज्ञान से आत्मा जीवादि भावों को जानता है और दर्शन से श्रद्धान् करता है। श्रद्धा का शुद्ध होना और उसे दृढ़ीभूत करना ही दर्शनाराधना है। जिसमें सम्यग्दर्शन नहीं उसकी सभी क्रियाएँ कर्म बन्धन रूप ही होती है। श्री सूय-गडांग सूत्र अ.८ में कहा है कि--

जे याबुद्धा महाभागा, वीरा असमत्तदंसिणो।
असुद्धं तेसि परक्कंतं, सफलं होई सव्वसो ॥२२॥

-जो व्यक्ति महान् भाग्यशाली और जगत् में प्रशंस-नीय है, जिनकी वीरता की धाक जमी हुई है, किन्तु वे धर्म के रहस्य को नहीं जानते हैं और सम्यग्दृष्टि से रहित हैं, तो उनका किया हुआ सभी पराक्रम-दान, तप आदि अशुद्ध है। और कर्म बंध का ही कारण है।

सम्यग्दर्शन वह आधार रूप भूमिका है कि जिसके ऊपर चारित्र रूपी महल खड़ा किया जा सकता है। जब तक दर्शन रूपी आधार दृढ़ नहीं होजाय, तब तक पूर्वों का श्रुत भी मिथ्या ज्ञान रूप रहता है और अन्य क्रियाकलाप भी कष्ट रूप रहता है। पूर्वाचार्य ने 'भक्त परिज्ञा' में कहा है कि--

"दंसण भट्ठो भट्ठो, न हु भट्ठो होइ चरण पब्भट्ठो।
दंसणमणुपत्तस्स हु परिअडणं नत्थि संसारे ॥६५॥
दंसणभट्ठो भट्ठो, दंसणभट्ठस्स नत्थि निव्वाणं।
सिज्झंति चरण रहिआ, दंसणरहिया न सिज्झंति" ॥६६॥

अर्थात्-चारित्र भ्रष्ट आत्मा (सर्वथा) भ्रष्ट नहीं है, किन्तु दर्शन भ्रष्ट आत्मा ही वास्तव में भ्रष्ट एवं (सर्वथा) पतित है। जो दर्शन से भ्रष्ट नहीं है, वह जीव संसार परि-भ्रमण नहीं करता है, किन्तु चारित्र प्राप्त करके मुक्त हो जाता है। वास्तविक पतित तो दर्शन भ्रष्ट जीव ही है, क्योंकि केवल चारित्र भ्रष्ट तो दर्शन के सद्भाव में पुनः चारित्र प्राप्त करके सिद्ध गति प्राप्त कर लेता है, किन्तु दर्शन भ्रष्ट का सिद्धि लाभ करना कदापि संभव नहीं है।

'सिज्झंति चरण रहिया' का यह अर्थ भी है कि-जो भी सिद्ध होते हैं, वे चारित्र रहित होकर सिद्ध होते हैं। सिद्धात्माओं में यथाख्यात चारित्र भी नहीं होता, इसीलिए उन्हें 'नो संयमी नो असंयमी' कहते हैं, किन्तु दर्शन रहित तो कोई भी सिद्ध नहीं होता। सिद्धों में क्षायिक सम्यक्त्व रहता ही है।

श्री आनन्दघनजी ने भी 'अनन्त जिन स्तवन' में कहा है कि--

"देव गुरु धर्म नी शुद्धि कहो किम रहे,
किम रहे शुद्ध श्रद्धान आणो।
शुद्ध श्रद्धा बिना सर्व किरिया करी,
छार पर लींपणु तेह जाणो" ॥

जिस प्रकार राख पर लींपना व्यर्थ है, उसी प्रकार बिना शुद्ध श्रद्धा के सभी प्रकार की क्रिया व्यर्थ रहती है।

इन सब उक्तियों का सार--धर्म का मूल सम्यग्दर्शन

ही है। आगमकार भगवंत ने भी फरमाया कि--

"नादंसणिस्स नाणं, नाणेण विणा नहुंति चरणगुणा।
अगुणिस्स नत्थि मोक्खो, नत्थि अमोक्खस्स णिव्वाणं॥

(उत्तरा० २८-३०

—दर्शन के बिना ज्ञान नहीं होता, और जिसमें ज्ञा नहीं, उसमें चारित्र गुण नहीं होता। ऐसे गुणहीन पुरुष क मुक्ति नहीं होती और बिना मुक्ति के शाश्वत सुख की प्राप्ति भी नहीं होती। इसके पूर्व कहा कि—**"नत्थि चरित्तं सम्मत्त-विहूणं"**—सम्यक्त्व के बिना चारित्र नहीं होता।

प्रज्ञापना सूत्र के बाइसवें पद में लिखा है कि—"**जस्स पुण मिच्छादंसणवत्तिया किरिया कज्जइ तस्स अपच्चक्खाण किरिया नियमा कज्जइ**"

अर्थात्—जिसको मिथ्यादर्शन प्रत्ययिकी क्रिया लगती है, उसे अप्रत्याख्यान क्रिया अवश्य ही लगती है। सम्यग्दर्शन के अभाव में की हुई क्रिया, सम्यग् चारित्र रूप नहीं होती। श्रीमद् भगवती सूत्र श. ७ उ. २ में भी लिखा कि 'जिसे जीव अजीव का ज्ञान नहीं, उसके प्रत्याख्यान, दुष्प्रत्याख्यान—खराब पच्च-क्खाण है। अजैन मान्यता भी इससे मिलती जुलती है, जिसका वर्णन "सद्धर्ममण्डन" की भूमिका में देखना चाहिए।

"दृष्टि जैसी सृष्टि" की कहावत सर्वत्र तो नहीं, किन्तु यहां चरितार्थ होती है। जिसकी दृष्टि गलत, उसके कार्य भी गलत होते हैं। इसलिए दृष्टि सुधारने पर महापुरुषों ने विशेष

जोर दिया है। आगमों में सम्यग्दर्शन का महत्व बताया ही है, किन्तु बाद के आचार्यों ने भी सम्यक्त्व का गुणगान बड़ी विशिष्टता के साथ किया है। उसके थोड़े से नमूने यहां दिये जा रहे हैं।

जीवाइ नव पयत्थे, जो जाणइ तस्स होइ सम्मत्तं।
भावेण सद्दहन्ते, अयाणमाणेवि सम्मत्तं ॥१॥
सव्वाइं जिणेसर भासिआइं, वयणाइं नन्नहा हुंति।
इअ बुद्धि जस्स मणे, सम्मत्तं निच्चलं तस्स ॥२॥
अंतोमुहुत्तमित्तंपि, फासियं हुज्ज जेहिं समत्तं।
तेसिं अवड्ढपुग्गल, परियट्टो चेव संसारो ॥३॥

(नवतत्त्व प्रकरण)

जो जीवादि नव पदार्थों को जानता है, उसे सम्यक्त्व होता है। यदि क्षयोपशम की मन्दता से कोई यथार्थ रूप से नहीं जानता, तो भी "भगवान् का कथन सत्य है"—इस प्रकार भाव से श्रद्धान करता है, तो भी उसे सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है (यही बात आचारांग श्रु० १ अ० ५ उ० ५ में लिखी है)।१।

'भगवान् जिनेश्वर के कहे हुए सभी वचन सत्य हैं, वे कभी भी असत्य नहीं होते'—ऐसी निश्चल बुद्धि जिसमें है, उसकी सम्यक्त्व दृढ़ होती है।।२।

जिसने अन्तर्मुहूर्त मात्र भी सम्यक्त्व का स्पर्श कर लिया, उसे कुछ न्यून अर्धपुद्गल परावर्त्तन से अधिक संसार परिभ्रमण नहीं होता। इतने काल में वह मोक्ष पा ही लेता है।।३।

"सम्यक्त्वकौमुदी" में सम्यक्त्व की महिमा बताते हुए लिखा कि—

सम्यक्त्वरत्नान्नपरं हि रत्नं,
सम्यक्त्व मित्रान्न परं हि मित्रम् ।
सम्यक्त्व बंधोर्न परो हि बंधुः,
सम्यक्त्वलाभान्न परो हि लाभः ॥

संसार में ऐसा कोई रत्न नहीं जो सम्यक्त्व रत्न से बढ़कर मूल्यवान हो । सम्यक्त्व मित्र से बढ़कर, कोई मित्र नहीं हो सकता, न बन्धु ही हो सकता और सम्यक्त्व लाभ से बढ़कर संसार में अन्य कोई लाभ हो ही नहीं सकता ।

श्लाघ्यं हि चरणज्ञान-वियुक्तमपि दर्शनम् ।
नपुनर्ज्ञानचारित्रे, मिथ्यात विष दूषिते ॥

ज्ञान और चारित्र से रहित होने पर भी सम्यग्दर्शन प्रशंसा के योग्य है, किन्तु मिथ्यात्व विष से दूषित होने पर ज्ञान और चारित्र प्रशंसित नहीं होते ।

एक आचार्य ने सम्यक्त्व का महत्व बताते हुए लिखा कि—

असमसुखनिधानं, धाम संविग्नतायाः,
भवसुख विमुखत्वो,-दीपने सद्विवेकः ।
नरनरकपशुत्वो-च्छेदहेतुर्नराणाम्,
शिवसुखतरु बीजं, शुद्ध सम्यक्त्व लाभः ॥

शुद्ध सम्यक्त्व, अतुल सुख का निधान है । वैराग्य

धाम है। संसार के क्षणभंगुर और नाशवान सुखों की असा-रता समझने के लिए सद्विवेक रूप है। भव्य जीवों के नरक, तिर्यञ्च और मनुष्य सम्बन्धी दुःखों का नाश करने वाला है और शुद्ध सम्यक्त्व की प्राप्ति ही मोक्ष सुख रूप महावृक्ष के बीज के समान है।

दिगम्बर आचार्य श्री शुभचन्द्रजी ने ज्ञानार्णव में कहा है कि—

सद्दर्शनं महारत्नं, विश्वलोकैक भूषणम्।
मुक्ति पर्यंत कल्याण, दानदत्तं प्रकीर्तितम्॥

सम्यग्दर्शन, सभी रत्नों में महान् रत्न है, समस्त लोक का भूषण है। आत्मा को मुक्ति प्राप्त होने तक कल्याण—मंगल देन वाला चतुर दाता है।

चरणज्ञानयोर्बीजं, यम प्रशम जीवितम्।
तपः श्रुताद्यधिष्ठानं, सद्भिःसद्दर्शनं मतम्॥

सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र का बीज है। व्रत महा-व्रत और उपशम के लिए जीवन स्वरूप हैं। तप और स्वाध्याय का यह आश्रय दाता है। इस प्रकार जितने भी शम, दम, व्रत, तप, आदि होते हैं, उन सब को यह सफल करने वाला है।

अप्येकं दर्शनं श्लाघ्यं, चरणज्ञानविच्युतम्।
न पुनः संयमज्ञाने, मिथ्यात्व विषदूषिते॥

ज्ञान और चारित्र के नहीं होने पर भी अकेला

सम्यग्दर्शन प्रशंसनीय होता है । इसके अभाव में संयम और ज्ञान, मिथ्यात्व रूपी विष से दूषित होते हैं ।

आराधनासार में लिखा है कि—

येनेदं त्रिजगद्वरेण्यविभुना, प्रोक्तं जिनेन स्वयं ।
सम्यक्त्वाद्भुत रत्नमेतदमलं, चाभ्यस्तमप्यादरात् ॥
भंक्त्वासंप्रसभं कुकर्मनिचयं शक्त्याच सम्यक्पर—
ब्रह्माराधनमद् भुतोदितचिदानंदं पदं विंदते ॥

जो मनुष्य तीन जगत् के नाथ ऐसे जिनेन्द्र भगवान् द्वारा प्रतिपादित, सम्यक्त्व रूप अद्भुत रत्न का आदर सहित अभ्यास करता है, वह निन्दित कर्मों को बल पूर्वक समूल नष्ट करके विलक्षण आनन्द प्रदान करने वाले परब्रह्म को प्राप्त कर लेता है ।

दर्शनपाहुड में लिखा कि—

दंसणमूलो धम्मो, उवइट्ठो जिणवरेहिं सिस्साणं ।
तं सोऊण सकण्णे, दंसणहीणो ण वंदिव्वो ॥

—जिनेश्वर भगवान् ने शिष्यों को उपदेश दिया है कि 'धर्म, दर्शन मूलक ही है । इसलिए जो सम्यग्दर्शन से रहित है, उसे वन्दना नहीं करनी चाहिए । अर्थात्—चारित्र तभी वन्दनीय है जब कि वह सम्यग्दर्शन से युक्त हो ।

चारित्र पालने में असमर्थ जीवों को उपदेश करते हुए पूर्वाचार्य 'गच्छाचारपइन्ना' में लिखते हैं कि—

जइवि न सक्कं काउं, सम्मं जिणभासिअं अणुट्ठाणं।
तो सम्मं भासिज्जा, जह भणिअं खीणरागेहिं ॥
ओसन्नोऽविविहारे, कम्मं सोहेइ सुलभबोही अ।
चरणकरण विसुद्धं, अववूहिंतो परुविंतो ॥

—यदि तू भगवान् के कथनानुसार चारित्र नहीं पाल सकता, तो कम से कम जैसा वीतराग भगवान् ने प्रतिपादन किया है, वैसा ही कथन तुझे करना चाहिए। कोई व्यक्ति शिथिलाचारी होते हुए भी यदि वह भगवान् के विशुद्ध मार्ग का यथार्थ रूप से बल पूर्वक निरूपण करता है, तो वह अपने कर्मों को क्षय करता है। उसकी आत्मा विशुद्ध हो रही है। वह भविष्य में सुलभ बोधी होगा।

इस प्रकार सम्यग् दर्शन की महिमा अपरंपार है। सभी जैनाचार्यों ने एक मत से इस बात को स्वीकार की है, किन्तु उदय के प्रभाव से कुछ लोग ऐसे भी हैं जो "तत्त्वार्थ श्रद्धा रूप सम्यग्दर्शन" को नहीं मानकर, अपनी मति कल्पना से सिद्धांत को दूषित करते हैं और अपनी समझ में आवे उसको ही सत्य मानने को सम्यक्त्व कहते हैं—भले ही वे खुद भूल कर रहे हों। कुछ ऐसे भी हैं जो आगमों का अर्थ अपनी इच्छानुसार—विपरीत करके मिथ्या प्रचार करते हुए सम्यक्त्व को दूषित करते हैं। और उपासकों की श्रद्धा बिगाड़ कर उन्हें धर्म से विमुख बनाते हैं। ऐसे ही लोगों का परिचय देते हुए सूत्रकृतांग १-१३-३ में गणधर महाराज ने फरमाया है कि—

विसोहियं ते अणुकाहयं ते, जे आतभावेण वियागरेज्जा।
अट्ठाणिए होइ वहूगुणाणं, जे णाणसंकाइ मुसं वदेज्जा ॥

—जो निर्दोष वाणी को विपरीत कहते हैं, उसकी मन चाही व्याख्या करते हैं और वीतराग के वचनों में शंका करके झूठ बोलते हैं, वे उत्तम गुणों से वंचित रहते हैं।

ऐसे लोगों से सावधान करते हुए विशेषावश्यक में आचार्यवर ने बताया कि—

सव्वण्णुप्पामण्णा दोसा हु न संति जिणमए केई।
जं अणुवउत्तकहणं, अपत्तमासज्ज व हवेज्जा ॥१४६६॥

—सर्वज्ञ सर्वदर्शी वीतराग प्रभु के द्वारा प्रवर्तित होने से श्री जिन धर्म में किञ्चत् मात्र भी दोष नहीं है। यह धर्म सर्वथा शुद्ध, पूर्ण रूप से सत्य और उपादेय है, किन्तु अनुपयोगी गुरुओं के कथन से अथवा अयोग्य शिष्यों से जिनशासन में दोष उत्पन्न होते हैं। यह सारा दोष उन दूषित व्यक्तिओं का है—जो अपने दोषों से जिनमत को दूषित करते हैं। इसलिए व्यक्तियों के दोष को देखकर धर्म को दूषित नहीं मानना चाहिए।

इस प्रकार दूषित श्रद्धा वालों से बचकर, सम्यग्श्रद्धान् को दृढ़ीभूत करने का ही प्रयत्न करना चाहिए। सम्यक्त्व को दृढ़ीभूत करने के लिए शिक्षा देते हुए आचार्य कहते हैं कि—

मेरुव्व णिप्पकंपं णट्ठ-मलं तिमूढ उम्मुक्कं।
सम्मदंसणमणुवममुप्पज्जइ पवयणब्भासा ॥

–प्रवचन (जिनागम) के अभ्यास से आठ प्रकार के मल से रहित, तीन प्रकार की मूढ़ता से वंचित और मेरु के समान निष्कम्प ऐसे सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है। इसलिए आत्मार्थीजनों को नित्य ही जिन–प्रवचन का श्रवण, पठन करते ही रहना चाहिए।

आत्म बन्धुओं ! समझो। यह सम्यग्दर्शन ऐसी चीज नहीं है जो सबकी अपनी मनमानी और घर जानी हों। थोड़ीसी विपरीतता के कारण, जमाली मिथ्यादृष्टि बन गया, तो अपन किस हिसाब में हैं। पूर्वों का ज्ञान धराने वाले भी मिथ्यादृष्टि हो जाते हैं, तो आजकल के थोथे विद्वान–कुतर्की पंडितों पर विश्वास करके अपने दर्शन गुण से क्यों भ्रष्ट होते हो ? सम्यक्त्व, इन लौकिक पण्डितों या बड़े बड़े नेताओं की जेबों में–स्वच्छन्द मस्तिष्क में, या वाक्पटुता में नहीं भरी है। वह है निर्ग्रंथ प्रवचन में। "सद्धा परम दुल्लहा" (उत्तरा० ३–९) सम्यग् श्रद्धान की प्राप्ति परम दुर्लभ है। इस महान् रत्न को सम्हाल कर रक्खो। तुम्हारी बुद्धि पर डाका डालकर इस रत्न को लूटने वाले लुटेरे, साहुकारों के रूप में कई पैदा हो गए हैं। उनकी मोहक और धर्म के लेबलवाली, मीठी शराब मत पी लेना। असल नकल की परीक्षा, निर्ग्रंथ प्रवचन अथवा ज्ञानी गुरु से करना। श्रीआचारांग सूत्र १–५–६ में लिखा है कि "पर प्रवाद तीन तरह से तपासना चाहिए–१ गुरु परम्परा से २ सर्वज्ञ के उपदेश से ३ या फिर अपने जातिस्मरण ज्ञान से। अभी तीसरा साधन

प्राय: नहीं है। दो साधनों से ही परीक्षा करनी चाहिए अन्यथा धोखा खा जाओगे और खो बैठोगे-इस दुर्लभ रत्न को

धन्य है वे प्राणी, जो अपने सम्यक्त्व रूपी रत्न की रक्षा करते हुए दृढ़ रहते हैं और दूसरों को भी दृढ़ बनाते हैं उन्हें बारबार धन्यवाद है।

सम्यक्त्व रत्न की दुर्लभता

संसार में सभी बातें सुलभ है। धन, सम्पत्ति, कुटुम्ब, परिवार, राज्याधिकार, दैविकऋद्धि, तीर्थङ्कर भगवान् से साक्षात्कार, निर्ग्रन्थ प्रवचन का श्रवण एवं द्रव्य संयम की प्राप्ति भी जीव को कभी हो सकती है। पूर्वों तक का श्रुत भी प्राप्त हो सकता है और अनेक प्रकार की आश्चर्यजनक लब्धियां भी मिल जाती है, किन्तु सम्यक्त्व रत्न की प्राप्ति महान् दुष्कर है। जो अभव्य और भव्य मिथ्यादृष्टि, चारित्र क्रिया का उत्तम रीति से पालन कर अहमेन्द्र बन जाते हैं, वे भी इस रत्न से वञ्चित होने के कारण वहां से नीचे गिरकर फिर चौरासी के चक्कर में भटकते रहते हैं। यदि उनकी आत्मा में श्रद्धा का निवास होता, तो उनकी मुक्ति में कोई सन्देह नहीं था।

यों तो मनुष्य-भव की प्राप्ति भी दुर्लभ है और आर्य क्षेत्र भी दुर्लभ है, किन्तु श्रद्धा तो 'परम दुर्लभ है'। भगवान् ने फरमाया है कि-"सद्धा परम दुल्लहा" (उत्तरा ३-९)

इसलिए सम्यक्त्व रत्न की प्राप्ति और रक्षण में पूर्ण रूप से सावधानी रखनी चाहिए। जिसने अन्तर्मुहूर्त मात्र भी

सम्यक्त्व का स्पर्श कर लिया, वह जीव निश्चय ही मोक्ष प्राप्त करेगा। "नवतत्त्व प्रकरण" में कहा है कि–

> "अंतो मुहुत्तंपि फासियं हुज्ञा जेहिं सम्मत्तं।
> तेसिं अवड्ढपुग्गल, परियट्टो चेव संसारो"॥

अर्थात्–जिस जीव ने अन्तर्मुहूर्त मात्र भी सम्यक्त्व का स्पर्श कर लिया हो, उसका संसार भ्रमण, अर्ध पुद्गल परावर्त्तन से विशेष नहीं होता। इसके पूर्व ही वह मुक्त हो जाता है।

इतना तो करो

परम तारक जिनेश्वर भगवान् फरमाते हैं कि हे जीव! यदि तू धर्म का आचरण बराबर नहीं कर सकता है, तो कम से कम श्रद्धा और प्ररूपणा तो शुद्ध कर, जिससे तेरी आत्मा भविष्य में भी सुलभबोधि बने। 'गच्छाचारपइन्ना' में लिखा है कि–

> "जइवि न सक्कं काउं, सम्मं जिणभासिअं अणुट्ठाणं।
> तो सम्मं भासिज्ञा, जह भणिअं खीणरागेहिं॥
> ओसन्नोऽविविहारे, कम्मं सोहेइ सुलभबोही अ।
> चरणकरण विसुद्धं, उववूहिंतो परूविंतो॥

अर्थात्–यदि तू भगवान् के कथनानुसार चारित्र का पालन नहीं कर सकता, तो कम से कम प्ररूपणा तो वैसी ही कर–जैसी वीतराग भगवान् ने बतलाई है। कोई व्यक्ति

शिथिलाचारी होते हुए भी यदि वह भगवान् के विशुद्धमार्ग का यथार्थ रूप से बल पूर्वक प्रतिपादन करता है, तो व अपने कर्मों को क्षय करता है। उसकी आत्मा विशुद्ध हो रही है। वह भविष्य में अवश्य ही सुलभबोधि होगा।

आचारांग श्रु० १ अ० ६ उ० ४ में भी कहा है कि **"नियट्टमाणा वेगे आयारगोयरमाइक्खंति,"** अर्थात् कई साधु आचार से=संयम से पृथक् हो जाने पर भी आचार गोचर का यथार्थ प्रतिपादन करते हैं। व्यवहारसूत्र में बताया है कि—यदि सुसाधु नहीं मिले, तो चारित्र से शिथिल किन्तु बहुश्रुत (एवं यथार्थ कहने वाले) साधुवेशी के सम्मुख आलोचना करे। यदि उसका भी योग नहीं मिले, तो साधुता छोड़े हुए बहुश्रुत श्रावक के सम्मुख आलोचना करे। इनके सम्मुख आलोचना भी तभी हो सकती है जबकि वे चारित्र युक्त नहीं होने पर भी, सम्यक्त्व युक्त रहे हों। सम्यक्त्व के अभाव में उनकी उपयोगिता नहीं है।

कहने का तात्पर्य यह कि लाख लाख प्रयत्न करके भी सम्यक्त्व को स्थिर रखना चाहिए। सम्यग्दर्शन कायम रहा, तो सम्यक् चारित्र अवश्य प्राप्त होगा और यदि सम्यग्दर्शन कायम नहीं रहा, तो फिर उसके अभाव में चारित्र का वस्तुतः कोई मूल्य नहीं है। सम्यक्त्व शून्य चारित्र संसार का ही कारण बनता है। इसलिए प्रत्येक भव्य जीव को सम्यक्त्व प्राप्ति और रक्षा का पूर्ण प्रयत्न करना चाहिए।

आस्तिकता

सम्यग्-दृष्टि का मूल लक्षण ही श्रद्धा–आस्तिकता है। इसी पर धर्म का आधार है। यह आस्तिकता वास्तविक होती है। इसका स्वरूप इस प्रकार है–,

आस्तिक्यवादी–

१ आत्मा है, २ आत्मा अनादिकाल से है और अनन्त-काल–सदा ही रहेगा, ३ आत्मा कर्म का कर्त्ता है, ४ आत्मा कर्म का भोक्ता भी है, ५ मोक्ष है और ६ मोक्ष का उपाय–सम्यग्ज्ञानादि भी है। इस प्रकार मानने वाला।

आस्तिक प्रज्ञ–

आस्तिक बुद्धिवाला, परलोक, स्वर्ग, मोक्ष आदि को समझने वाला।

आस्तिक दृष्टि–

जिसकी आस्तिक बुद्धि, श्रद्धा से युक्त है।

सम्यग्वादी–

तत्त्व की यथार्थ श्रद्धा के साथ उसका वाद–अभिप्राय भी सम्यग् ही व्यक्त होता है।

नित्यवादी–

द्रव्य तथा उसके गुण की ध्रुवता–नित्यता का हामी होता है।

परलोकवादी-

स्वर्ग, नरक, मोक्ष और पूर्व जन्म, पुनर्जन्म को मानने वाला होता है। (दशाश्रुतस्कन्ध-६)

आत्मवादी-

आत्मा का अस्तित्त्व, उसके स्वभाव, उसकी शुद्ध एवं अशुद्ध दशा को मानने वाला।

लोकवादी-

आत्मा को एक ही नहीं मानकर अनेक मानने वाला अथवा जीव अजीवात्मक अथवा षट्द्रव्यात्मक लोक को मानने वाला। अधोलोक-नरक, भवनपत्यादि युक्त. तिर्यग् लोक-मनुष्य, तिर्यञ्च, व्यन्तर, ज्योतिष आदि युक्त, ऊर्ध्व लोक-वैमानिक तथा सिद्ध गति मय लोक का स्वीकार करने वाला।

कर्मवादी-

ज्ञानावरणीयादि आठ कर्म, इनका आत्मा के साथ बंध, फल आदि मानने वाला।

क्रियावादी-

आत्मा के शुभाशुभ व्यापार, जिनसे कर्म वन्ध हो या क्षय हो। कर्म वन्ध की कारण क्रिया अथवा कर्म क्षय करने की क्रिया को मानने वाला। (आचारांग १-१-१)

इस प्रकार आस्थावान प्राणी सम्यक्त्व का पात्र होता है। वह आस्रव, संवर, निर्जरा और मोक्ष, उत्तम आचार का उत्तम फल, दुराचार का दुःख दायक फल, तीर्थङ्कर, सि

अनगार. सम्यक्त्व, विरति आदि को यथातथ्य मानने वाला होता है। इस प्रकार सभी सम्यक् भावों की श्रद्धा करने वाला ही सच्चा आस्तिक है और सच्चा आस्तिक ही जैन होता है।

षड् द्रव्य

यह संसार छः द्रव्य मय है। जिसमें गुण और उसकी पर्याय रहे, वह द्रव्य है। द्रव्य के आधार से ही गुण रहते हैं और गुण की विभिन्न अवस्था पर्याय कहलाती है। ये द्रव्य इस प्रकार हैं—

१ धर्मास्तिकाय, २ अधर्मास्तिकाय, ३ आकाशास्तिकाय ४ जीवास्तिकाय, ५ पुद्गलास्तिकाय और ६ काल। इनमें से जीवास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय और काल–ये तीन द्रव्य अनन्त हैं, शेष तीन द्रव्य केवल एक एक ही हैं।

काल द्रव्य की सीमा, मनुष्य क्षेत्र अथवा चर–ज्योतिषी विमानों तक ही है। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, जीवास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय, असंख्येय योजन प्रमाण लोक व्यापी हैं, तब आकाशास्तिकाय, लोक के अतिरिक्त अनन्त अलोक में भी है। लोक में छः द्रव्य हैं, किन्तु अलोक में तो एक आकाश मात्र ही है। इस लोक के चारों ओर अलोक रहा हुआ है। अलोक, लोक से अनन्त गुण बड़ा है। चारों ओर और ऊपर नीचे फैले हुए अलोक में यह लोक, सिन्धु में बिन्दु के समान है।

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और लोकाकाश के जितने (असंख्य) प्रदेश हैं. उतने ही एक जीव के आत्म प्रदेश हैं। (ठाणांग ४-३ तथा भगवती ८-१०)

जीवास्तिकाय का स्वरूप जीव तत्त्व में और शेष पांच द्रव्य का स्वरूप, अजीव तत्त्व में बताया गया है।

जीव अनन्त हैं और पुद्गल भी अनन्त हैं, किन्तु जीव की अपेक्षा पुद्गल अनन्त गुण अधिक है। क्योंकि प्रत्येक संसारी जीव के प्रत्येक आत्म प्रदेश पर, कर्म पुद्गल के अनन्त आवरण लगे हुए हैं। इसके सिवाय अबद्ध पुद्गल भिन्न है। पुद्गल से भी काल अनन्त गुण है, क्योंकि यह जीव और अजीव पर प्रति समय वर्त्तता है। अनन्तकाल बीत चुका और अनन्त बीतेगा। (प्रज्ञापना ३)

नौ तत्त्व

तत्त्व का यथातथ्य श्रद्धान करना ही सम्यक्त्व है। जिनेश्वर भगवान् ने तत्त्वों का जैसा स्वरूप बताया, उसपर पूर्णरूप से श्रद्धा करना ही सम्यग्दर्शन है और यही जैनत्व का मूल आधार है। वे नौ तत्त्व हैं। उनका स्वरूप इस प्रकार है।

१ जीव २ अजीव ३ पुण्य ४ पाप ५ आश्रव ६ संवर ७ निर्जरा ८ बंध और ९ मोक्ष। (उत्तरा० २८, स्थानांग ९)

इन नौ तत्त्वों का विस्तृत स्वरूप बताने के लिए

स्वतन्त्र ग्रंथ की आवश्यकता है। यहां संक्षेप में उनका स्वरूप बताया जाता है।

जीव तत्त्व

जीव–जो जीता है, जिसमें ज्ञान है, उपयोग है, सुख दुःख का अनुभव करता है और प्राण युक्त है। जो वीर्य (शक्ति) वाला है, प्रयत्नशील है–वह जीव कहलाता है। आत्म शक्ति से सभी जीव समान हैं, किन्तु संसार में रहा हुआ जीव, विविध स्वरूपों से पहचाना जाता है। अतएव जीव के विविध भेद इस प्रकार हैं।

एक भेद–सभी जीव, चेतना एवं उपयोग लक्षण युक्त हैं। सभी में आत्मा का ज्ञान, दर्शनादि गुण विद्यमान रहता है। अतएव संग्रह नय की अपेक्षा जीव का एक भेद है।

दो भेद–सिद्ध और संसारी अथवा मुक्त और बद्ध।

तीन भेद–सिद्ध, त्रस और स्थावर।

चार भेद–स्त्री वेदी, पुरुषवेदी, नपुंसक वेदी और अवेदी।

पाँच भेद–नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य, देव और सिद्ध।

छः भेद–एकेन्द्रिय, बेन्द्रिय, तेन्द्रिय, चौरेन्द्रिय, पंचेन्द्रिय और अनिन्द्रिय।

सात भेद–पृथ्वी काय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतीकाय, त्रसकाय और अकाय (सिद्ध)।

आठ भेद–नारक, तिर्यञ्च, तिर्यचनी, मनुष्य, मनुष्यनी,

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और लोकाकाश के जितने (असंख्य) प्रदेश हैं. उतने ही एक जीव के आत्म प्रदेश हैं। (ठाणांग ४-३ तथा भगवती ८-१०)

जीवास्तिकाय का स्वरूप जीव तत्त्व में और शेष पांच द्रव्य का स्वरूप, अजीव तत्त्व में बताया गया है।

जीव अनन्त हैं और पुद्गल भी अनन्त हैं, किन्तु जीव की अपेक्षा पुद्गल अनन्त गुण अधिक है। क्योंकि प्रत्येक संसारी जीव के प्रत्येक आत्म प्रदेश पर, कर्म पुद्गल के अनन्त आवरण लगे हुए हैं। इसके सिवाय अबद्ध पुद्गल भिन्न है। पुद्गल से भी काल अनन्त गुण है, क्योंकि यह जीव और अजीव पर प्रति-समय वर्त्तता है। अनन्तकाल बीत चुका और अनन्त बीतेगा। (प्रज्ञापना ३)

नौ तत्त्व

तत्त्व का यथातथ्य श्रद्धान करना ही सम्यक्त्व है। जिनेश्वर भगवान् ने तत्त्वों का जैसा स्वरूप बताया, उसपर पूर्णरूप से श्रद्धा करना ही सम्यग्दर्शन है और यही जैनत्व का मूल आधार है। वे नौ तत्त्व हैं। उनका स्वरूप इस प्रकार है।

१ जीव २ अजीव ३ पुण्य ४ पाप ५ आश्रव ६ संवर ७ निर्जरा ८ बंध और ९ मोक्ष। (उत्तरा० २८, स्थानांग ९)

इन नौ तत्त्वों का विस्तृत स्वरूप बताने के लिए

वतन्त्र ग्रंथ की आवश्यकता है। यहां संक्षेप में उनका स्वरूप ताया जाता है।

जीव तत्त्व

जीव—जो जीता है, जिसमें ज्ञान है, उपयोग है, सुख दुःख का अनुभव करता है और प्राण युक्त है। जो वीर्य (शक्ति) वाला है, प्रयत्नशील है—वह जीव कहलाता है। आत्म शक्ति से सभी जीव समान हैं, किन्तु संसार में रहा हुआ जीव, विविध स्वरूपों से पहचाना जाता है। अतएव जीव के विविध भेद इस प्रकार हैं।

एक भेद—सभी जीव, चेतना एवं उपयोग लक्षण युक्त हैं। सभी में आत्मा का ज्ञान, दर्शनादि गुण विद्यमान रहता है। अतएव संग्रह नय की अपेक्षा जीव का एक भेद है।

दो भेद—सिद्ध और संसारी अथवा मुक्त और बद्ध।

तीन भेद—सिद्ध, त्रस और स्थावर।

चार भेद—स्त्री वेदी, पुरुषवेदी, नपुंसक वेदी और अवेदी।

पाँच भेद—नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य, देव और सिद्ध।

छः भेद—एकेन्द्रिय, बेन्द्रिय, तेन्द्रिय, चौरेन्द्रिय, पंचेन्द्रिय और अनिन्द्रिय।

सात भेद—पृथ्वी काय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतीकाय, त्रसकाय और अकाय (सिद्ध)।

आठ भेद—नारक, तिर्यंच, तिर्यंचनी, मनुष्य, मनुष्यनी,

देव, देवी और सिद्ध ।

नौ भेद–नारक, तिर्यंच, मनुष्य, और देव, इन चार के पर्याप्त और अपर्याप्त भेद से ८ भेद और ९ सिद्ध ।

दस भेद–पृथ्वीकाय से वनस्पति काय तक के पाँच, ६ बेन्द्रिय ७ तेन्द्रिय ८ चौरेन्द्रिय ९ पंचेन्द्रिय और १० सिद्ध।

ग्यारह भेद–एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक के पर्याप्त और अपर्याप्त, ये दस भेद हुए और ग्यारहवें सिद्ध ।

बारह भेद–पाँच स्थावर के सूक्ष्म और बादर–ये दस भेद, ग्यारहवें त्रस (ये बादर ही हैं) और सिद्ध ।

तेरह भेद–छः काय के पर्याप्त और अपर्याप्त–ये १२ भेद और सिद्ध ।

चौदह भेद–१ नारक २ तिर्यंच ३ तिर्यंचनी ४ मनुष्य ५ मनुष्यनी ६ भवनपति ७ वाणव्यन्तर ८ ज्योतिषी ९ वैमानिक १०–१३ चारों निकाय की देवियाँ और १४ सिद्ध ।

पन्द्रह भेद--१ सूक्ष्म एकेन्द्रिय २ बादर एकेन्द्रिय, ३ बेन्द्रिय ४ तेन्द्रिय ५ चौरेन्द्रिय ६ असंज्ञी पंचेन्द्रिय ७ संज्ञी पंचेन्द्रिय, इन सात के पर्याप्त और अपर्याप्त यों १४ हुए और १५ सिद्ध ।

इस प्रकार समस्त जीवों के भेद किये गये हैं । सिद्ध भगवन्त को छोड़कर संसारी जीवों के विशेष भेद किये जाने पर कुल ५६३ भेद होते हैं ।

संसारी जीवों के ५६३ भेद

नारक के १४ भेद

१ रत्न प्रभा २ शर्कराप्रभा ३ वालुकाप्रभा ४ पंकप्रभा ५ धूमप्रभा ६ तमःप्रभा ७ तमस्तमःप्रभा, इन सात के पर्याप्त और अपर्याप्त यों १४ भेद हुए।

तिर्यञ्च के ४८ भेद

पृथ्वीकाय

सूक्ष्म पृथ्वीकाय–सब लोक में भरे हुए हैं जो हनने से हनाय नहीं, मारने से मरे नहीं, अग्नि में जले नहीं, जल में डूबे नहीं, आँखों से दीखे नहीं और जिसके दो टुकड़े होवे नहीं उसे सूक्ष्म पृथ्वीकाय कहते हैं।

बादर (स्थूल) पृथ्वीकाय–लोक के देश भाग में भरे हुए हैं, जो हनने से हनाय, मारने से मरे, अग्नि में जले, जल में डूबे, आंखों से दीखे व जिसके दो टुकड़े हो जावें उसे बादर पृथ्वीकाय कहते हैं। इसके दो भेद–१ सुंवाली (कोमल) २ खरखरी (कठिन–कठोर)।

कोमल के सात भेद–१ काली मिट्टी, २ नीली मिट्टी, ३ लाल मिट्टी, ४ पीली मिट्टी, ५ श्वेत मिट्टी, ६ गोपी चन्दन की मिट्टी, ७ परपड़ी (पण्डु) मिट्टी।

कठोर बादर पृथ्वी काय के भेद

१ खदान की मिट्टी, २ मुरड़ कङ्कर (मरड़िया) मिट्टी, ३ रेत–बालु, ४ पाषाण–पत्थर, ५ बड़ी शिला ६ समुद्र की क्षारी (खार), ७ नमक, ८ तरुआ, ९ लो १० सीसा, ११ ताम्बा, १२ रूपा (चाँदी), १३ सोना, १४ हीर १५ हरिताल, १६ हिंगलु, १७ मनशील, १८ पारा, १९ सुर २० प्रवाल, २१ अबरख (भोडर)

इसके सिवाय पृथ्वीकाय के और भी बहुत से भेद हैं। पृथ्वीकाय के एक कंकर में असंख्यात जीव भगवन्त ने सूत्र में फरमाया है। एक पर्याप्ता की नेश्राय से असंख्यात अपर्याप्ता है। जो इन जीवों की दया पालेगा, वह इस भव में व पर-भव में निराबाध परम-सुख पावेगा।

अपकाय

सूक्ष्म अपकाय का स्वरूप पृथ्वीकाय की तरह समझना चाहिए।

बादर अपकाय–लोक के देश भाग में भरे हुवे हैं। हनने से हनाय, मारने से मरे, अग्नि में जले, जल में डूबे, आँखों से नजर आवे, उसे बादर अपकाय कहते हैं।

इसके सतरह भेद– १ ढार का जल, २ हिम का जल, ३ धूंवर का जल, ४ मेघरवा का जल, ५ ओस का जल ६ ओले का जल, ७ बरसात का जल, ८ ठण्डा जल, ९ गरम जल,

१० खारा जल, ११ खट्टा जल, १२ लवण समुद्र का जल, १३ मधुर रस के समान जल, १४ दूध के समान जल, १५ घी के समान जल, १६ ईख (शेरड़ी) के रस जैसा जल, १७ सर्व रसद समान जल।

इसके सिवाय अपकाय के और भी बहुत से भेद हैं। जल के एक बिन्दु में भगवान् ने असंख्यात जीव फरमाये हैं। एक पर्याप्त की नेश्राय से असंख्य अपर्याप्त हैं। इनकी अगर कोई जीव दया पालेगा तो वह इस भव में व पर-भव में निराबाध सुख पावेगा।

तेजस्काय

सूक्ष्म तेजस्काय का स्वरूप पृथ्वीकाय की तरह समझना चाहिए।

सूक्ष्म—सर्व लोक में भरे हुए हैं। हनने से हनाय नहीं, मारने से मरे नहीं, अग्नि में जले नहीं, जल में डूबे नहीं, आँखों से दीखे नहीं व जिसके दो भाग होवे नहीं, उसे सूक्ष्म तेजस्काय कहते हैं।

बादर—तेजस्काय अढ़ाई द्वीप में भरे हुवे हैं। हनने से हनाय, मारने से मरे, अग्नि में जले, जल में डूबे, आँखों से दीखे व जिसके दो भाग होवे उसे बादर तेजस्काय कहते हैं।

बादर अग्निकाय के चौदह भेद—१ अंगारे की अग्नि २ भोभर (उष्ण राख) की अग्नि, ३ टूटती ज्वाला की अग्नि, ४ अखण्ड ज्वाला की अग्नि, ५ निम्बाड़े (कुम्भकार का अलाव

भट्टी) की अग्नि, ६ चकमक की अग्नि, ७ बिजली की अग्नि, ८ तारा की अग्नि, ९ अरणी (काष्ट) की अग्नि, १० बांस की अग्नि, ११ अन्य काष्टादि घर्षण से उत्पन्न होने वाली अग्नि १२ सूर्यकान्त (आइग्लास) से उत्पन्न होने वाली अग्नि, १३ दावानल की अग्नि, १४ बड़वानल की अग्नि ।

वायुकाय

सूक्ष्म वायुकाय का स्वरूप पृथ्वीकाय की तरह समझना चाहिए ।

बादर वायुकाय—लोक के पोले भाग में है। हनने से हनाय, मारने से मरे, अग्नि से जले, आँखों से दीखे व जिसके दो भाग होवे उसे बादर वायुकाय कहते हैं ।

बादर वायुकाय के सत्तरह भेद—१ पूर्व दिशा की वायु, २ पश्चिम दिशा की वायु, ३ उत्तर दिशा की वायु, ४ दक्षिण दिशा की वायु, ५ ऊर्ध्व दिशा की वायु, ६ अधोदिशा की वायु, ७ तिर्यक् दिशा की वायु, ८ विदिशा की वायु, ९ चक्र पड़े सो भंवर वायु, १० चारों कोनों में फिरे सो मण्डल वायु, ११ उर्द्ध चढ़े सो गुण्डल वायु, १२ बाजिन्त्र जैसे आवाज करे सो गुंज वायु, १३ वृक्षों को उखाड़ डाले सो झंज (प्रभंजन) वायु, १४ संवर्तक वायु, १५ घन वायु, १६ तनु वायु, १७ शुद्धवायु।

वनस्पतिकाय

सूक्ष्म वनस्पतिकाय का स्वरूप पृथ्वीकाय की तरह

समझना चाहिए।

बादर–लोक के देश में भरे हुवे हैं हनने से हनाय, मारने से मरे, अग्नि में जले, जल में डूबे, आँखों से दिखे व जिसके दो भाग होवे, उसे बादर वनस्पतिकाय कहते हैं।

वनस्पति काय के दो भेद–१ प्रत्येक, २ साधारण।

प्रत्येक के बारह भेद– १ वृक्ष, २ गुच्छ, ३ गुल्म, ४ लता, ५ वेल, ६ पावग, ७ तृण, ८ वल्ली, ९ हरितकाय १० औषधि, ११ जल वृक्ष, १२ कोसण्ड।

१ वृक्ष के दो भेद–१ एक अट्ठी, २ बहु अट्ठी।

एक अट्ठी–एक बीज वाले और

बहु अट्ठी–बहु बीज वाले।

एक अट्ठी–१ हरड़े, २ बेड़ा, ३ आँवला, ४ अरीठा, ५ भिलामा, ६ आसापालव, ७ आम, ८ महुए, ९ रायन, १० जामन, ११ बैर, १२ निम्बोली इत्यादि।

बहु अट्ठी– १ जामफल, २ सीताफल, ३ अनार, ४ बीलफल, ५ कबीट, ६ कैर, ७ निम्बू, ८ टीमरु, ९ बड़ के फल, १० पीपल के फल इत्यादि बहु अट्ठी के बहुत से भेद हैं।

२ गुच्छ–नीचा व गोल वृक्ष हो उसे गुच्छ कहते हैं जैसे–

१ रिंगनी, २ भोरिंगनी, ३ जवासा, ४ तुलसी, ५ आवची बावची इत्यादि गुच्छ के अनेक भेद हैं,

३ गुल्म–फूलों के वृक्ष को गुल्म कहते हैं। जैसे–

१ जाई, २ जुई, ३ डमरा, ४ सरवा, ५ केतकी,

६ केवड़ा इत्यादि गुल्म के अनेक भेद हैं।

४ लता—

१ नाग लता, २ अशोक लता, ३ चम्पक लता, ५ भांइ लता, ५ पद्म लता, इत्यादि लता के अनेक भेद हैं।

५ वेला—

१ ककड़ी, २ तरोई, ३ करेला, ४ किकोड़ा, ५ कोला, ६ कोठिबड़ा, ७ तुम्बा, ८ खरबूजे, ९ तरबूजे, १० वल्लर आदि।

६ पर्वक—(पव्वग) जिसके मध्य में गांठें हों उसे पव्वग कहते हैं—

१ ईख, २ एरण्ड, ३ सरकड़, ४ बेंत, ५ नेतर, ६ बांस इत्यादि पव्वग के अनेक भेद हैं।

७ तृण—

१ डाभ का तृण, २ आरातारा का तृण, ३ कड़वाली का तृण, ४ झेझवा का तृण, ५ घरो का तृण, ६ कालिया का तृण इत्यादि तृण के अनेक भेद हैं।

८ वलिया—(वलय) जो वृक्ष ऊपर जाकर गोलाकार बने हों।

१ सुपारी, २ खारक, ३ खजूर, ४ केला, ५ तज, ६ इलायची, ७ लोंग, ८ ताड़, ९ तमाल, १० नारियल आदि वलिया के अनेक भेद हैं।

९ हरितकाय–शाक भाजी के वृक्ष सो हरितकाय–

१ मूला की भाजी, २ मेथी की भाजी, ३ तांदलजा (चंदलोई) की भाजी, ४ सुवा की भाजी, ५ लुणी की भाजी, ६ वाथरे की भाजी आदि हरितकाय के अनेक भेद हैं।

१० औषधि–२४ प्रकार के धान्य को औषधि कहते हैं–

धान्य के नाम–१ गोधूम (गेंहू), २ जव, ३ जुवार, ४ बाजरी, ५ डांगर, (साल) ६ वरी, ७ बंटी (वरटी) ८ बावटो, ९ कांगनी, १० चिण्यो झिण्यो, ११ कोदरा, १२ मक्की इन बारह की दाल न होने से ये 'लहा (लासा) धान्य कहलाते हैं। १ मूंग, २ मोठ, ३ उड़द, ४ तुवर, ५ झालर, (काबली चने) ६ वटले, ७ चँवलें, ८ चने, ९ कुलत्थी, १० कांग, (राजगरे के समान एक जाति का अनाज) ११ मसूर १२ अलसी, इन बारह की दाल होने से इन्हें 'कठोल' कहते हैं।

लहा और कठोल इन दोनों प्रकार के धान्य को औषधि कहते हैं।

११ जल वृक्ष–

१ पोयणा (छोटे कमल की एक जाति). २ कमल पोयणा. ३ घीतेलां (जलोत्पन्न एक फल). ४ सिंघाड़े ५ कमल कांकड़ी (कमलगट्टा). ६ सेवाल आदि जल वृक्ष के अनेक भेद हैं।

१२ कोसण्ड (कुहाण)–

१ वेल्ली के वेलें. वेल्ली के टोप आदि जमीन फोड़ कर

जो निकले सो कोसण्ड । इस प्रत्येक वनस्पति में उत्पन्न वक्त व जिनमें चक्र पड़े उनमें अनन्त जीव, हरी रहे, उस तक असंख्यात जीव व पकने के बाद जितने बीज हों उतने संख्यात जीव होते हैं ।

प्रत्येक वनस्पति का वृक्ष दश बोल से शोभा देता है १ मूल. २ कन्द. ३ स्कन्घ. ४ त्वचा. ५ शाखा. ६ प्रवा ७ पत्र. ८ फूल. ९ फल. १० बीज ।

साधारण वनस्पति के भेद

कंद मूल आदि की जाति को साधारण वनस्पति क हैं । १ लसण २ डूंगली ३ अदरक ४ सूरण (कन्द) ५ रत ६ पेंडालु (तरकारी विशेष) ७ बटाटा ८ थेक (जुवार दाने की एक जाति) ९ सकरकन्द १० मूला का कन्द नीली हलद १२ नीली गली (घास की जड़) १३ गाजर अंकुरा १५ खुरसाणी १६ थुअर १७ मोथी १८ अमृत १९ कुंवार (गंवारपाटा) २० बीड़ (घास विशेष) २१ ब (अरवी) का गांठिया २२ गरमर आदि कन्द मूल के अ भेद हैं । इन्हें साधारण वनस्पति कहते हैं । सुई की अग्र (अ ऊपर आवे इतने छोटे से कन्द मूल के टुकड़े में उन निगो जीवों के रहने की असंख्यात श्रेणी हैं । एक एक श्रेणी में अ ख्यात प्रतर हैं । एक एक प्रतर में असंख्यात गोले हैं । एक गोले में असंख्यात शरीर हैं । एक एक शरीर में अनन्त अ जीव हैं । इस प्रकार ये साधारण वनस्पति के भेद हैं ।

ऊपर बताई हुई पांच ।त्र रकाय वाइस भेद इस
ार है–,

२२ पृथ्वीकाय, अपकाय, तेउकाय और वायुकाय । इन
ारों के प्रत्येक के १ सूक्ष्म, २ वादर, ३ पर्याप्त और ४ अपर्याप्त
१६ भेद हुए ।

वनस्पतिकाय के–१ सूक्ष्म, २ प्रत्येक और ३ साधारण
नके पर्याप्त और अपर्याप्त यों ६ भेद हुए । ये एकेन्द्रिय के
ाईस भेद हुए ।

६ बेन्द्रिय, तेन्द्रिय, चौरेन्द्रिय, इन तीन विकलेन्द्रिय के
र्याप्त और अपर्याप्त यों ६ भेद हुए ।

२० पंचेन्द्रिय तिर्यंच के–

१ जलचर, २ स्थलचर, ३ खेचर, ४ उरपरिसर्प, ५ भुज
ारिसर्प, इन पांच के संज्ञी और असंज्ञी यों १० भेद हुए और
इन दस के पर्याप्त और अपर्याप्त कुल २० भेद हुए ।

मनुष्य के ३०३ भेद

१५ कर्मभूमिज ममुष्य के–

५ भरत, ५ ऐरावत और ५ महाविदेह के–कुल पन्द्रह
भेद ।

३० अकर्मभूमिज के–

५ देवकुरु. ५. उत्तरकुरु. ५ हरिवास. ५ रम्यकवास.
५ हेमवत और ५ हैरण्यवत, इन क्षेत्रों में उत्पन्न मनुष्यों के
कुल ३० भेद हुए ।

५६ अन्तरद्वीपों में उत्पन्न मनुष्यों के छप्पन भेद।

ये कुल भेद १०१ हुए, इनके पर्याप्त और अपर्याप्त ये २०२ भेद हुए। और १०१ भेद समुच्छिम मनुष्य के। इस प्रकार मनुष्य के कुल ३०३ भेद हुए,

देवों के १९८ भेद

१० भवनपति देव–

१ असुरकुमार. २ नागकुमार. ३ सुवर्णकुमार. ४ विद्युत-कुमार. ५ अग्निकुमार. ६ उदधिकुमार. ७ द्वीपकुमार. ८ दिशा-कुमार, ९ पवनकुमार और १० स्तनितकुमार।

१५ परमाधार्मिक देव–

१ अम्ब. २ अम्बरीष. ३ श्याम. ४ शबल. ५ रौद्र. ६ अवरुद्र. ७ काल. ८ महाकाल. ९ असिपत्र. १० धनुष. ११ कुम्भ. १२ वालुका. १३ वैतरणी. १४ खरस्वर और १५ महाघोष।

२६ वाणव्यन्तर देव–

१ पिशाच. २ भूत. ३ यक्ष. ४ राक्षस. ५ किन्नर. ६ किंपुरुष. ७ महोरग. ८ गंधर्व. ९ आणपन्नीय. १०. पाणपन्नीय. ११ इसिवाई. १२ भूयवाई. १३ कन्दे. १४ महाकन्दे. १५ कुम्हण्डे. १६ पयंगदेव। ये सोलह, और दस प्रकार के जृम्भक-देव–१ अन्न–जृम्भक. २ पान जृम्भक. ३ लयन जृम्भक. ४ शयन जृम्भक. ५ वस्त्र जृम्भक, ६ फल जृम्भक. ७ पुष्प जृम्भक. ८ फलपुष्प जृम्भक. ९ विद्या जृम्भक और १० अग्नि जृम्भक।

१० ज्योतिषी देव–

१ चन्द्र, २ सूर्य, ३ ग्रह, ४ नक्षत्र और ५ तारा। ये पांच चल विमान वाले, (चलते फिरते) और पाँच स्थिर विमान वाले–यों दस भेद हुए।

३ किल्विषी देव–

१ तीन पल्योपम की स्थिति वाले (ये प्रथम और दूसरे देवलोक के नीचे रहते हैं) २ तीन सागर की स्थिति वाले (ये तीसरे और चौथे देवलोक के नीचे रहते हैं) ३ तेरह सागरोपम की स्थिति वाले (ये छठे देवलोक के नीचे रहते हैं।)

३५ वैमानिक देव

१२–कल्पोत्पन्न–

१ सौधर्म २ ईशान ३ सनत्कुमार ४ माहेन्द्र ५ ब्रह्म ६ लान्तक ७ महाशुक्र ८ सहस्रार ९ आणत १० प्राणत ११ आरण और १२ अच्युत।

१४ कल्पातीत–

९ नौ ग्रैवेयक के तीन त्रिक है। प्रत्येक त्रिक के नीचे, मध्यम में और ऊपर–यों तीन भेद से कुल ९ भेद हुए। इनके नाम इस प्रकार हैं,–१ भद्र २ सुभद्र ३ सुजात ४ सुमनस ५ सुदर्शन ६ प्रियदर्शन ७ आमोह ८ सुप्रतिबद्ध और ९ यशोधर।

५ अनुत्तर–१ विजय, २ वैजयन्त, ३ जयंत, ४ अपराजित और ५ सर्वार्थसिद्ध।

९ लोकान्तिक-

१ सारस्वत, २ आदित्य, ३ वन्हि, ४ वरुण, ५ गर्दतोयक, ६ तुषित, ७ अव्याबाध, ८ आग्नेय और ९ अरिष्ट।

ये कुल ९९ भेद हुए। इनके पर्याप्त और अपर्याप्त इन दो भेदों से कुल १९८ भेद हुए।

इस प्रकार नारक के १४, एकेन्द्रिय के २२, विकलेन्द्रिय के ६, तिर्यंच पंचेन्द्रिय के २०, मनुष्य के ३०३ और देव के १९८, यों कुल भेद ५६३ हुए।

अजीव तत्त्व

जिस तत्त्व में जीव नहीं हो—जो जड़ स्वभाव वाला हो, वह अजीव कहलाता है। इसके मुख्य दो भेद हैं—

१ रूपी, २ अरूपी।

अरूपी अजीव के १० भेद

३ धर्मास्तिकाय—जीव और पुद्गल के गति करने में सहायक होने वाला अरूपी अजीव द्रव्य। इसके तीन भेद हैं—१ धर्मास्तिकाय स्कन्ध, २ धर्मास्तिकाय के देश और ३ प्रदेश।

३ अधर्मास्तिकाय—स्थिर होने—ठहरने में सहायक होने वाला उदासीन द्रव्य। इसके भी १ अधर्मास्तिकाय स्कन्ध, २ देश और ३ प्रदेश—ये तीन भेद हैं।

३ आकाशास्तिकाय—जीव और अजीव द्रव्य को अवकाश देने

वाला द्रव्य। इसके भी १ स्कन्ध, २ देश और ३ प्रदेश भेद हैं।

१ काल–वर्त्तना लक्षण वाला–भूत, भविष्यादि तथा समयादि रूप।

४ रूपी अजीव के चार भेद हैं–१ स्कन्ध, २ स्कन्धदेश, ३ स्कंध प्रदेश और ४ परमाणु पुद्गल।

अजीव के ये १४ भेद हैं। इन्हीं के विस्तार से ५६० भेद इस प्रकार होते हैं–

अजीव तत्त्व के ५६० भेद

अरूपी अजीव के ३० भेद

दस भेद तो ऊपर बताये हैं, शेष २० भेद इस प्रकार हैं।

५ धर्मास्तिकाय–१ द्रव्य से एक द्रव्य, २ क्षेत्र से सम्पूर्ण लोक में व्याप्त, ३ काल से अनादि अनन्त, ४ भाव से अरूपी, ५ गुण से चलन सहायक गुण।

५ अधर्मास्तिकाय–द्रव्य. क्षेत्र. काल और भाव तो धर्मास्तिकाय के जैसे ही हैं, किन्तु गुण से स्थिति सहायक होना है।

५ आकाशास्तिकाय–१ द्रव्य से एक, २ क्षेत्र से लोक और अलोक में व्याप्त, ३ काल से अनादि अनन्त, ४ भाव से अरूपी, ५ गुण से अवगाहन गुण।

५ काल–१ द्रव्य से अनेक (समय आवलिकादि रूप) २ क्षेत्र

से ढ़ाई द्वीप प्रमाण (क्योंकि चर चन्द्र सूर्य का प्रभाव वहीं तक है, जिससे मुहूर्त, दिन, वार आदि की गणना भी वहीं तक है) ३ काल से अनादि अनन्त, ४ भाव से अरूपी, ५ गुण से पर्याय परिवर्त्तन।

इस प्रकार अरूपी अजीव के कुल ३० भेद हुए।

रूपी अजीव के ५३० भेद

१०० संस्थान-आकृति विशेष। ये पांच प्रकार के होते हैं, जैसे-१ परिमण्डल (चूड़ी की तरह गोल) २ वृत्त (कुम्हार के चक्र जैसा), ३ त्र्यस्र (त्रिकोण), ४ चतुरस्र (चार कोने वाला) और ५ आयत (दण्ड की तरह लम्बा) इन पांचों संस्थानों में से प्रत्येक में ५ वर्ण, २ गंध, ५ रस और आठ स्पर्श होते हैं। एक संस्थान में ये २० भेद पाते हैं। तो पांचों संस्थान के एक सौ भेद हुए।

१०० वर्ण के-काला, नीला, लाल, पीला और सफेद ये पांच वर्ण होते हैं। प्रत्येक वर्ण में २ गंध, ५ रस, ८ स्पर्श और ५ संस्थान-ये बीस भेद होते हैं। इस प्रकार पांच वर्ण के एक सौ भेद हुए।

४६ गन्ध के-१ सुगन्ध और २ दुर्गन्ध, इन दो भेदों में से प्रत्येक में ५ वर्ण, ५ रस, ८ स्पर्श और पांच संस्थान-यों २३ भेद होते हैं। दोनों प्रकार की गन्ध के कुल ४६ भेद हुए।

० रस के–१ तिक्त, २ कटु, ३ कषाय, ४ खट्टा और ५ मीठा–ये पांच प्रकार के रस हैं। प्रत्येक रस में ५ वर्ण, २ गंध, ८ स्पर्श और ५ संस्थान। ये २० भेद होते हैं। पांचों रस के कुल एक सौ भेद हुए।

४ स्पर्श के–१ खर, २ कोमल, ३ हल्का, ४ भारी, ५ शीत, ६ उष्ण, ७ स्निग्ध और ८ रुक्ष–ये आठ प्रकार के स्पर्श होते हैं। प्रत्येक के–५ संस्थान, ५ वर्ण ५ रस, २ गंध और ६ स्पर्श (एक स्वयं व एक विरोधी स्पर्श को छोड़कर) ये २३ भेद हुए। इस प्रकार आठ स्पर्श के २३×८=१८४ भेद हुए।

ये रूपी अजीव के ५३० भेद हुए। इस प्रकार रूपी र अरूपी अजीव के कुल ५६० भेद हुए।

पुण्य तत्त्व

जीव को मनोवाञ्छित फल की प्राप्ति पुण्य बन्ध से ती है। दूसरे प्राणियों को सुख पहुंचाने, उनके भले के लिए त्न करने को पुण्य क्रिया कहते हैं। परोपकार पुण्य है। सके नौ भेद श्री स्थानांग सूत्र में इस तरह बतलाये हैं,–

अन्न पुण्य–

आहारेच्छुक को अन्न–सात्विक आहार देना, अन्न पुण्य

है। इसके पात्र–१ मोक्ष साधक श्रमण. २ सहधर्मी और ३ भूख से पीड़ित प्राणी हैं। श्रमण निर्ग्रन्थों को दिये जाने वाल आहार–दान, मुख्यत: निर्जरा का कारण है। पुण्य बुद्धि से दिय जाता है। पूजनीय गुरुवर्ग को प्रतिलाभने में पुण्य ही नहीं-ध भी होता है। मोक्षमार्ग प्रशस्त होता है, क्योंकि श्रावक उ मोक्षमार्ग के महापथिक और सद्गुरु मानकर उनकी संयमचर्य में सहायक होने के लिए आहार दान करते हैं। इससे उनकी साधना–महाव्रत, तप, स्वाध्यायादि और समिति गुप्ति आदि चारित्र पालन में मदद होती है। यह महाव्रतों को पुष्ट करने वाला है। इसके द्वारा महाव्रतों की अनुमोदना और ग्रहण करने की भावना होती है। इसीलीए यह श्रावक का बारहवां व्रत है। इतना होते हुए भी इसमें पुण्य बन्ध तो होता है। क्योंकि सराग दशा और पर लक्ष से की हुई धर्म क्रिया में शुभ बन्ध तो होता ही है। यह पुण्य भी शुभानुबन्धी शुभ है। यदि परिणामों की धारा उत्कृष्ट हो, तो तीर्थङ्कर नाम कर्म का बन्ध भी हो सकता है।

सहधर्मीभाइयों का आहारादि से सन्मान करना, सहायता करना–साधर्मीवात्सल्य है, जो कि सम्यक्त्व का एक अंग है। इससे भी पुण्य बन्ध होता है और निर्जरा भी। इन दोनों दोनों में धर्म भावना मुख्य होती है और पुण्य गौण रहता है।

भूख से पीड़ित प्राणी की पीड़ा देख कर द्रवित होना और उसकी पीड़ा को दूर करने के लिए रोटी आदि देना, अन्न पुण्य है। आहार पुण्य, मुख्यत: याचक की दयनीय दशा से

द्रवित होकर दिया जाता है। इसमें साधारण याचकों का भी समावेश हो जाता है। सुश्रावकों के यहां भोजन पाने की इच्छा से दूसरे याचक लोग भी आते हैं। उन्हें दिया जाने वाला आहार दान, पुण्य है।

२ पान पुण्य–

प्यासे को पानी पिलाना पान पुण्य है।

३ वस्त्र पुण्य–

नंगे अथवा शीत से पीड़ित होते हुए को कपड़ा कम्बल आदि वस्त्र देना पुण्य है।

४ लयन पुण्य–

निराश्रय को ठहरने के लिये स्थान देना।

५ शयन पुण्य–

सोने के लिए जगह, बिछौना देना।

६ मनः पुण्य–

गुणियों को देखकर प्रसन्न होना, दुःखी को देखकर दया लाना, सबका भला चाहना और प्राणी मात्र से मित्रभाव रखना मनःपुण्य है।

७ वचन पुण्य–

वचन द्वारा गुणियों की प्रशंसा करना, स्तुति करना, दुःखी पीड़ित को मिष्ट वचनों द्वारा शान्ति पहुँचाना। उन्मार्ग जाते हुए को हित शिक्षा देना। हित–मित और मधुर भाषण

करना, वचन पुण्य है ।

८ काय पुण्य--

शरीर से दूसरों की सेवा करना, सहायता देना, शरीर पुण्य है ।

९ नमस्कार पुण्य--

गुणी और ज्येष्ठजनों को नमस्कार करना ।

इस तरह नौ प्रकार की क्रियाओं से पुण्य साधा जाता है । पुण्य क्रिया में भी दाता के भावों की मुख्यता है । कभी-कभी बाहर से पुण्य रूप दिखाई देने वाली क्रियायें भी महा-पाप बन्धन कराने वाली होती है, क्योंकि वहां भावों में अत्यंत कलुषितता होती है । एक बार एक शहर में कुत्तों को लड्डू खिलाये जाते हुए देखकर किसी ने कहा कि लड्डू खिलाने वाले पुण्यात्मा है, किन्तु जब लड्डू खाने वाले कुत्ते मरने लगे तो उसका पाप प्रगट हो गया । बच्चों को मिठाई आदि से आकर्षित करके उन्हें लूटकर मारने वाले भी ऊपर से प्रेम ही दिखाते हैं । इस प्रकार बाहर से दिखाई देने वाली क्रिया से ही पुण्य पाप का निर्णय नहीं होता । भावों पर ही पुण्य पाप का आधार है । उपर्युक्त सभी पुण्यों में मन: पुण्य तो साथ रहता ही है आहार पुण्य हो या नमस्कार पुण्य, सब में मन:पुण्य साथ रहने पर ही वह शुभ फल प्रदाता है, हां, कायिक और वाचिक पुण्य में कभी-कभी और कहीं-कहीं मानसिक उदासीनता हो सकती है । यह उदासीनता पाप बन्धक नहीं हो, तो विशिष्ट पुण्य बन्धक भी नहीं होती ।

अकेला कायपुण्य वहीं होता है–जहां न तो वाणी का उपयोग हो, न मानसिक उल्लास। मात्र आज्ञाकारी सेवक की तरह क्रिया अदा की जाती हो। मात्र वचनपुण्य वहीं होता है–जहां तोता रटन की तरह पुण्यमय वचनों का व्यवहार किया जाता हो। अकेला मनपुण्य वहीं है–जहां साधनों का अभाव है और वाणी पर भी अंकुश लगा हुवा है। जैसे कि एक व्यक्ति कैद में अथवा अपने पापी बाप की अधीनता में है, वह चाहते हुए भी किसी को कुछ दे नहीं सकता और एक वचन भी नहीं बोल सकता, अथवा दूरस्थ रहे हुये दुःखी को वचन या साधनों द्वारा शान्ति पहुँचाने को नहीं जा सकता। यहां मात्र मनःपुण्य ही होता है। अन्नादि पुण्य, रुचि पूर्वक उल्लसित मन से और सुमधुर वचनों के साथ आदर सहित होता हो, वहां मन वचन और काय पुण्य भी सम्मिलित है।

पुण्य क्रिया में सचित्त साधनों का उपयोग भी होता है और अचित्त का भी। सावद्य योग भी होते हैं और निरवद्य भी। माता, पिता, विद्याचार्य, कलाचार्यादि सांसारिक संबंधियों को कर्त्तव्य बुद्धि से उपकारी जानकर, सात्विक साधनों से सेवा करना भी पुण्य रूप माना जाता है। निःस्वार्थ भावना से जगत् के जीवों की विवेक पूर्वक की हुई सेवा भी पुण्य रूप है। पुण्य प्रायः परावलम्बी क्रिया है, यह दूसरे प्राणियों से सम्बन्धित्र है। यद्यपि पुण्य क्रियाओं का कर्त्ता मनःबल-प्राण धराने वाला पंचेद्रिय पर्याप्त प्राणी ही है, तथापि अकाम निर्जरा द्वारा दुःख सहते और उनके शरीर से दूसरों को सुख प्राप्त होने से एके-

न्द्रिय प्राणियों में भी पुण्य क्रिया का सद्भाव विद्वानों ने माना है। यह मात्र औपचारिक वस्तु है—वास्तविक नहीं। वृक्ष के मन नहीं है, वह चाहकर किसी को छाया या फल नहीं देता। छाया अथवा फल—दान अपने आप होता है। इसमें वृक्ष की इच्छा अनिच्छा नहीं होती, क्योंकि वहां इच्छा अनिच्छा का धारक मन है ही नहीं, अतएव वहाँ होती हुई अकामनिर्जरा को ही पुण्य वन्ध कहा गया है।

लोक में पुण्य को भी धर्म माना जाता है। जैन मान्यता में संवर निर्जरा की क्रिया धर्म रूप मानी गई है। यह विशेष धर्म है। पुण्य को सामान्य धर्म भी माना है। किसी-किसी आचार्य ने मार्गानुसारी के कर्त्तव्य भी सामान्य धर्म में माने हैं। न्याय नीति पूर्वक जीवन बिताना, कोमल भाव रखना, दान करना, ये सब सामान्य धर्म में माने गये हैं। मनुष्यायु के वन्ध में जिन चार कारणों का विधान है, वे सब सामान्य धर्म क्रियाएँ हैं। विशेष धर्म अर्थात् जैन-धर्म, इससे ऊपर की वस्तु है, और वह संवर निर्जरा मय है।

पुण्य कर्म में, आहार, पानी, वस्त्रादि का ही ग्रहण किया गया, किन्तु इनमें औषधि, पात्र, धर्मोपकरणादि का समावेश भी कर लेना चाहिए।

इस प्रकार उपरोक्त नौ भेद से पुण्य का संचय होता है। पुण्य वन्ध का फल, नीचे लिखे ४२ प्रकार से मिलता है।

१ सातावेदनीय. २ उच्चगोत्र. ३ मनुष्यगति. ४ मनुष्यानुपूर्वी. ५ मनुष्यायु. ६ देवगति. ७ देवानुपूर्वी. ८ देवायु.

९ पञ्चेन्द्रिय जाति. १० औदारिक शरीर. ११ वैक्रिय शरीर. १२ आहारक शरीर. १३ तेजस् शरीर. १४ कार्मण शरीर १५ औदारिक अंगोपांग. १६ वैक्रिय अंगोपाँग. १७ आहारक अंगो-पांग. १८ वज्र ऋषभनाराच संहनन. १९ समचतुरस्र संस्थान. २० शुभ वर्ण. २१ शुभ गन्ध. २२ शुभ रस. २३ शुभ स्पर्श. २४ अगुरुलघु. २५ पराघात. २६ श्वासोच्छ्वास. २७ आतप. २८ उद्योत. २९ शुभविहायोगति. ३० निर्माण. ३१ तीर्थङ्कर. ३२ तिर्यञ्चायु. ३३ त्रसनाम. ३४ बादर नाम. ३५ पर्याप्त नाम. ३६ प्रत्येक नाम. ३७ स्थिर नाम. ३८ शुभ नाम. ३९ सुभग नाम. ४० सुस्वर नाम. ४१ आदेय नाम और ४२ यशः-कीर्ति नाम।

नौ प्रकार से किये हुए पुण्य का बयालीस प्रकार से शुभ फल प्राप्त होता है।

पुण्य के प्रताप से पौद्गलिक सुख मिलता है। पाप कृत्य से बचने के लिए पुण्य का अवलबम्न लेना उचित है। पुण्यवान् आत्मा के दुःख, शोक, दरिद्रता और रोगादि क्लेश दूर होते हैं। जिस उज्ज्वल आत्मा के पुण्यानुबन्धी पुण्य का संचय हो, वह सरलता से धर्म के सन्मुख हो सकती है और धर्माराधना कर के शाश्वत सुख प्राप्त कर सकती है। पुण्य क्रिया सम्पादन करते समय उसके फल की आशा रखना अथवा भौतिक फल पाने की वासना रखकर पुण्य कार्य करना उचित नहीं है, क्योंकि यह वासना पुण्य फल भोगते समय विकसित होकर पतन की ओर ले जाती है। ऋद्धि समृद्धि पाकर, उसके

नशे में अन्ध बनकर दुराचार सेवन करने वाले पतन के गर्त में गिरकर पाप प्रकृति के अधीन हो जाते हैं। निदान करने-पुण्य के फल को वासना के वशीभूत होकर थोड़े से पौद्गलिक सुखों के बदले में बेच देने वालों का अन्तिम परिणाम कितना भयानक होकर दुर्गति में डाल देता है, इसका खुलासा शास्त्रों में विस्तार से किया गया है।

प्राणियों को इच्छित सामग्री पुण्य के फल स्वरूप ही मिलती है, भले ही उससे वह पाप का उपार्जन कर ले। इस पाप का फल भी उसे मिलेगा ही। किन्तु अनुकूल संयोग, शक्ति और साधन पापियों को भी पुण्य के फल स्वरूप ही मिले हैं। यह उनके पूर्व पुण्य का ही फल है। इसे हम 'पापानुबन्धी पुण्य' कह सकते हैं। प्राप्त पुण्य फल का दुरुपयोग उन्हें अवश्य ही दुःखदायक होगा। अन्तराय कर्म के क्षयोपशम और सातावेदनीय कर्म के उदय से अनुकूल वस्तुओं–सुख सामग्रियों का प्राप्त होना सुलभ होता है।

निष्काम प्राणी दया, सुदेव, सद्गुरु और सत्धर्म की सेवा भक्ति करने, बहुमान देने से और श्रीसंघ की सेवा करने से पुण्यानुबन्धी पुण्य होता है, जो मोक्ष प्राप्ति में सहायक बनता है। यह पुण्य क्रिया सम्यग्-दृष्टि में शुभ राग के कारण होती है। तीर्थङ्करत्व तक की प्राप्ति पुण्य के प्रकर्ष से होती है।

अरिहन्त, सिद्ध, देव, ज्ञानी, ध्यानी, तपस्वी आदि गुरु वर्ग की भक्ति बहुमान करने से, जिन प्रवचन की प्रभावना से

अपूर्व ज्ञानाराधना, दर्शनाराधना, निरतिचार चारित्राराधना, और विनय धर्म का पालन करने से, सदैव षडावश्यक करने से और विशिष्ट तपस्यादि बीस कारणों से तीर्थङ्कर नाम कर्म का बन्ध होता है। यह प्रकृति सर्वोत्कृष्ट पुण्य प्रकृति है। जो भव्यात्मा, पवित्रभावों से जिनेश्वरों, निर्ग्रन्थ अनगारों और ज्ञानादि चतुष्टय का निरन्तर निर्दोषता से सेवन करते रहते हैं, जिनका हृदय इन्हीं में ओत-प्रोत रहता है, जिनका जीवन और उसकी प्रत्येक क्षण, धर्म मय होती है, वे ही इस महान् पुण्य के भागी होकर देवेन्द्रों और नरेन्द्रों द्वारा पूजनीय आराधनीय होते हैं। ऐसा महान् पुण्य का पुञ्ज सैंकड़ों हजारों वर्षों में किसी एक ही महान् आत्मा को प्राप्त होता है। इस पुण्य के महान् पौद्गलिक और आत्मिक सुखों को भोगकर वह भव्य-आत्मा, अपने आप सिद्ध-गति को प्राप्त हो जाती है। जीवन के अन्तिम क्षण तक सातावेदनीय जन्य पौदगलिक सुख रहता है और बाद में मात्र आत्मिक सुख ही रहता है—जो अनन्तकाल रहेगा।

व्यवहार चारित्र से निर्जरा के साथ साथ पुण्य बन्ध भी होता है। ऐसा पुण्य, पुण्यानुबन्धी पुण्य ही होता है. क्योंकि इसमें पुण्य के फल—पौद्गलिक सुख की चाहना नहीं रहती। जिसमें चाहना (वासना) नहीं रहती, वह पुण्य, पापानुबन्धी नहीं होता। जिस पुण्य रूप दूध में वासना रूप विष नहीं रहता, वह पापानुबन्धी नहीं हो सकता। पापानुबन्धी पुण्य वाले को पुण्य का फल मिलता है, पर साथ में वासना के

संस्कार होने से पाप का उपार्जन करता रहता है, वह अपनी शक्ति का व्यय भोगविलास, अन्याय, अत्याचार आदि में ही किया करता है। जितने अंशो में वासना के संस्कार होंगे और उनके वश होकर जितनें अंशों में पुरुषार्थ होगा, उतने ही अंशों में पाप कर्म होगा और आत्मा भारी होकर पतन की ओर बढ़ता जायगा। इसलिए पुण्य कार्य करते हुए भी हर समय जागृति रहनी चाहिए कि जिससे विषय रूपी विष की कामना अथवा भौतिक चाहना उसके साथ नहीं लग जाय।

कविवर श्री बनारसीदासजी ने पुण्य का अर्थ और उसके गुणनिष्पन्न नाम निम्न दोहे में इस प्रकार बताये हैं,-

"जो विशुद्ध भावनि वधे, अरु ऊरध मुख होय।
जो सुख-दायक जगत में, पुण्य पदारथ सोय" ॥१॥
पुण्य, सुकृत, ऊरध-वदन, अकररोग शुभ-कर्म।
सुख-दायक संसार-फल, भाग बहिर्मुख धर्म ॥२॥

जब तक सराग-दृष्टि है और पर-लक्ष है, तब तक धर्म क्रिया में भी पुण्य साथ लगा रहेगा। चारित्र पालन करते समय भी इसकी आवक होती रहेगी। वीतराग भाव अथवा आत्मिक दृष्टि में ही इसकी आवक नाम शेष होती हैं, और १४वें गुण-स्थान में इसका पूर्ण नाश होता है, फिर भी आत्मार्थी और धर्म आराधकों को अपनी आराधना करते रहना चाहिए। पुण्य क्रिया के फल की ओर आंख उठाकर भी नहीं देखना चाहिये।

पुण्य, हेय या उपादेय ?

एक चार्वाक दर्शन के सिवाय अन्य सभी दर्शन, पुण्य तत्त्व को मानते हैं, किन्तु जैन दर्शन के सिवाय अन्य सभी दर्शन पुण्य तत्त्व के वास्तविक स्वरूप से अनभिज्ञ हैं। इसलिए वे इसे पूर्णरूप से नहीं पहिचानते हैं।

वर्त्तमान युग का वैज्ञानिक और अपने आप को समझदार तथा सुधारक बतलाने वाला वर्ग तो पुण्य तत्त्व के अस्तित्व को ही मिटा देता है, किन्तु उनके जीवन में पुण्य का विशेष अस्तित्व दिखाई देता है। घोर हिंसादि अनेक प्रकार का पापारंभ और उसका प्रचार करते हुए भी जिन्होंने लक्ष्मी आदि सुन्दर सामग्री प्राप्त की है, वह वस्तुतः पूर्वोपार्जित पुण्य का ही प्रताप है।

जैन दर्शन के अतिरिक्त आर्य-संस्कृति के अन्य दर्शन भी पुण्य की उपादेयता पर अत्यधिक बल देते हैं और पुण्य द्वारा सांसारिक सुख सामग्री की प्राप्ति हो—इस उद्देश से पुण्य की पुष्टि करते हैं।

अपने को जैन धर्म का विभाग रूप बताने वाला एक ऐसा वर्ग भी है जो अपने को अध्यात्मवादी बतलाते हुए एकान्त निश्चयवाद का ही प्रचार करता हुआ पुण्य तत्त्व को एकान्त हेय बतलाता है और तत्त्व से अनभिज्ञ लोगों के हृदय में महान् नास्तिकता का बीजारोपण करता है।

अनन्तज्ञानी परोपकारी तीर्थङ्कर भगवन्त अपने तीसरे

भव में सभी जीवों के प्रति परम करुणा भाव से उपार्जन किये हुए तीर्थङ्कर नाम कर्म के योग से केवलज्ञान होने के बाद ही जैन शासन की स्थापना करते हैं और उस समय गणधर भगवंत आदि परिषदा के समक्ष धर्म देशना द्वारा नवतत्त्व तथा षड्द्रव्य का द्रव्य-गुण-पर्याय सहित स्याद्वाद दृष्टि से अर्थ रूप प्ररूपणा करते हैं। उसमें पुण्य तत्त्व को हेय और उपादेय रूप से सापेक्ष वर्णन करते हैं। तीर्थङ्कर भगवान् रूपी कल्प वृक्ष से खिरे हुए अर्थ रूपी पुष्पों की, द्वादशांगी रूपी माला, गणधर भगवान गूंथते हैं। इस रीति के अनुसार चालू अवसर्पिणी काल के अनन्तज्ञानी चरम तीर्थपति श्री महावीर परमात्मा ने भी अर्थ रूप से तत्त्व की प्ररूपणा की और गणधर भगवान् श्री गौतम-स्वामीजी ने द्वादशांग रूपी आगम माला का गूँथन किया। इस प्रकार परंपरा से चली आती हुई अविच्छिन्न एवं प्रभावशाली अकृत्रिम आगम रूपी पुष्पमाला का नमूना आज भी जैन समाज के पास मौजूद है।

प्रश्न—नव तत्त्वों में से कुछ तत्त्व जानने योग्य हैं, कुछ आदरने योग्य हैं, और कुछ त्याग करने योग्य हैं, परन्तु पुण्य तत्त्व को तो आदरने और त्यागने योग्य—दोनों प्रकार का बतलाया है, तो एक तत्त्व में परस्पर विरोधी ऐसे दो धर्म किस प्रकार रह सकते हैं?

उत्तर—जैन शासन का कोई भी तत्त्व स्याद्वाद दृष्टि से समझने पर ही यथातथ्य समझ में आ सकता है। एक ही दृष्टि से वस्तु तत्त्व का यथार्थ ज्ञान नहीं होता।

प्रश्न—स्याद्वाद किसे कहते हैं ?

उत्तर—जगत में रहे हुए प्रत्येक तत्त्व में अनेक प्रकार के धर्म रहे हुए हैं। जैसे—द्रव्य की अपेक्षा से नित्यत्व और पर्याय की अपेक्षा से अनित्यत्व, इसी प्रकार कर्तृत्व, प्रमेयत्वादि अनेक धर्म द्रव्य में रहते हैं। जिस प्रकार सोने की चूड़ी को तोड़कर अंगूठी बनाई जाय, तो चूड़ी टूट कर अंगूठी बन जाने पर भी सोना तो कायम ही रहता है। केवल आकार प्रकार बदलता है। अंगूठी में सोने रूप नित्यत्व और आकार रूप अनित्यत्व रहता है। इस प्रकार प्रत्येक पदार्थ में परस्पर विरोधी ऐसे अनेक धर्म रहते हैं।

प्रश्न—समझने के लिए कोई दूसरा दृष्टान्त भी दीजिए।

उत्तर—एक स्त्री है, उसे कोई माता कहकर पुकारता है, तो कोई पुत्री, बहिन आदि कहते हैं। एक ही स्त्री में माता पुत्री और बहिनादि के परस्पर विरोधी अनेक धर्म रहे हुए हैं। ये सभी धर्म अपेक्षा पूर्वक सत्य है। जब व्यवहार में भी अपेक्षा का स्वीकार करना पड़ता है, तो तत्त्व विचारणा में बिना अपेक्षा के कैसे चल सकता है ?

प्रश्न—पुण्य तत्त्व त्यागनीय किस प्रकार है ?

उत्तर—पुण्य भी है तो शुभ कर्म ही। यह आत्मा अनादिकाल से कर्म के कारण संसार चक्र में भटक रहा है। जब तक कर्म का बन्धन दूर नहीं होता तब तक आत्मा अपने आत्मिक सुख का भोक्ता नहीं हो सकता। आत्मा चौदहवें

गुणस्थान में शुभ और अशुभ कर्म से सर्वथा मुक्त होता है। इस अपेक्षा से पुण्य भी त्यागनीय है।

प्रश्न—जब अन्त में भी पुण्य का त्याग करना पड़ता है, तो प्रारंभ से ही त्याग दिया जाय तो क्या हर्ज है ?

उत्तर—प्रारंभिक अवस्था में पुण्य जीव को मोक्ष मार्ग में सहायक रूप होता है। जब मनुष्य किसी भयानक एवं अपरिचित अटवी से होकर दूसरे शहर को जाता है, तो रास्ते में परिचित सहायक की आवश्यकता होती है, जब वह शहर के किनारे पहुँचता है, तो फिर सहायक की आवश्यकता नहीं रहती, वह अपने आप लौट जाता है। इसी प्रकार पुण्य रूपी सहायक, जीव रूपी पथिक मनुष्य को, चतुर्गति रूप भयंकर संसार अटवी में से, रागद्वेष रूपी शत्रुओं से बचाता हुआ निर्विघ्नता पूर्वक मुक्तिपुरी के पास पहुँचाकर स्वयं लौट जाता है। यदि शहर में पहुँचने के पूर्व ही पुण्य रूपी सहायक को छोड़ दिया जाय, तो संसार रूपी भयानक अटवी में ही भटक कर महान् दुखी होना पड़ता है—यह सदैव याद रखना चाहिए।

प्रश्न—पुण्य तत्त्व उपादेय किस प्रकार माना जाय ?

उत्तर—पुण्य दो प्रकार का होता है, एक पुण्यानुबन्धी पुण्य और दूसरा पापानुबन्धी पुण्य। जिस पुण्य कर्म—शुभ कर्म के योग से, प्राप्त सामग्री द्वारा धर्म की आराधना करते हुए नये पुण्य का बन्ध होता है, वह शुभकर्म 'पुण्यानुबन्धी' * कहाता है। और जिस शुभकर्म के योग से प्राप्त सामग्री द्वारा, पा

* जिस शुभ कर्म की अनुकूलता से, मिथ्यात्व से सम्यक्त्व, सम्यक्त्व

प्रवृत्ति होकर नये पाप का बन्ध होता है, वह पापानुबन्धी●पुण्य कहलाता है, अथवा जिस शुभ कर्म योग से मिली हुई सामग्री द्वारा आत्मा, धर्म की सुन्दर आराधना करके मुक्ति पद को प्राप्त करे, वह शुभकर्म-पुण्यानुबन्धी पुण्य है और जिस शुभ-कर्म के योग से मिली हुई सामग्री द्वारा पाप कर्म का उपार्जन करके संसार की वृद्धि करे, वह शुभकर्म पापानुबन्धी पुण्य है ।

प्रश्न—शुभकर्म भी तो जड़ है, फिर जड़ वस्तु, आत्मा को जड़तत्व से मुक्त करके आत्म गुण निष्पन्न करने में सहायक कैसे हो सकती है ?

विरति और विरति से अप्रमत्ततादि गुणों की प्राप्ति हो, भविष्य में धर्म प्राप्ति की अनुकूलता हो, उसे पुण्यानबन्धी पुण्यकहते हैं । श्रावक धर्म और अनगार धर्म की- भौतिक सुखों की इच्छा के बिना, जो आराधना की जाती है, उससे अशुभ कर्मों की निर्जरा और शुभ कर्मों का बन्ध होता है, वह पुण्यानुबन्धीपुण्य कहाता है । पुण्यानुबन्धी पुण्य का उत्कृष्ट फल तीर्थंकरत्व की प्राप्ति तक होता है । बिना किसी सांसारिक लालसा के धर्म की आराधना करने से, सराग दशा के कारण अपने आप पुण्यानुबन्धी-पुण्य बंधता रहता है मिथ्यात्व दशा में किये हुए विनय, सेवा, अनुकम्पादि भी पुण्यानुबन्धीपुण्य होकर सम्यक्त्व प्राप्ति में सहायक होते हैं —संपादक।

● श्रावक और साधुधर्म का पालन करते हुए भी यदि मन में भोग कामना, प्रतिष्ठा की भूख अथवा अन्य सांसारिक लालसा रही, तो वह पापानुबन्धी पुण्य होगा । पापानुबन्धी पुण्य से अधिक से अधिक दैविक भोग, वासुदेव तथा चक्रवर्ती का पद प्राप्त कर लिया जाता है और इस प्राप्ति के साथ ऐसा पापाचरण होता है कि जिससे नरकादि अशुभगति की प्राप्ति होती है । यह बन्ध, पाप का साथी है और पुण्यानुबन्धीपुण्य, धर्म का साथी है । एक में पाप कामना है, तो दूसरे में धर्म भावना है—संपादक

उत्तर—जड़ वस्तु को दूर करने में जड़ वस्तु ही सहायक हो सकती है, जैसे कि लोहे के द्वारा ही लोहा काटा जाता है और गर्म पदार्थ से ही आँख की गर्मी दूर की जाती + है।

प्रश्न—आत्मा स्वतन्त्र एवं अनन्त शक्ति सम्पन्न है, फिर उसे पुद्गल द्रव्य की सहायता लेने की क्या आवश्यकता है?

उत्तर—प्रत्येक संसारी आत्मा में अनन्त शक्ति रही है, किन्तु वह मात्र सत्ता रूप ही है। संसारियों की यह अनन्त शक्ति, कर्म के द्वारा ढ़की हुई है। इन शक्तियों को प्रकट करने में पुण्य कर्म की सहायता अत्यन्त उपयोगी होती है। जिस प्रकार प्रत्येक प्राणी को व्यवहार में भोजन से ही शक्ति प्राप्त होती है, किन्तु जिसकी पाचन शक्ति कमजोर हो, उस रोगी को पहले दवाई देकर पाचन शक्ति बढ़ाई जाती है। जब पाचन शक्ति बढ़ती है तब भोजन दिया जाता है, फिर दवा की जरूरत नहीं रहती। उसी प्रकार इस संसार में पाप कर्म रूप रोग वाली आत्मा को आत्म शक्ति प्रकट करने के लिए

+ कपड़े को साफ करने में साबु और सोडा, बर्तन को साफ करनें में राख, सोनें को साफ करनें में सुहागा और शरीर के भीतर के मल को साफ करनें में रेच उपयोगी होता है, उसी प्रकार यह भी है। सफाई होजानें पर मैल के साथ साबन, सोड़ा, राख और रेच अपनें आप निकल जाते हैं। इन्हें निकालनें का कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता। इसी प्रकार कर्म विशुद्धि होनें पर शुभ कर्म अपनें आप छूट जाते हैं। जबतक अशुभ कर्म रहते हैं, तभी तक शुभ कर्म भी रहते हैं। अशुभ हटने पर शुभ टिक नहीं सकते—संपादक

पुण्य रूप दवा उपयोगी होती है। जब पाप कर्म नष्ट हो जाता है, तब आत्म रमणता रूप भोजन अत्यन्त उपयोगी होता है। जिस प्रकार रोगी के लिए दवा उपयोगी होती है, उसी प्रकार पाप कर्म वाले जीव को पुण्य उपयोगी होता है। इस प्रकार पापानुबन्धी पुण्य त्यागनीय है और पुण्यानुबन्धी पुण्य अवश्य आदरणीय है—यह निःसंशय है। पूर्व पुण्य के योग से मिली हुई संसार सामग्री का मुक्ति की प्राप्ति के लिए सदुपयोग करना यही हितकारी है।

पाप तत्त्व

पुण्य से उल्टा पाप तत्त्व है। इससे आत्मा भारी एवं मैली होती है और इससे अशुभ कर्म का बन्ध होकर दुःख रूप फल की प्राप्ति होती है। पाप के १८ प्रकार इस तरह हैं।

१ प्राणातिपात—प्राणों का अतिपात करना—आत्मा से द्रव्य प्राणों का जुदा करना अर्थात् हिंसा करना। इसके तीन भेद हैं— १ परिताप=दुःख देना, २ संक्लेश=क्लेश उत्पन्न करना और ३ विनाश-=मार डालना।

२ मृषावाद—झूठ बोलना।

३ अदत्तादान—बिना दी हुई वस्तु को लेना।

४ मैथुन—स्त्री, पुरुष या नपुंसक सम्बन्धी भोग।

५ परिग्रह—ममत्व एवं आसक्ति पूर्वक धन आदि का रखना।

६ क्रोध—अप्रसन्न होना—तप्त हो जाना।

७ मान–अहंकार।

८ माया–कपटाई करना।

९ लोभ–धन आदि प्राप्त करने की इच्छा।

१० राग–प्रिय वस्तु पर आसक्ति होना।

११ द्वेष–अप्रिय वस्तु पर दुर्भाव होना।

१२ कलह–लड़ाई झगड़ा करके क्लेश करना।

१३ अभ्याख्यान–झूठा कलंक लगाना।

१४ पैशुन्य–चगली करना।

१५ परपरिवाद–दूसरों की निन्दा करना।

१६ रति अरति–अनुकूल विषयों में रुचि और प्रतिकूल विषयों में अरुचि होना।

१७ मायामृषा–कुटिलता पूर्वक झूठ बोलना।

१८ मिथ्यादर्शन शल्य–झूठे–असत्य मत के शल्य को हृदय में स्थान देना। (ठाणांग १ भगवती १–९)

उपरोक्त अठारह प्रकार से सेवन किये हुए पाप के अशुभ कर्मों का फल, नीचे लिखे हुए, ८२ प्रकार से भुगतना पड़ता है।

५ आत्मा के ज्ञान गुण का घात करने वाली ज्ञानावरणीय कर्म की ५ प्रकृतियां–१ मति ज्ञानावरणीय, २ श्रुत० ३ अवधि० ४ मन:पर्यव० और ५ केवलज्ञानावरणीं।

९ दर्शनावरणीय कर्म की ९ प्रकृतियां १–चक्षुदर्शनावरणीय २ अचक्षु० ३ अवधि ४ केवलदर्शनावरणीय ५ निद्रा ६ निद्रानिद्रा ७ प्रचला ८ प्रचलाप्रचला और ९ स्त्यानगृद्धि।

१ असातावेदनीय।

२६ मोहनीय कर्म की–१ क्रोध, २ मान, ३ माया और ४ लोभ, ये चार अनन्तानुबन्धी, ५–८ ये ही चार अप्रत्याख्यानावरण, ९–१२ प्रत्याख्यानावरण, १३–१६ संज्वलन, ये सोलह प्रकृतियाँ चार कषाय की हुई। १७–२५ नोकषाय के ९ भेद (१ हास्य २ रति ३ अरति ४ भय ५ शोक ६ दुगुन्छा ७ स्त्री वेद ८ पुरुष वेद और ९ नपुंसक वेद) और २६ मिथ्यात्व मोहनीय।

१ नरकायु।

३४ नामकर्म की प्रकृतियां १–५ वज्रऋषभनाराच संहनन को छोड़कर शेष पांच संहनन (१ ऋषभनाराच २ नाराच ३ अर्धनाराच, ४ कीलक और ५ सेवार्त) ६–१० समचतुरस्र को छोडकर पांच संस्थान (१ न्यग्रोधपरिमण्डल, २ स्वाति ३ वामन ४ कुब्ज और ५ हुंडक) ११–२० स्थावर दशक (१ स्थावरनाम २ सूक्ष्मनाम ३ साधारणनाम ४ अपर्याप्त नाम ५ अस्थिर ६ अशुभ ७ दुर्भग ८ दुःस्वर ९ अनादेय और १० अयशःकीर्तिनाम) २१–२२ नरक द्विक (१ नरकगति २ नरकानुपूर्वी) २३ तिर्यञ्चगति २४ तिर्यञ्चानुपूर्वी, २५ एकेन्द्रिय–जाति २६ द्वीन्द्रिय जाति २७ त्रीन्द्रिय २८ चौरेन्द्रिय जाति २९ अशुभ वर्ण ३० अशुभ गन्ध ३१ अशुभरस ३२ अशुभ स्पर्श ३३ उपघात नाम और ३४ अशुभविहायोगति।

१ नीचगोत्र।

५ अन्तराय कर्म की पांच प्रकृतियां-१ दानान्तराय, २ लाभान्तराय, ३ भोगान्तराय, ४ उपभोगान्तराय और ५ वीर्यान्तराय।

ज्ञानावरणीय की ५, दर्शनावरणीय की ६, वेदनीय की १, मोहनीय की २६, आयुकर्म की १, नामकर्म की ३४, गोत्रकर्म की १ और अन्तराय कर्म की ५। इस प्रकार ८२ प्रकार से पाप का फल भोगना पड़ता है।

आश्रव तत्त्व

आस्रव=आत्मा में कर्म पुद्‌गलों के प्रवेश करने का मार्ग। कषाय और योग के द्वारा आत्मा में कर्म के आने को आस्रव कहते हैं। इनके २० भेद इस प्रकार हैं।

१ मिथ्यात्व २ अविरति ३ प्रमाद ४ कषाय और ५ अशुभ योग ३ प्राणातिपात ७ मृषावाद ८ अदत्तादान ९ मैथुन १० परिग्रह ११-१५ पांच इन्द्रियों को विषय सेवन में स्वच्छन्द रखना (निग्रह नहीं करना) १६-१८ मन, वचन, काया के योग की अशुभ प्रवृत्ति करना १९ भण्डोपकरण अयतना से लेना और रखना और २० सुई कुशाग्र अयतना से लेना रखना।

इस प्रकार आस्रव के २० भेद हुए। दूसरी अपेक्षा से आस्रव के ४२ भेद इस प्रकार होते हैं।

५ इन्द्रियके—१ कान २ आँख ३ नाक ४ जिव्हा और ५ शरीर। इनके द्वारा आस्रव सेवन करना।

४ कषाय—१ क्रोध २ मान ३ माया और ४ लोभ।

५ अव्रत—१ प्राणातिपात २ मृषावाद ३ अदत्तादान ४ मैथुन ५ परिग्रह।

३ योग—१ मन २ वचन और ३ काया की अशुभ प्रवृत्ति।

इस प्रकार आश्रव के १७ भेद हुए । शेष पच्चीस क्रियाएँ निम्न प्रकार हैं ।

पच्चीस क्रियाएँ

कर्म बन्ध में कारण बनने वाली चेष्टा को 'क्रिया' कहते हैं । अथवा मन, वचन और काया के दुष्ट व्यापार को क्रिया कहते हैं ।

मन, वचन और काया इन तीन योगों से या इनमें से किसी एक या दो योग से क्रिया होती है । क्रिया ही कर्म बन्ध की मूल होती है । संसार के कारण रूप कर्म की जनयित्री क्रिया ही है । जिससे कर्म का आस्रव हो-ऐसी प्रवृत्ति को क्रिया कहते हैं । ये सारी क्रियाएँ जीव से होती है । किन्तु क्रिया के निमित्त की अपेक्षा संक्षेप में दो भेद किये गये हैं-१ जीव क्रिया और २ अजीव क्रिया ।

जीव क्रिया दो प्रकार की होती है-१ सम्यक्त्व क्रिया २ मिथ्यात्व क्रिया । आत्मा की सम्यक् परिणति से या असम्यक् परिणति से जो क्रिया हो-वह जीव क्रिया कहलाती है ।

अजीव क्रिया भी दो प्रकार की है-१ ईर्यापथिकी २ साम्परायिकी । ईर्यापथिकी क्रिया, उपशांतमोह वीतराग, और सयोगी केवली भगवान् को होती है अर्थात् अकषायी उत्तम आत्माओं को मात्र योग के कारण होती है । शेष २४

क्रिया साम्परायिकी है, जो कषाय युक्त जीवों में होती है
ये अजीव प्रधान क्रियाएँ पच्चीस हैं, जो इस प्रकार हैं।

१ कायिकी–

काया (शरीर) आदि योगों के व्यापार से होने वाली हलन चलनादि क्रिया। इसके दो भेद हैं,–१ अनुपरतकायिकी–विरति के अभाव में असंयमी जीव के शरीर आदि से होने वाली क्रिया, २ दुष्प्रयुक्तकायिकी–अयतना से शारीरिक आदि प्रवृत्ति करने के कारण होने वाली क्रिया।

२ आधिकरणिकी–

जिस अनुष्ठान विशेष से अथवा आरम्भ समारम्भ के पौद्गलिक साधनों (चाकू, छुरी, तलवार, हल, कुदाल आदि) से होने वाली क्रिया। इसके भी दो भेद हैं–,१ संयोजनाधिकरणिकी–टूटे हुए या बिखरे हुए साधनों को ठीक-दुरस्त तथा एकत्रित करके काम के लायक बनाना, २ निर्वर्तनाधिकरणिकी–नये साधन बनवाकर उपयोग करना। अर्थात् इन साधनों से आरम्भ युक्त क्रिया करना।

३ प्राद्वेषिकी–

ईर्षा, द्वेष, मत्सरता आदि अशुभ परिणाम रूप। इसके दो भेद हैं–१ जीव प्राद्वेषिकी–मनुष्य, पशु आदि किसी भी जीव पर द्वेष-क्रोध आदि होना, २ अजीव प्राद्वेषिकी–वस्त्र पात्र, मकान, आसन आदि अरुचिकर अजीव वस्तु पर द्वेष करना।

अथवा-तीन भेद-१ स्व २ पर ३ तदुभय (स्वपर) पर अशुभ परिणाम लाना।

४ पारितापनिकी-

किसीको मार पीट कर अथवा कठोर वचन कहकर क्लेश पहुँचाना, दुखी करना, कष्ट देना। इसके भी दो भेद हैं-१ 'स्वहस्त पारितापनिकी'-अपने हाथ से या वचन से कष्ट पहुँचाना, २ 'परहस्तपारितापनिकी'-दूसरों के द्वारा दुःख पहुँचाना।

दूसरी प्रकार से इसके तीन भेद हैं-१ स्वयं क्लेशित -दुःखी होना, २ दूसरे को दुःखी करना, ३ स्व और पर को दुःख देना।

५ प्राणातिपातिकी-

प्राणों का नाश करने रूप क्रिया। इसके भी दो भेद हैं-१ 'स्वहस्त प्राणातिपातिकी'-स्वयं हिंसा करना और २ 'परहस्तप्राणातिपातिकी'-दूसरे से जीव घात करवाना।

दूसरी तरह से इसके तीन भेद हैं,-१ स्वात्मघात, २ अन्य जीवों की हिंसा और ३ अपनी तथा दूसरों की हिंसा करना-खुद भी मरना और दूसरों को भी मारना।

६ आरम्भिकी-

यह क्रिया दो प्रकार से होती है-१ 'जीव आरम्भिकी' छः काया के जीवों का आरम्भ करने से, २ 'अजीव आरम्भिकी'

—कपड़ा, कागज, मृतकलेवर आदि अजीव वस्तु को नष्ट करने से होने वाली क्रिया।

७ पारिग्रहिकी—

इसके भी दो भेद हैं—१ जीवपारिग्रहिकी—कुटुम्ब परिवार, दास, दासी, गाय, भैंसादि चतुष्पद, शुकादि पक्षी, धान्य, फल आदि स्थावर जीवों को ममत्व भाव से अपनाना, २ अजीवपारिग्रहिकी—सोना, चाँदी, मकान, वस्त्र, आभूषण, शयन, आसन आदि अजीव वस्तुओं पर ममत्व भाव रखना।

८ मायाप्रत्यया—

छल, कपट से लगनेवाली क्रिया। इसके दो भेद हैं—१ आत्मभाव वक्रता—हृदय की कुटिलता, अन्तर में कुछ और तथा बाहर में कुछ और। इस प्रकार आत्मा में ठगाई के भाव होना, २ परभाव वक्रता—खोटे तोल, नाप आदि से दूसरों को हानि पहुँचाना, विश्वास जमाकर ठग लेना आदि।

९ अप्रत्याख्यानप्रत्यया—

विरति के अभाव में यह क्रिया होती है। इसके भी दो भेद हैं—१ सजीव वस्तुओं में किंचित् भी विरति के भाव नहीं होना, २ अजीव वस्तुओं में विरति का भाव बिलकुल नहीं होना।

१० मिथ्यादर्शनप्रत्यया—

सम्यक्त्व के अभाव में अथवा तत्त्व सम्बन्धी अश्रद्धा या कुश्रद्धा के कारण लगनेवाली क्रिया। इसके भी दो भेद

हैं-१ 'न्यूनाधिक मिथ्यादर्शनप्रत्यया'-श्री जिनेश्वर देव के कथन से कम अथवा अधिक श्रद्धान करना, और २ 'तद्व्यति-रिक्त मिथ्यादर्शनप्रत्यया'-आत्मा का अस्तित्व ही नहीं मानना, अथवा न्यूनाधिक मानने रूप, मिथ्यात्व के सिवाय जीव को अजीव, अजीव को जीव आदि खोटी मान्यता रखना। इसमें अन्य सभी प्रकार के मिथ्यात्व का समावेश हो जाता है।

११ दृष्टिजा-

जीव अथवा अजीव पदार्थ को देखने से होने वाले रागद्वेष मय परिणाम। सुरूप अथवा कुरूप जीव और सुन्दर अथवा घृणित दृश्य के देखने पर अच्छे बुरे भाव होने से लगने वाली क्रिया।

१२ स्पर्शजा-

जीव अथवा अजीव के स्पर्श से होने वाली राग द्वेष की परिणति। राग द्वेष के वश होकर जीव या अजीव के विषय में प्रश्न करने से लगने वाली क्रिया-पृष्टिजा कहलाती है।

१३ प्रातीत्यिकी-

जीव और अजीव रूप बाह्य वस्तु के आश्रय से उत्पन्न राग द्वेष और उससे होने वाली क्रिया।

१४ सामन्तोपनिपातिकी-

यह भी जीव और अजीव के भेद से दो प्रकार की होती है। जीव और अजीव वस्तुओं के किये हुए संग्रह को

देखकर लोग प्रशंसा करे और उस प्रशंसा को सुन कर हर्षित होना। इस प्रकार बहुत से लोगों के द्वारा अपनी प्रशंसा सुनकर हर्षित होने से यह क्रिया लगती है।

१५ स्वहस्तिकी–

अपने हाथ में ग्रहण किये हुए जीव को मारने पीटने रूप तथा अपने हाथ में ग्रहण किये हुए जीव से दूसरे जीव को मारने पीटने रूप 'जीव स्वहस्तिकी', और अजीव को पीटने से तथा अपने हाथ में ग्रहण किये हुए खड्गादि से जीव को मारने पीटने से लगने वाली 'अजीव स्वहस्तिकी' क्रिया कहलाती है।

१६ नैसृष्टिकी–

किसी वस्तु को फैंकने से होने वाली क्रिया। इसके दो भेद हैं– १ जीव नैसृष्टिकी– खटमल, यूका आदि को पटक देने, या फेंकने या फव्वारे से जल छोड़ने से होने वाली तथा २ अजीव नैसृष्टिकी– बाण फैंकने, लकड़ी, वस्त्र आदि फैंकने, आदि से होने वाली क्रिया।

१७ आज्ञापनिका–

दूसरे को आज्ञा देकर कराई जाने वाली क्रिया अथवा दूसरों के द्वारा मँगवाई जाने वाली वस्तुओं से होने वाली क्रिया। इसके दो भेद हैं– १ जीव आज्ञापनिका– सजीव वस्तुओं से सम्बन्धित और २ अजीव आज्ञापनिका– अजीव वस्तुओं से सम्बन्धित।

१८ वैदारिणी–

विदारण करने से होने वाली क्रिया। यह भी जीव और अजीव के भेद से दो प्रकार की होती है।

अथवा– विचारणिका– जीव और अजीव के व्यवहार लेन देन में दो व्यक्तियों को समझाकर सौदा पटाने रूप (दलाल की तरह) या किसी को ठगने के लिए किसी वस्तु की प्रशंसा करने से लगने वाली क्रिया।

१९ अनाभोगप्रत्यया–

अनजानपने से या उपयोग शुन्यता से होने वाली क्रिया। इसके दो भेद हैं–१ वस्त्र पात्रादि को बिना देखे ग्रहण करने और रखने रूप–अप्रतिलेखना से और २ असावधानी से प्रति–लेखना प्रमार्जना करने से लगने वाली क्रिया।

२० अनवकांक्षाप्रत्यया–

इसके स्व और पर ऐसे दो भेद हैं। १ अपने हित की अपेक्षा नहीं रख कर अपने शरीर आदि को हानि पहुँचाने रूप, और २ पर हित की अपेक्षा नहीं रखकर, दूसरों को हानि पहुँचाने रूप।

अथवा–इस लोक और परलोक की परवाह नहीं करके दोनों लोक बिगाड़ने रूप क्रिया।

२१ प्रेमप्रत्यया–

राग से लगने वाली क्रिया। इसके भी दो भेद हैं–१ क्रोध से और २ मान से।

२२ द्वेषप्रत्यया–

ईर्षा, द्वेष से लगने वाली क्रिया। इसके भी दो भेद हैं, १ क्रोध से और २ मान से।

२३ प्रायोगिकी–

१ आर्त रौद्र ध्यान अर्थात् अशुभ विचारणा से मन का दुष्प्रयोग करना, २ सावद्य वचन बोलकर वचन का अशुभ प्रयोग करना, और ३ प्रमाद युक्त गमनागमनादि से काया का बुरा प्रयोग करने रूप क्रिया।

२४ सामुदानिकी--

बहुत से लोग मिलकर एक साथ, एक ही प्रकार की क्रिया करें, अच्छे बुरे दृश्य देखे या आरम्भजन्य कार्यों को साथ मिलकर करें, उसे सामुदानिकी क्रिया कहते हैं। यह भी सान्तर–बीच में रुक कर और निरन्तर–बिना रुके तथा तदुभय–दोनों प्रकार से, यों तीन प्रकार की होती है।

२५ ईर्यापथिकी–

कषाय रहित जीवों को मात्र योग से होने वाली क्रिया। यह क्रिया--१ उपशांतमोह वीतराग २ क्षीणमोह वीतराग और ३ सयोगी केवली भगवान् के होती है। इसकी स्थिति बन्ध और वेदन रूप दो समय की है। इसके बाद इसकी निर्जरा हो जाती है।

उपरोक्त क्रियाओं में से अधिकांश क्रियाएँ श्रावक होने पर भी लगती है। अतः प्रत्येक कार्य में विवेक रखा जाय, तो बहुत बचाव हो सकता है।

अदत्तादान त्याग महाव्रत

चाहे सचित्त (शिष्य) हो, या अचित्त, (आहार, पानी, वस्त्र, पात्र, स्थानादि) थोड़ा हो या अधिक, ग्रामादि में हो या अटवी में, कहीं भी और किसी भी प्रकार का अदत्तादान नहीं लेना, न दूसरों से लिवाना, न लेनेवाले की अनुमोदना करना। यह महाव्रत भी तीन करण तीन योग से नीचे लिखी पाँच भावनाओं से युक्त जो पालन करे, वही खरा साधु है।

१ सोच विचार कर आवश्यकतानुसार ही निर्दोष अवग्रह (ठहरने के लिए स्थान) लेना चाहिए।

२ आज्ञा ले लेने के बाद ही आहारादि और स्थान आदि का सेवन करना चाहिए।

३ स्थान के लिए क्षेत्र और काल की मर्यादा पूर्वक आज्ञा प्राप्त करनी चाहिए और जितने क्षेत्र को काम में लेने की आज्ञा प्राप्त हुई है, उतने ही क्षेत्र को काम में लेना चाहिए।

४ गुरु अथवा बड़े साधु की आज्ञा प्राप्त होने के बाद ही आहारादि करना चाहिए। आहारादि प्राप्त होने के बाद भी गुरु के संमुख आलोचना करके उनकी आज्ञा से आहारादि का सेवन करना चाहिए।

५ उपाश्रय में रहे हुए संभोगी साधुओं से नियत क्षेत्र

और काल की मर्यादा पूर्वक आज्ञा लेकर वहां रहना और आहारादि करना चाहिए।

उपरोक्त पांच भावनाएँ तीसरे महाव्रत को सफल बनाती है।

मैथुन त्याग महाव्रत

देव, मनुष्य और तिर्यञ्च सम्बन्धी मैथुन का सर्वथा त्याग। यह भी तीन करण तीन योग से, जीवन पर्यन्त पालन किया जाता है। इस महाव्रत की रक्षा के लिए परम उपकारी भगवंत ने नीचे लिखी नववाड़ बतलाई है।

१ ब्रह्मचारी ऐसे स्थान में रहे, जहां-स्त्री, पशु और नपुंसक नहीं रहते हों। जिस प्रकार बिल्ली के समीप रहने से चूहे को खतरा रहता है, उसी प्रकार स्त्रियों के स्थान के समीप रहने से ब्रह्मचारी के ब्रह्मचर्य को खतरा है।

२ स्त्रियों तथा स्त्रियों सम्बन्धी कथा-हास्य, विलास, रूप आदि चर्चा नहीं करनी चाहिए।

३ स्त्रियों से परिचय तथा साथ बैठकर बातचीत नहीं करनी चाहिए। परिचय, अनुराग बढ़ाकर पतित कर देता है।

४ स्त्रियों के अंगोपांग, सुन्दरता, आदि का अवलोकन नहीं करना चाहिए।

५ टट्टी या पर्दे आदि की ओट से स्त्रियों के मधु

शब्द, विरह गीत आदि नहीं सुनना चाहिए।

६ गृहस्थावस्था में भोगे हुए भोग आदि का स्मरण नहीं करना चाहिए।

७ स्निग्ध एवं विकार वर्धक भोजन नहीं करना चाहिए।

८ भूख से अधिक भोजन नहीं करना चाहिए।

९ शरीर की विभूषा एवं स्नानादि नहीं करना चाहिए।

उपरोक्त नव वाड़ों के बाद दसवाँ नियम ऐसा है जो सुदृढ़ कोट (किले) के समान है। वह इस प्रकार है।

१० मन को विकारी बनानेवाले इष्ट शब्द नहीं सुनना, सुन्दर रूप नहीं देखना, सुगन्ध नहीं सूँघना, स्वादिष्ट रस नहीं चखना और कोमल मुलायम वस्तु का स्पर्श नहीं करना।

इस प्रकार ब्रह्मचर्य महाव्रत को सुरक्षित रखना चाहिए। इसकी आराधना के लिए निम्न पाँच भावनाएँ हैं।

१ ब्रह्मचारी उन स्थानों पर सोना, बैठना और खड़ा रहना त्याग दे, जहां स्त्रियों का आना, जाना, सोना और बैठना आदि होता है। उन छज्जे, खिड़की, आँगन, छत और पीछे के द्वार का भी त्याग कर दे, जहाँ से स्त्रियें दिखाई देती हों, स्नान एवं शृंगारादि करती हों। जहां वेश्याएँ बैठती हों, जहाँ बैठकर स्त्रियें मोह, रति एवं काम वर्धक कथाएँ कहती

हों, गाने गाती हों, और उन स्थानों का भी त्याग करदे, जहां ठहरने से मनमें विकारी भाव उत्पन्न होकर ब्रह्मचर्य महाव्रत के लिए घातक बनते हों।

२ स्त्रियों के बीच बैठकर विविध प्रकार की कथाएं नहीं करनी चाहिए। स्त्रियों के हास्य, विलास, सौन्दर्य, तथा शृंगारादि की कथाएँ नहीं करनी चाहिए। स्त्रियों के सुभग, दुर्भग, ६४ प्रकार के गुण, उनके वर्ण, जाति, रूप, पहिनाव, शृंगार व पति-वियोग की करुण कथाएँ और उसी प्रकार की सभी कथाएँ त्याग देनी चाहिए, जिनसे विकार की उत्पत्ति होकर महाव्रत दूषित होता हो।

३ ब्रह्मचारी को स्त्रियों का रूप नहीं देखना चाहिए। स्त्रियों के साथ हँसी नहीं करे, संभाषण नहीं करे, विकार दृष्टि से नहीं देखे, तिरछी दृष्टि से नहीं देखे, उनकी सुन्दरता, शारीरिक अवयव, नाच, गान, वाद्य और शृंगारादि नहीं देखे। स्त्रियों के चित्र भी नहीं देखे, क्योंकि इससे विकार उत्पन्न होकर ब्रह्मचर्य के नष्ट होने का कारण बनता है।

४ गृहस्थाश्रम में भोगे हुए भोगों और देखे सुने तथा अनुभव किये हुए दृश्यों आदि का चिन्तन नहीं करे।

५ विकार वर्धक-जिसमें घृत आदि पौष्टिक गुण रहे हों, ऐसे आहारादि का सेवन नहीं करे, जिससे विकार जागृत हो।

इन पांच भावनाओं से भावित हृदय से ही ब्रह्मचर्य महाव्रत की सच्ची आराधना होती है।

परिग्रह त्याग महाव्रत

सोना, चांदी धन, धान्य, कुटुम्ब परिवार, घर, जमीन, स्थान, वस्त्र, आभूषण, पशु आदि का सर्वथा त्याग कर देना-द्रव्य परिग्रह त्याग है, और क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, भय, शोक, दुर्गंछा तथा स्त्री, पुरुष, नपुंसक सम्बन्धी भोगेच्छा का त्याग करना-भाव परिग्रह का त्याग है। इस महाव्रत की निम्न लिखित पांच भावनाएँ हैं।

१ कान से सुने हुए शब्दों पर राग द्वेष नहीं करना ।

२ आँखों से दिखाई देते हुए दृश्यों पर राग द्वेष नहीं करना ।

३ सुगन्ध पर राग और दुर्गन्ध पर द्वेष नहीं करना ।

४ सुस्वादु पर राग और अरस विरस पर द्वेष नहीं करना ।

५ मनोज्ञ स्पर्श पर राग और अमनोज्ञ स्पर्श पर द्वेष नहीं करना ।

यह पाँचवें महाव्रत का स्वरूप है । इसका यथातथ्य पालन करना ही वास्तविक एवं जिनेश्वर भगवन्त द्वारा बताई हुई खरी साधुता है ।

इन पांच महाव्रतों के अतिरिक्त छठा व्रत है-

रात्रि भोजन त्याग व्रत

सूर्यास्त के समय से लगाकर सूर्योदय तक खाने पीने का सर्वथा त्याग करना । यह भी तीन करण तीन योग से जीवन पर्यन्त पालन करना होता है ।

एषणा समिति

तीसरी एषणा समिति है। शरीरधारियों के लिए भोजन, पानी, वस्त्र, पात्र, ठहरने के स्थान की आवश्यकता होती ही है। यह आवश्यकता संसारियों के लिए ही नहीं परन्तु संसार त्यागी साधुओं के लिए भी है। उन्हें भी इन साधनों की आवश्यकता रहती है। ये साधन सदोष भी होते हैं और निर्दोष भी। जैन साधु साध्वी उन्हीं साधनों का उपभोग कर सकते हैं जो निर्दोष हों। दूषित आहारादि का उपभोग उनके लिये निषिद्ध है। सदोष निर्दोष के लिए आहारादि के दोषों का स्वरूप बताया जाता है।

आहार के दोष

निर्ग्रन्थ मुनिवरों के आहार प्राप्त करने की विधि इतनी निर्दोष है कि जिससे हजारों लाखों की संख्या में होने पर भी वे किसी पर भाररूप नहीं होते। वे किसी से बल-जबरी से तो कोई वस्तु लेते ही नहीं, परन्तु अपनी इच्छा और प्रसन्नता से दी जाती हुई आवश्यक वस्तु को भी वे तब तक ग्रहण नहीं करते जब तक कि वह उनकी मर्यादा के अनुसार निर्दोष नहीं हो। सदोष वस्तु, आग्रह पूर्वक दी जाय तो भी वे नहीं लेते। पाठक, निर्ग्रंथ श्रमणों द्वारा वर्जित किये

जानेवाले दोषों को पढ़कर उनके पवित्र जीवन की अनुमोदना ही करेंगे। ये हैं वे नियम।

उद्गम के १६ दोष

उद्गम के दोष गृहस्थ-दाता से लगते हैं। आहारादि वस्तु का उद्गम गृहस्थ के यहां ही होता है। अतएव गृहस्थ के द्वारा लगने वाले सोलह दोष इस प्रकार हैं।

१ आधाकर्म-किसी साधु के निमित्त से आहारादि बनाकर देना।

२ औद्देशिक-जिस साधु को उद्देश्य कर आहार बनाया गया, उसके लिए वह आधा कर्मी है, किन्तु अन्य साधु के लिए वह औद्देशिक है। अथवा अन्य याचकों के लिए बनाये हुए आहार में से लेना, या गृहस्थने अपने लिए बनाते हुए आहार में, साधु साध्वी के लिए भी सामग्री मिलाकर बनाया हो, उसमें से लेना-औद्देशिक दोष है।

पूतिकर्म-शुद्ध आहार में दूषित आहार का अंश मिलाकर देना।

४ मिश्रजात अपने और साधुओं के लिए शामिल बनाया हुआ आहार।

५ स्थापना-साधुओं को देने के लिए अलग रख छोड़ा हो।

६ पाहुडिया- साधुओं को अच्छा आहार देने के लिए

मेहमानदारी के समय को आगे पीछे करना

७ प्रादुष्करण–अन्धेरे में रक्खी हुई वस्तु को प्रकाश में लाकर देना अथवा अन्धेरे स्थान को खिड़की आदि खोलकर प्रकाशित करना।

८ क्रीत–साधु के लिए खरीद कर देना

९ प्रामीत्य–उधार लेकर साधु को देना

१० परिवर्तित–साधु के लिए अदल बदल करली हुई वस्तु देना

११ अभिहृत–साधु के लिए अन्य स्थान पर लेजाकर देना या साधु के सामने लाकर देना

१२ उद्भिन्न–वर्त्तन का लेप आदि से मुँह बन्द करके रखी हुई वस्तु का, साधु के लिए लेपादि खोलकर देना

१३ मालापहृत–ऊँचे माल पर, नीची भूमि में तथा तिरछे ऐसी जगह वस्तु रखी हो, कि जहाँ से सरलता से नहीं ली जा सके, उसे लेने के लिए निसरणी आदि पर चढ़ना पड़े, ऐसी वस्तु देना (आचारांग २–१–७) इसमें दाता के गिरने और वस्तु की निर्दोषता दिखाई नहीं देने तथा अयत्-नादि दोष हैं।

१४ आच्छेद्य–निर्बल अथवा अधीनस्थ से छीनकर देना।

१५ अनिसृष्ठ–भागीदारी की वस्तु, किसी भागीदार की विना इच्छा के दी जाय।

१६ अध्यवपूरक–साधुओं का गाँव में आगमन सुनकर

बनते हुए भोजन में सामग्री बढ़ाना।

उपरोक्त सोलह दोष गृहस्थ के द्वारा लगते हैं। साधुओं का कर्त्तव्य है कि उक्त दोषों को नहीं लगने देने के लिए सावधानी पूर्वक गवेषणा करे।

उत्पादन के सोलह दोष

जो दोष केवल साधु के द्वारा ही लगते हैं, उन्हें उत्पादन दोष कहते हैं। आहार को प्राप्त करने में लगने वाले दोषों का इसमें समावेश होता है। इन्हें ग्रहणैषणा के दोष भी कहते हैं।

१ धात्रीकर्म—बच्चे की साल संभाल करके (धाय के समान कार्य करके) अथवा किसी के यहां धाय रखवाकर आहार प्राप्त करना।

२ दूतिकर्म—एक का सन्देश दूसरे को पहुँचाकर लेना।

३ निमित्त—भूत भविष्य और वर्त्तमान के शुभाशुभ निमित्त बताकर लेना।

४ आजीव—अपनी जाति अथवा कुल बता कर लेना।

५ वनीपक—दीनता प्रकट करके लेना।

६ चिकित्सा—औषधी करके या बताकर लेना।

७ क्रोध—क्रोध करके, अथवा शाप देने का भय बता कर लेना।

८ मान—अभिमान पूर्वक—अपना प्रभाव जताकर लेना।

९ माया—कपट का सेवन करके प्राप्त करना।

१० लोभ–लोलुपता से अच्छी वस्तु अधिक लेना।

११–पूर्व पश्चात् संस्तव–आहारादि लेने के पूर्व य बाद में दाता की प्रशंसा करना।

१२ विद्या–चमत्कारिक विद्या का प्रयोग करके लेना।

१३ मन्त्र–मन्त्र प्रयोग से आश्चर्य उत्पन्न करके प्राप्त करना।

१४–चूर्ण–चमत्कारिक चूर्ण का प्रयोग करके लेना।

१५–योग–योग के चमत्कार अथवा सिद्धियां बताकर लेना।

१६ मूल कर्म–गर्भस्तंभन, गर्भाधान, अथवा गर्भपात जैसे विशेष पापकारी कार्य करके लेना।

उपरोक्त सोलह दोष केवल याचक-साधु द्वारा ही लगते हैं।

एषणा के १० दोष

जिन दोषों को दाता और साधु दोनों मिलकर लगाते हैं, उन्हें एषणा-ग्रहणैषणा के दोष कहते हैं। वे निम्न प्रकार हैं।

१ शंकित–आहार के दूषित होने की शंका हो जाने पर लेना।

२ म्रक्षित–देते समय हाथ, पात्र अथवा आहार का सचित्त पानी आदि से युक्त या संघट्टा होना।

३ निक्षिप्त–सचित्त वस्तु पर रखी हुई अचित वस्तु दे तो लेना।

४ पिहित–सचित्त वस्तु से ढकी हुई अचित्त वस्तु देना।

५ साहरिय–जिस पात्र में दूषित वस्तु पड़ी हो, उसमें से दूषित वस्तु हटाकर उसीमें लेकर आहारादि देना।

६ दायक–जो दान देने के अयोग्य है, ऐसे बालक, अन्धा, गर्भवती, बच्चे को दूध पिलाती हुई, आदि से लेना।

७ उन्मिश्र–कुछ कच्चा कुछ पका अथवा सचित्त या मिश्र के साथ मिला हुआ अचित्त आहार लेना।

८ अपरिणत–जिसमें पूर्ण रूप से शस्त्र परिणत नहीं हुआ हो–जो पूर्ण रूप से पका नहीं हो, उसे लेना।

९ लिप्त–जिस वस्तु के लेने से हाथ या पात्र में लेप लगे, जैसे दही आदि (इसका कारण पश्चात् कर्म दोष-जिससे पात्रादि धोने के कारण बाद में दोष लगते हों उससे बचने का है) लेना अथवा तुरत की लीपी हुई जमीन पर चलना।

१० छर्दित–जिस वस्तु के छींटे (बूंदें) नीचे गिरती हों ऐसी वस्तु लेना।

कई गृहस्थ ऐसे दोष अनजाने लगा देते हैं, किन्तु साधु को ऐसे दोषों से बचना ही चाहिए।

ग्रासैषणा के ५ दोष

जो दोष, भोजन करते समय साधु को लगते हैं, उन्हें 'ग्रासैषणा' 'परिभोगैषणा' अथवा 'मांडला' के दोष कहते हैं। इनके पांच भेद इस प्रकार हैं।

१ संयोजना–स्वाद बढ़ाने के लिए एक वस्तु में दूसरी वस्तु मिलाना, जैसे दूध में शक्कर।

२ अप्रमाण–प्रमाण से अधिक आहार करना।

३ अंगार–आहार निर्दोष तो हो, किन्तु उसे लोलुपता पूर्वक खाना। इससे राग रूपी आग में ईंधन की तरह संयम जलकर कोयले के समान होता है।

४ धूम दोष–स्वाद रहित अरुचिकर आहार की या दाता की निन्दा करते हुए खाना। इससे संयम, सधूम काष्ठ की तरह जलकर कलुषित हो जाता है।

५ अकारण–आहार करनेके नीचे लिखे छः कारण हैं–

१ भूख की वेदना मिटाने के लिए।
२ साधुओं की वैयावृत्य (सेवा) करनेके लिए।
३ ईर्या समिति का पालन करने के लिए।
४ संयम पालन करने के लिए।
५ अपने प्राणों की रक्षा करने के लिए।
६ धर्म चिन्तन के लिए।

उपरोक्त कारण न होने पर बिना कारण केवल स्वाद –चटोरापन आदि से आहार करना।

इस प्रकार उद्गम के १६, उत्पादन के १६, ग्रहणैषणा के १० और ग्रासैषणा के ५, कुल ४७ दोष हुए। ये आधा–कर्मादि दोष, केवल आहार ही नहीं, किन्तु पानी, वस्त्र, पात्र, मकान आदि के भी समझने चाहिए। इनके सिवाय निम्न लिखित दोषों से भी बचना चाहिए।

४८ दानार्थ–अन्य याचकों को देने के लिए निकाले हुए आहार में से।

४९ पुण्यार्थ–मृतक के नाम पर अथवा पर्वादि निमित्त से पुण्य करने के लिए निकाले हुए आहार में से लेना।

५० वनीपक–गरीब भिखारियों को देने की वस्तु में से लेना।

५१ श्रमणार्थ–सन्यासी या बौद्ध भिक्षुओं के लिए बने हुए भोजन में से लेना।

५२ नियाग–आमन्त्रण से जाना अथवा नित्य एक घर से लेना।

५३ शैयातर पिण्ड–रहने के लिए स्थान देने वाले के यहां से आहारादि लेना।

५४ राज पिण्ड–राजा या ठाकुर के भोजनादि में से लेना।

५५ किमिच्छक–उस दानशाला से लेना जहां याचकों को पूछकर उनकी इच्छानुसार दिया जाता है।

५६ संघट्ट–सचित्त का संघट्टा (स्पर्श) करते हुए दे।

५७ बहुउज्झिय–जिसमें खाने का कम और फेंकने का अधिक भाग हो ऐसी वस्तु।

५८ नीचकुल–जिनके आचार विचार अत्यन्त हीन हो, उन घृणित कुलों से ले।

५९ वर्जित घर–जिसने मना कर दिया हो उसके घर से ले।

६० अविश्वसनीय–जिसका विश्वास नहीं उस घर से ले।

६१ पूर्व कर्म–देने के पूर्व दोष लगाकर फिर दे।

६२ पश्चात् कर्म–देने के बाद दोष लगावे।

६३ नशीली वस्तु–मदिरा आदि।

६४ एलग–बैठे हुए बकरे को लांघकर या हटाकर ले।

६५ श्वान–बैठे हुए कुत्ते को लांघकर या हटाकर ले।

६६ दारक–बैठे हुए बच्चे को लांघकर या हटाकर ले।

६७ वच्छक–बैठे हुए गाय के बछड़े को लांघकर या हटाकर ले।

६८ अवगाहक–पानी में चलकर लाकर दे वह ले।

६९ चलकर–सचित्त पानी आदि को अलग हटाते हुए ले।

७० गुर्विणी–जिसका गर्भकाल छः महीने से अधिक हो उससे ले। इससे गर्भ को कष्ट होता है।

७१ स्तनपायी–बच्चे को दूध पिलाती हुई स्त्री से ले। इससे बच्चे को दुःख होता है।

७२ नीचा द्वार–जिसका द्वार अधिक नीचा हो, जिसमें जाने से दाता आदि के लगने की संभावना हो।

७३ अन्धकार-अन्धेरे स्थान से लाकर दे वह लेवे तो।

७४ क्षेत्रातिक्रान्त–सूर्योदय से पूर्व लेकर बाद में काम में ले।

७५ कालातिक्रान्त–पहले प्रहर का आहार चौथे प्रहर में खावे।

७६ मार्गातिक्रान्त–दो कोस से आगे ले जाकर खावे।

७७ प्रमाणातिक्रान्त–प्रमाण से अधिक आहार करे।

७८ कन्तार भक्त–अटवी में भिक्षुओं के निर्वाह के लिए बनाया हुआ भोजन ले।

७९ दुर्भिक्ष भक्त–दुष्काल पीड़ितों को देने के लिए बने हुए आहार में से ले तो।

८० बद्दली भक्त–वर्षा की झड़ी लग जाने पर भिक्षुओं को देने के लिए बनाये हुए भोजन में से ले।

८१ ग्लान भक्त–रोगी के लिये बने हुए आहार में से ले।

८२ संखड़ी–जीमनवार में से ले।

८३ अन्तरायक–गृहस्थ के घर पहले से याचक खड़े होते हुए भी भिक्षार्थ जावे तो। इससे उन याचकों को अन्तराय लगती है।

८४ फुमेज्ज वीएज्ज–गर्म आहार को फूंक या पंखा आदि से ठण्डा करके देवे, ऐसा आहार ले।

८५ रइयग–मोदक के चूरे से पुनः लड्डू बना कर दे।

८६ पर्यवजात–रूपान्तर करके देवे, जैसे–दही का मट्ठा या रायता आदि।

८७ मौखर्य–दाता की प्रशंसा करके प्राप्त किया जाने

वाला आहार।

८८ स्वयंग्रहण—दाता की इच्छा बिना स्वयं लिया हुआ आहार।

८९ पुकारना—हे कोई दाता! इस प्रकार पुकार पुकार कर याचना करना।

९० पासत्थ भक्त—ढीले, पासत्थे, कुशीलिये का आहार लेना।

९१ अटवी भक्त—वन में भोजन लेकर गये हुए कठियारे या साथ रहे हुए व्यक्ति से भोजन लेना।

९२ घृणितकुल—जिनका आचार विचार घृणा जनक है जिनसे लोग घृणा करते हैं, वैसे कुलों से लेना।

९३ अग्रपिण्ड—सदैव पहले बनीहुई रोटी लेने या सब भोजन करने से पूर्व आहार लेने की वृत्ति।

९४ सागारिक निश्राय—शय्यातर का दिलाया हुआ आहार।

९५ अन्य तीर्थीक भक्त—अन्य तीर्थी साधु की लाई हुई भिक्षा में से लेना।

९६ रक्खणा—दाता के यहां रखवाली करके लिया हुआ।

९७ सासणा—विद्या पढ़ाकर प्राप्त किया हुआ।

९८ निन्दना—दाता की निन्दा करके लिया हुआ।

९९ तर्जना—दाता की ताड़ना करके लिया हुआ।

१०० गारव—अपनी जाति आदि का गर्व करके लिया।

१०१ मित्रता–अपनी मित्रता बताकर प्राप्त किया।

१०२ प्रार्थना करके लिया हुआ।

१०३ सेवा करके प्राप्त किया हुआ।

१०४ करुणा–अपनी करुणाजनक स्थिति बताकर लिया हुआ।

१०५ ज्ञातिपिण्ड–अपनी ज्ञाति और सम्बन्धियों से लिया हुआ।

१०६ पाहुण भत्त–मेहमानों के लिए बनाया हुआ।

१०७ अखण्ड–बिना तोड़ी या पिसी हुई वस्तु।

१०८ परिसाडीय–बिखेरते हुए दे, ऐसा आहार।

१०९ बरसते हुए पानी, धुंअर या पतंगे, मच्छर आदि बहुत उड़ रहे हों, आँधी चल रही हो, ऐसे समय भिक्षा लेने जाय तो।

११० वेश्या के आवास वाले स्थान के निकट (मुहल्ले में) भिक्षार्थ जाय।

ऐसे और भी कई प्रकार के निषेधक नियम आगमों में हैं। इन सब दोषों को टालते हुए शुद्ध आहारादि प्राप्त करके संयमी जीवन चलाने वाले साधु, साध्वी, लाखों की संख्या में हों तो भी गृहस्थपर भार रूप नहीं हो सकते। ऐसे निर्ग्रन्थों का जीवन उच्च प्रकार का और पवित्र होता है।

तीन गुप्ति

संयमी जीवन के लिए गुप्ति का वही स्थान है, जो शरीर के लिए जीव का है। बिना जीव के शरीर निःसार होता है, उसी प्रकार बिना गुप्ति के संयम निःसार होता है।

गुप्ति का अर्थ है ढकनेवाला—रक्षाकवच। आत्म सम्राट की ऐसे सुदृढ़ रक्षाकवच से रक्षा करना कि जिससे पापाश्रव रूपी शत्रु प्रवेश नहीं पा सके।

गुप्ति उस अंकुश को कहते हैं कि जिसके अधिकार में मन वचन और काया का योग रूपी हाथी रहता है। गुप्ति रूपी अंकुश उसे अशुभ की ओर नहीं जाने देता।

मन वचन और काया के योग के द्वारा ही मनुष्य अच्छी या बुरी प्रवृत्ति करता है। मन से अशुभ चिन्तन, वचन से सावद्य वचन का उच्चारण और काया के द्वारा पाप प्रवृत्ति, यही असंयम है। इन्हीं के कारण संसार का परिभ्रमण है।

मन गुप्ति—मन की जिस विचारणा से दूसरे जीवों को कष्ट पहुँचाने, ठगने या स्वार्थ साधने की चेष्टा हो, अनुकूल साधनों को जुटाने का विचार हो और दुष्ट मनोवृत्ति को सफल करने तक के भाव हों—ऐसे संरम्भ, समारम्भ और आरम्भजनक मनोवृत्ति का त्याग करना—मन गुप्ति है।

वचन गुप्ति—किसी को कष्ट एवं क्लेश पहुँचे ऐसी विचारणा को वाणी द्वारा प्रकट करना, कठोर वचन बोलना, किसी को मारने आदि का आदेश देना या ऐसी बात कहना कि

जिसे सुनकर किसीको आत्मघात करना पड़े । इस प्रकार संरंभ समारम्भ और आरम्भ जनक सावद्य वचन पर अंकुश रखना वचन गुप्ति है ।

काय गुप्ति–खड़ा होने, बैठने, चलने, सोने और काया सम्बन्धी अन्य प्रवृत्ति करने में शरीर को सावद्य प्रवृत्ति से रोकना ।

तात्पर्य यह है कि मन, वचन और काया सम्बन्धी सभी प्रकार की पाप प्रवृत्ति पर कठोर अंकुश लगाना ही तीन प्रकार की गुप्ति है । जैन श्रमण गुप्तिवन्त होते हैं । वे सावद्य योगों के त्यागी हैं । उनकी योग प्रवृत्ति आत्म साधना के लिए होती है । उनकी आत्मलक्षी प्रवृत्ति में सम्पूर्ण निवृत्ति = मोक्ष का लक्ष रहता है ।

संयम के १७ प्रकार

१ पृथ्वीकाय संयम–पृथ्वीकाय के जीवों को उद्वेग, परिताप और किलामना नहीं पहुँचाना, प्राणनाश नहीं करना । मन वचन और काया से स्वयं नहीं करना, दूसरे से नहीं करवाना और करते हुए का अनुमोदन नहीं करना ।

२ अपकाय संयम–पानी के जीवों को ,,
३ तेजस्काय संयम–अग्नि के जीवों ,,
४ वायुकाय संयम–वायु के जीवों ,,
५ वनस्पतिकाय–वनस्पति के जीवों ,,
६ वेइन्द्रिय–दो इन्द्रिय वाले जीवों ,,

७ तेइन्द्रिय संयम " —तीन "
८ चौरेन्द्रिय " —चार "
९ पंचेन्द्रिय संयम—पाँच इन्द्रियवाले "

१० अजीवकाय संयम—बहुमूल्य के वस्त्रादि नहीं लेना, वस्त्र पात्रादि के लेने रखने में यतना करना, सोना चाँदी आदि और कार्ड, लिफाफे आदि वस्तुएँ नहीं रखना।

११ प्रेक्षा संयम—सोने, बैठने, वस्त्र पात्रादि उठाने व रखने के पूर्व अच्छी तरह से देखना, युग—परिमाण भूमि देखकर चलना आदि (प्रतिलेखना—संयम)

१२ उपेक्षा संयम—असंयम के कार्यों में उपेक्षा रखना, मिथ्यादृष्टि, पासत्था और गृहस्थ तथा संसार सम्बन्धी विविध प्रकार के विचारों और कार्यों की ओर उपेक्षा रखना।

१३ परिष्ठापनिका संयम—मल, मूत्र, श्लेष्मादि, अशुद्ध अथवा अनुपयोगी आहारादि को निर्दोष स्थान पर यतना पूर्वक परठना।

१४ प्रमार्जना संयम—स्थान, वस्त्र, पात्रादि का विधि पूर्वक प्रमार्जन करना।

१५ मनःसंयम—मन में विषय कषाय के भाव नहीं आने देकर धर्मध्यान में लगाना।

१३ वचन संयम—हिंसाकारी, असत्य, मिश्र और दर्शन विघातक—सावद्य वचनों को छोड़कर निरवद्य बोलना।

१७ काय संयम—सोने, बैठने, खाने, पीने, चलने, फिरने आदि में सावधान होकर उपयोग पूर्वक निरवद्य प्रवृत्ति करना।

उपरोक्त सतरह प्रकार के संयम में सभी प्रकार के असंयम की रोक हो जाती है। जीवन बहुत ही उज्ज्वल, हल्का और ऊर्ध्वगामी होता है।

अनगार के २७ गुण

निम्न लिखित २७ प्रकार के गुणों का पालन करने वाले चारित्रवान् संत ही वास्तविक अनगार होते हैं।

१-५ पाँच महाव्रतों का सम्यग् रूप से पालन करना।

६-१० पाँच इन्द्रियों का निग्रह-श्रोतेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय और स्पर्शेन्द्रिय को वश में रखना। इष्ट पर अनुराग और अनिष्ट पर द्वेष नहीं करना। इन्द्रियों को अपने अपने विषयों की ओर नहीं जाने देना।

११-१४ कषाय विवेक-क्रोध, मान, माया और लोभ, इन चार कषायों के वेग को बढ़ने नहीं देकर कम करते रहने का प्रयत्न करना। कषायों को जीतने में प्रयत्नशील रहना।

१५ भावसत्य-अन्तरात्मा को शुद्ध, निर्दोष एवं निष्कपट रखना। उसमें दुर्भावना का प्रवेश नहीं होने देना और न असत्य को स्थान देना।

१६ करण सत्य-सच्ची करणी करना। संयम की यथार्थ रूप में साधना करना, जैसा आचार, वाणी द्वारा बताया जाता है, वैसा पालन करना-कथनी व करणी में अन्तर नहीं रखना।

१७ योग सत्य-मन, वचन और काया की संयम साधक सुप्रवृत्ति करना।

१८ क्षमा–क्रोध पर विजय पाना। क्रोध का निमित्त उपस्थित हो जाय तो क्षमा धारण करके सहन करना।

१९ वैराग्य–इष्ट एवं मोहक शब्दादि विषयों में लुब्ध नहीं होकर विरक्त भाव रखना। संसार, सांसारिक सम्बन्ध व शरीरादि में अनुरक्त नहीं होकर विरक्त भाव रखना। वैराग्य की वृद्धि से ही वीतराग भाव प्रकट होता है।

२० मन समाधारना–अशुभ संकल्प विकल्प को छोड़कर मन को स्वाध्याय ध्यान आदि शुभ भाव में लगाकर, समता में रखना–विषमता नहीं आने देना।

२१ वचन समाधारना–असत्य और मिश्र वचन का त्याग कर, आवश्यकतानुसार सत्य और व्यवहार वचन का–हित मित तथा गुण वृद्धि कर वचनों का उच्चारण करना।

२२ काय समाधारना–शरीर सम्बन्धी अनुचित, सावद्य तथा आलस्य प्रमादादि हटाकर, प्रतिलेखना, प्रमार्जना, वैयावृत्य, कायुत्सर्ग और तप आदि में लगाना।

२३ ज्ञान सम्पन्नता–सम्यग्ज्ञान युक्त होना, ज्ञान की विशेष वृद्धि करते हुए अपने में ज्ञान का भण्डार बढ़ाते जाना। वाचना आदि से नूतन ज्ञान प्राप्त करने में प्रयत्नशील रहना और कुज्ञान से वंचित रहना।

२४ दर्शन सम्पन्नता–सम्यग् श्रद्धान युक्त होना, मिथ्या श्रद्धा को स्थान ही नहीं देना। सम्यग् श्रद्धान की दृढ़ता एवं विशेषता में प्रयत्नशील रहना।

२५ चारित्र सम्पन्नता–चारित्र पालन में सदा तत्पर

रहना, चारित्र में दोष नहीं लगने देना । समाचारी का यथार्थ पालन करना । दस प्रकार के यतिधर्म का पालन करना ।

२६ वेदना सहन–परिषह एवं उपसर्ग उत्पन्न होने पर या रोगादि के कारण उपस्थित हुए दुःख को समभाव से सहन करना ।

२७ मृत्यु सहन–मरणकाल आने पर विचलित नहीं होना, किन्तु शांति से समाधिभावपूर्वक सहन करना और संथारा करके अन्तिम आराधना करना ।

श्रमण धर्म

यति (श्रमण) धर्म दस प्रकार का है। जैसे–

१ क्षमा–सहनशील बनकर क्रोध पर विजय पाना ।

२ मुक्ति–लोभ त्याग ।

३ आर्जव–कपट का त्याग कर सरल बनना ।

४ मार्दव–मान का त्याग ।

५ लाघव–लघुता-हल्कापन । वस्त्रादि स्वल्प रखना और संसारियों से स्नेह नहीं रखना ।

६ सत्य–असत्य का त्याग करना और निर्दोष सत्य का पालन करना ।

७ संयम–मन वचन और काया की असंयमी प्रवृत्ति का त्याग करना ।

८ तप–इच्छा निरोध करके बारह प्रकार का तप करना ।

९ त्याग–परिग्रह का त्याग कर भौतिक वस्तुओं से ममत्व हटाना।

१० ब्रह्मचर्य–विषय वासना का त्याग कर धर्म चिंतन से आत्मा को पवित्र करना।

उपरोक्त दस धर्मों का पालन करने वाला सच्चा साधु होता है। (ठाणांग. १०)

परिषह

निर्ग्रन्थ जीवन सुखशिलियापन (आरामतलबी) का नहीं. किन्तु कष्टों को सहन करने रूप है। जो श्रमण उपस्थित होती हुई कठिनाइयों को सहन करते हुए संयम मार्ग में आगे बढ़ते रहते हैं, वे ही सच्चे आराधक हैं। जिनागमों में बाईस प्रकार के परिषह बताये हैं, वे इस प्रकार हैं।

१ क्षुधा परिषह–भूख का दुःख।

२ पिपासा–निर्दोष पानी नहीं मिलने से प्यास का दुःख।

३ शीत–अल्प वस्त्र के कारण ठण्ड का कष्ट।

४ उष्ण–गर्मी से उत्पन्न दुःख।

५ दंशमशक–डाँस, मच्छर, खटमल आदि का दुःख।

६ अचेल–आवश्यक वस्त्र नहीं मिलना।

७ अरति–प्रतिकूल संयोगों से होने वाला खेद।

८ स्त्री–स्त्रियों द्वारा मोहित करने का-संयम घातक परिषह।

९ चर्या–पैदल चलने का कष्ट।

१० निषद्या—बैठने की जगह प्रतिकूल मिलना ।
११ शय्या—प्रतिकूल मकान मिलना ।
१२ आक्रोश—किसी के द्वारा गाली देने एवं दुर्वचन बोलने से होने वाला दुःख ।
१३ वध—मार पीट और अंगभंग आदि से होने वाल दुःख ।
१४ याचना—भिक्षा माँगने पर कोई अपमानित करे ।
१५ अलाभ—याचना करने पर भी आहारादि नहीं मिले ।
१६ रोग—रोग उत्पन्न होने पर होने वाला दुःख । उपचार नहीं करने या इच्छा होते हुए भी निर्दोष उपचार की अनुकूलता नहीं हो ।
१७ तृणस्पर्श—शरीर और पाँव में घास आदि का चूभना ।
१८ जल—मेल से होने वाला खेद ।
१९ सत्कार—सत्कार संमान मिलने पर प्रसन्नता और सत्कार नहीं मिलने पर अप्रसन्नता होना ।
२० प्रज्ञा—बहुश्रुत गीतार्थ मुनि को बहुत से लोग आकर पूछते हैं । कोई विवाद भी करते हैं । इससे खिन्न होकर सोचना कि 'इससे तो अज्ञानी रहना अच्छा, जिससे कोई सतावे तो नहीं' । इस प्रकार प्राप्त प्रज्ञा से खेदित होना ।
२१ अज्ञान—परिश्रम करने पर भी पाठ याद नहीं होने से होने वाला खेद ।
२२ दर्शन—अन्य मतावलम्बियों के वाद को सुनकर और उनके अनुयायियों की ऋद्धि आदि देखकर जिन धर्म में शङ्का-शील बनकर खेदित होना ।

श्रमण निर्ग्रन्थ उपरोक्त परीषहों को समभाव पूर्वक सहन करते हुए धर्म में दृढ़ रहते हैं।

अनाचार त्याग

निम्न लिखित बावन कार्य, श्रमण जीवन में अनाचार= नहीं आचरने योग्य माने गये हैं।

१ औद्देशिक–साधु साध्वी के निमित्त से बनाये हुए वस्त्र, पात्र, मकान और आहारादि का सेवन करना।

२ क्रीतकृत–साधु के लिए खरीदकर दिये जाने वाली वस्तु का सेवन करना।

३ नियागपिंड–गृहस्थ का निमन्त्रण पा करके कभी भी आहारादि लेना।

४ अभ्याहृत–गृहस्थ अपने घर से या अन्यत्र कहीं से भी आहारादि लाकर साधु को उपाश्रय में देवे, या साधु के सामने लाकर देवें, उसे ग्रहण करे तो।

५ रात्रिभोजन–रात को आहार लेना या खाना तथा दिन का लिया हुआ भी दूसरे या तीसरे दिन-दिनान्तर से खाना। इसके सिवा दिन में भी ज़ोरदार आंधी चलने से अन्धेरा छा गया हो और दिखाई नहीं देता हो, तब खाना और ऐसे संकड़े बरतन में खाना कि जिससे ज़ीवादि दिखाई नहीं देते हों।

६ स्नान–देश स्नान–हाथ पांव आदि धोना और सर्व स्नान करना।

७ गन्ध–चन्दन, कपूर, इत्र आदि सुगन्धित वस्तु का सेवन करना।

८ माल्य–पुष्पमाला या स्वर्ण, रत्न अथवा मोती के हार पहनना। कागज और सूत के हार पहनना।

९ विजन–पंखे या कपड़े आदि से हवा करना या बिजली से चलने वाले पंखे का उपयोग करना।

१० सन्निधि–घृत, गुड़, शक्कर आदि वस्तुओं का संचय करना, रख छोड़ने के लिए लाना, रात को रखना।

११ गृहीमात्र–गृहस्थों के बरतन काम में लेना।

१२ राजपिंड–राजा, ठाकुर के योग्य अथवा उनके लिए बनाया हुआ आहारादि लेना।

१३ किमिच्छिक–जहां याचक को पूछकर कि–"तुम्हें क्या चाहिए" दान दिया जाता हो, ऐसी दानशालादि से लेना।

१४ सम्बाधन–अस्थि, मांस आदि के आराम के लिए हाथ, पांव आदि अंग दबवाना।

१५ दन्त प्रधावन–दाँतों को चमकीले और सुन्दर बनाने के लिए धोना।

१६ संप्रश्न–गृहस्थ को कुशलता और सावद्य प्रश्न पूछना।

१७ देह प्रलोकन–दर्पण आदि में चेहरा और रूप देखना।

१८ अष्टापद–एक प्रकार का जुआ खेलना, अथवा गृहस्थ को भविष्य बताने रूप अर्थ पद कहना।

१९ नालिका–पाशा फेंक कर जुआ खेलना।

२० छत्र धारण–सिर पर छत्र धारण करना या छाता ओढ़ना।

२१ चिकित्सा–विना खास कारण के रोग का उपचार करना। या गृहस्थों के रोग का उपचार करना।

२२ उपानह–जूते, खड़ाऊ और मोजे आदि पहनना।

२३ ज्योति आरम्भ–अग्नि का आरम्भ करना, दीपक आदि का उपयोग करना।

२४ शय्यातर पिंड–साधु साध्वी को ठहरने के लिए मकान देने वाले शय्यातर के घर का आहारादि लेना।

२५ आसंदीपर्यंक–खाट, कुर्सी आदि बुने हुए आसन पर बैठना। पलंग पर सोना।

२६ गृहान्तर निषद्या–गृहस्थ के घर-रोगादि कारण के बिना ही बैठना।

२७ गात्रउद्वर्तन–शरीर पर पीठी आदि का उबटन करना।

२८ गृही वैयावृत्य–गृहस्थ की सेवा करना अथवा गृहस्थ से सेवा करवाना।

२९ जाति आजीव वृत्ति–जाति, कुल आदि बताकर–संबंध जोड़कर आजीविका करना।

३० तप्तानिर्वृत भोजित्व–पूर्ण निर्जीव नहीं बने–ऐसे मिश्र पानी का सेवन करना।

३१ आतुरस्मरण–क्षुधादि से आतुर बनकर अपने पूर्व के गृहस्थ जीवन को याद करना।

३२ मूल–सचित्त मूले का सेवन करना ।
३३ शृंगबेर–अदरख का सेवन करना ।
३४ इक्षुखंड–गन्ने के टुकड़ों का सेवन करना ।
३५ कन्द–वज्रकन्द सूरणकन्द आदि कन्द–सचित वनस्पति का सेवन करना ।
३६ मूल–वनस्पत्ति के मूल का सेवन करना ।
३७ फल–आम, नींबू आदि फल का सेवन करना ।
३८ बीज–तिल आदि सचित्त बीजों का सेवन ।
३९ सौवर्चल–संचल नमक अथवा सज्जी लेना ।
४० सैंधव लवण–सेंधा नमक जो सचित्त है ।
४१ रुमा लवण–सचित्त रोमक लवण लेना ।
४२ सामुद्र–समुद्र का सचित्त नमक लेना ।
४३ पांशु क्षार–ऊषर भूमि से बनने वाला नमक लेना ।
४४ काला नमक–पर्वतीय प्रदेश में होने वाला काला नमक ।
४५ धूपन–वस्त्रादि को धूप देकर सुगन्धित करना ।
४६ वमन–औषधी लेकर वमन करना ।
४७ वस्तिकर्म–मल शुद्धि के लिए एनिमा आदि लेना ।
४८ विरेचन–जुलाब लेना ।
४९ अंजन–आँखों में शोभा के लिए अंजन सुरमा आदि लगाना ।
५० दंतवन–नीम; बबूलादि की लकड़ी अथवा ब्रश से दांत साफ करना तथा मिस्सी आदि लगाना ।

५१ गात्राभ्यंग–शरीर पर तेल की मालिश करना।
५२ विभूषण–वस्त्रादि से शरीर सुशोभित बनना।

उपरोक्त बावन अनाचारों को टालने वाले सुसाधु होते हैं।

चारित्र का महत्त्व

सामाइयमाईय सुयनाणं जाव बिंदुसाराओ।
तस्सवि सारो चरणं, सारो चरणस्स निव्वाणं॥

सामयिक से लेकर बिन्दुसार तक श्रुतज्ञान है। श्रुतज्ञान का प्रारम्भ सामायिक से होता है और अन्त बिन्दुसार नामक चौदहवें पूर्व में होता है। इसके आगे श्रुतज्ञान नहीं है। श्रुतज्ञान का सार चारित्र है अर्थात् सम्यग् दर्शन और सम्यग् ज्ञान का प्रधान फल चारित्र की प्राप्ति रूप है और चारित्र के परिणाम से मोक्ष होता है।

अकेले ज्ञान अथवा दर्शन से मुक्ति नहीं होती, न अकेले चारित्र से ही मोक्ष प्राप्ति हो सकती है। निर्वाण प्राप्ति में ज्ञान परम्परा कारण है और चारित्र बल होने पर ही सिद्धि होती है। सम्यग्ज्ञान होने पर फिर चारित्र की मुख्यता रहती है। तप, संयम रूप चारित्र की वृद्धि होने पर सर्व संवर की प्राप्ति होती है और यही निर्वाण रूप फल है। तात्पर्य यह कि यद्यपि सम्यग्ज्ञान, सम्यग् दर्शन और सम्यग् चारित्र, इन

तीनों से मोक्ष मार्ग बनता है और तीनों साथ रहते हैं, किंतु मुख्यता चारित्र की रहती है।

चारित्र प्राप्ति में ज्ञान मुख्य होता है। सम्यग् ज्ञान होने के बाद ही सम्यग् चारित्र होता है। बिना ज्ञान के हेय और उपादेय का विवेक नहीं होता। बिना ज्ञान की क्रिया, अन्धे की दौड़ के समान है। सम्यग्ज्ञान से सन्मार्ग की प्राप्ति होती है। किन्तु मार्ग की जानकारी ही पर्याप्त नहीं होती। उस पर चलने से ही इच्छित स्थान पर पहुँचा जाता है। यह चलना ही क्रिया--चारित्र है। यदि मनुष्य, मार्ग का सच्चा ज्ञान प्राप्त करले, किन्तु उस पर चलने का प्रयत्न नहीं करे, तो उसके ज्ञान का फल क्या हुआ ? एक अंधेरे कमरे में बहुमूल्य रत्न रक्खा हुआ है। यदि मनुष्य अपनी सम्यग्ज्ञान प्रज्ञा से उसे देख तो ले, पर प्राप्त करने की कोशीश नहीं करे तो उसे लाभ नहीं हो सकता। जानने में ज्ञान मुख्य होता है और प्राप्ति में चारित्र की प्रधानता होती है। इसी प्रकार निर्वाण को समझने, रुचि करने में सम्यग् ज्ञान और दर्शन की मुख्यता होती है, किन्तु निर्वाण प्राप्ति में चारित्र की ही मुख्यता होकर ज्ञान दर्शन गौण बन जाते हैं। अथवा यों कहना चाहिए कि मोक्ष का प्रधान कारण चारित्र है– मोक्ष चारित्र के आधीन है और चारित्र, दर्शन और ज्ञान के आधीन है।

केवलज्ञान प्राप्त हो जाने पर भी जीवों की मुक्ति नहीं होती। किन्तु 'शैलेशी' अवस्था रूप सर्व संवर–सम्पूर्ण

चारित्र प्राप्त होने पर ही मुक्ति होती है। इससे सिद्ध हो गया कि मोक्ष का प्रधान कारण चारित्र है।

ज्ञानवादी लोग, मात्र ज्ञान को ही मोक्ष का फल मानते हैं· यह उनकी भूल है। भूख का ज्ञान होने मात्र से पेट नहीं भरता, रोग का ज्ञान होनें मात्र से निरोगता नहीं आती, और "मैं डूब रहा हूँ, जल रहा हूँ, दुःखी हूँ"–इतना समझ लेने मात्र से दुःख का निवारण नहीं होता, किन्तु जानने के बाद रोटी खाने की क्रिया से भूख मिटती है, पानी पीने से प्यास मिटती है, औषधि लेने से रोग निवारण होता है और तैरने आदि से प्राण बचाये जा सकते हैं। इसलिए कोरे ज्ञानवादी की मान्यता मिथ्या है। आवश्यक निर्युक्ति में इस पर विशेष प्रकाश डाला गया है। उसमें की गाथाएँ यहाँ उद्धृत की जाती हैं।

सुयनाणम्मि वि जीवो, वट्टंतो सो न पाउणइ मोक्खं।
जो तव-सञ्जममइए जोगेन चएइ वोढुं जे।

–मात्र श्रुत ज्ञानादि में ही रहा हुआ जीव, मुक्ति नहीं पा सकता, क्योंकि वह तप संयमात्मक चारित्र नहीं पा सकता–योग वहन नहीं कर सकता।

जह छेय लद्धनिज्जाम ओऽवि, वाणियगइच्छियं भूमिं।
वाएण विणा पोओ न चएइ महण्णवं तरिउं।
तह नाणलद्धनिज्जामओऽवि सिद्धिवसहिं न पाउणइ।

निउणोऽवि जीवपोओ, तवसंजममारुयविहूणो ।
संसारसागराओ उच्छुड्ढो, मा पुणो निव्वुड्डेज्जा ।
चरणगुणविप्पहूणो, बुड्डइ सुबहुं पि जाणंतो ।

—जिस जहाज का चालक तो योग्य हो, किन्तु पवन अनुकूल नहीं हो (अथवा जहाज को चलाने की क्रिया नहीं की जाती हो) वह जहाज समुद्र के किनारे पहुँच कर इच्छित स्थान को प्राप्त नहीं कर सकता, उसी प्रकार ज्ञान रूप कप्तान सहित जीव भी, तप संयमादि रूप वायु रहित होने से मोक्ष स्थान को प्राप्त नहीं कर सकता। इसलिये हे जीव ! बड़ी कठिनता से तू यह मानव जन्म और श्री जिनेश्वर भगवान् का धर्म पाकर संसार सागर की सपाटी पर आया है, तो अब चरण करणादि गुण रहित होकर क्यों डूब रहा है ? तू यह मत सोच कि "मैंने विशिष्ठ श्रुतज्ञान पा लिया है, अपने ज्ञान के बल से ही मैं मोक्ष पा लूंगा,"—क्योंकि तुझ से अधिक ज्ञान वाले भी संसार समुद्र में डूब गये हैं।

सुबहुंपि सुयमहीयं किं काहिती चरणविप्पहूणस्स ।
अंधस्स जह पलित्ता दीवसयसहस्सकोडीऽवि ? ।

—भले ही किसी ने श्रुताभ्यास बहुत किया हो, किंतु चारित्र के बिना वह अज्ञानी ही है, क्योंकि उसका ज्ञान सफल नहीं होकर शून्यवत् ही रहा। करोड़ों दीपकों की रोशनी भी अन्धे का अन्धकार दूर नहीं कर सकती, तो चारित्र रहित

शुष्क ज्ञान, उस ज्ञानवादी का क्या भला कर सकेगा ?

अप्पंपि सुयमहीयं, पगासयं होइ चरणजुत्तस्स।
एक्कोऽवि जह पईवो, सचक्खुअस्स पयासेइ॥

—जिस प्रकार आँख वाले मनुष्य को एक दीपक भी प्रकाशक होकर उपकारी होता है, उसी प्रकार चारित्रवान् को अल्प श्रुत—थोड़ा ज्ञान भी प्रकाशक—उपकारी होता है।

जहा खरो चंदणभारवाही,भारस्स भागी न हु चंदणस्स।
एवं खु नाणी चरणेण हीणो,नाणस्स भागी न हु सोग्गईए।

—जिस प्रकार चन्दन का बोझ उठाने वाला गधा, भार उठाने वाला ही है, किन्तु चन्दन की सुगन्ध का हकदार नहीं है, उसी प्रकार चारित्र रहित ज्ञानी, मात्र ज्ञान का ही भार ढोने वाला है— वह पठन, चिंतन, परावर्तन आदि कष्ट का ही भागी होता है, किन्तु स्वर्गादि सुगति का अधिकारी नहीं होता है।

हयं नाणं कियाहीणं, हया अन्नाणओ किया।
पासंतो पंगुलो दड्ढो, धावमाणो य अंधओ।

—नगर में आग लग जाने पर आँखों से देखते हुए भी पंगु—अपंग मनुष्य बच नहीं सका—जल मरा। और अन्धा इधर उधर दौड़ते हुए भी जल मरा। इस प्रकार क्रिया रहित ज्ञान और ज्ञान रहित क्रिया दोनों निष्फल होते हैं।

संजोगसिद्धीय फलं वयंति, न हु एगचक्केण रहो पयाइ ।
अंधो य पंगू य वणे समेच्चा, ते संपउत्ता नगरं पविट्ठा ।

—जिस प्रकार एक पहिये से रथ नहीं चल सकता, अकेला अन्धा और अकेला पंगु, नगर में नहीं पहुँच सकता, किन्तु दो पहियों से ही रथ चलता है और अन्धे और पंगु के सहयोग से ही नगर में पहुँचा जाता है, उसी प्रकार ज्ञान और क्रिया से ही मोक्ष रूप फल मिलता है। अकेले ज्ञान अथवा अकेली क्रिया से मुक्ति नहीं हो सकती ।

नाणं पयासयं सोहओ, तवो संजमो य गुत्तिकरो ।
तिण्हं पि समाओगे, मोक्खो जिणसासणो भणिओ ।

ज्ञान प्रकाशक है, संयम गुप्तिकर—रक्षक—है, जिससे बाहर का मल प्रवेश नहीं हो सकता और तप शोधक—शुद्धि करने वाला है। इन तीनों के योग से ही मोक्ष होता है—ऐसा श्री जिन शासन का उद्‌घोष है ।

जिन धर्म में सम्यग् ज्ञान, सम्यग्-दर्शन और सम्यग् चारित्र को ही मोक्ष मार्ग माना है। इनमें से सम्यग् दर्शन मूलाधार है और सम्यग् चारित्र आधेय है। दर्शन के आधार पर ही चारित्र रूपी महल खड़ा होता है। बिना महल के नीवँ किस काम की और विना नीवँ के महल किस पर ? दोनों का साहचर्य ही कार्य साधक हो सकता है ।

ज्ञान और चारित्र, इन दोनों का समान अनुपात होना आवश्यक नहीं है। अल्प ज्ञान वाला भी क्षपक—श्रेणी पर

आरूढ़ होकर यथाख्यात चारित्री हो सकता है और फि
सर्वज्ञ सर्वदर्शी हो जाता है, किन्तु चारित्र के अभाव अथ
न्यूनता से पूर्वों का ज्ञान भी रक्षक नहीं हो सकता। ज्ञान सहि
तो नरक में भी जा सकता है, किन्तु चारित्र सहित तो केव
मोक्ष ही पा सकता है। इसका यह आशय नहीं कि चारि
बिना ज्ञान के अकेला रह सकता है। जहां चारित्र है व
न्यूनाधिक प्रमाण में ज्ञान है ही, अवश्य है। ज्ञान रहित चा
को, जिन धर्म में सम्यग् चारित्र ही नहीं माना है।
की सत्ता भी चारित्र के साथ अवश्य रहती है।

मोक्ष के मुख्य धर्म चार हैं—ज्ञान, दर्शन, चारित्र
तप। उपरोक्त वर्णन में दर्शन का समावेश ज्ञान में औ
का चारित्र में कर देने से ज्ञान और क्रिया के रूप में
किया गया है।

वर्त्तमान समय में भी कुछ तो कोरे ज्ञानवादी
जाते हैं—जो चारित्रवानों को "क्रिया जड़" कह कर
अरुचि प्रकट करते हैं। उनकी पसन्दगी लच्छेदार भाषा
लिखने और बोलने वाले लोकानुसारी विद्वानों को
करती है। और कुछ निरे क्रियावादी बन कर सम्यग्
उपेक्षा करते हुए कम बोलना, कम खाना, उद्यमशील
आदि केवल बाहरी क्रिया को ही जैनत्व बताने लग
उनकी समझ में यह नहीं आता कि बिना ज्ञान की
ऊँची क्रिया—गणधरों जैसा बाह्याचार—पालते हुए भी
भव भ्रमण नहीं घट सकता, क्योंकि वह तो अन्धे जैसी

अतएव सम्यग् ज्ञानी होकर सम्यग् चारित्री बनने का सतत प्रयत्न करते रहना चाहिए। सम्यग् ज्ञानी का ज्ञानाचार स्वाध्यायादि चारित्र (तप के भेद) में ही गिने गये हैं।

चारित्र के भेद

मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के उपशम, क्षय अथवा क्षयो-पशम से आत्मा में संसार के प्रति अरुचि और मोक्ष के प्रति रुचि होती है। ऐसी आत्मा में यदि अप्रत्याख्यान कषाय चोकड़ी का उदय नहीं हो, तो वह आँशिक चारित्र को प्राप्त कर के देशविरत श्रमणोपासक हो जाती है, किन्तु जिस आत्मा का मोहनीय कर्म बहुत ही स्वल्प (सिर्फ संज्वलन कषाय का) होता है, वह संसार से सर्वथा विरक्त हो जाती है और घरबार कुटुम्ब परिवार आदि सभी सांसारिक सम्बन्धों तथा समस्त सावद्य योगों का त्याग करके अनगार धर्म स्वीकार करती है। यह अनगार चारित्र पाँच प्रकार का है। वे पाँच भेद इस प्रकार हैं-

१ **सामायिक चारित्र**-विषय कषाय और आरम्भ परि-ग्रहादि सावद्य योग रूप विषम भाव की निवृत्ति और ज्ञान, दर्शन चारित्र मय रत्नत्रय रूप समभाव की प्राप्ति ही सामा-यिक चारित्र है। इस सामायिक चारित्र के भी दो भेद हैं।

१. इत्वर कालिक सामायिक चारित्र-यह चारित्र थोड़े काल का होता है। इसकी स्थिति जघन्य सात दिन, मध्यम

चार महीने और उत्कृष्ट छः महीने की है। भरत, ऐरवत क्षेत्र के प्रथम और अन्तिम जिनेश्वर भगवन्तों के शासनाश्रित साधु साध्वियों को सामायिक चारित्र देने के बाद दूसरा छेदोपस्थापनीय चारित्र रूप महाव्रतों का आरोपण किया जाता है। महाव्रतारोपण के पूर्व जो चारित्र होता है। वह इत्वर कालिक सामायिक चारित्र कहा जाता है।

२. यावत्कथित सामायिक चारित्र–संसार त्याग करते समय सर्व सावद्य त्याग रूप सामायिक चारित्र, जिनके जीवन भर रहता है–जिनको पुनः महाव्रतारोपण की आवश्यकता नहीं होती। यह जीवन पर्यन्त का सामायिक चारित्र, भरत ऐरावत क्षेत्र में दूसरे से लगाकर २३वें तीर्थङ्कर भगवन्तों के शासन के तथा महाविदेह क्षेत्र के सभी साधु साध्वियों में होता है।

२ छेदोपस्थापनीय चारित्र–पूर्व पर्याय का छेदन कर महाव्रतों में उपस्थापन किये जाने रूप चारित्र। यह भरत ऐरावत क्षेत्र के प्रथम और अन्तिम तीर्थ में ही होता है। शेष बाईस तथा महाविदेह में नहीं होता। इस चारित्र के दो भेद हैं। यथा–

निरतिचार छेदोपस्थापनीय–इत्वर कालिक सामायिक वाले को महाव्रतों का आरोपण किया जाय, तब तथा २३वें तीर्थङ्कर के तीर्थ के साधु, अन्तिम तीर्थङ्कर के तीर्थ में आवें तब बिना दोष के ही पूर्व चारित्र का छेद कर महाव्रतों का आरोपण करने रूप निरतिचार छेदोपस्थापनीय चारित्र होता है।

सातिचार छेदोपस्थापनीय–मूल गुणों का घात करने वाले को पुनः महाव्रतों का आरोपण करने रूप चारित्र, सातिचार छेदोपस्थापनीय चारित्र है ।

३ परिहार विशुद्ध चारित्र–जिस चारित्र के द्वारा कर्मों का अथवा दोषों का विशेष रूप से परिहार होकर निर्जरा द्वारा विशेष विशुद्धि हो, उसे परिहार विशुद्ध चारित्र कहते हैं।

इस चारित्र की आराधना नौ साधु मिल कर करते हैं। इनमें से चार साधु तप करते हैं । ये पारिहारिक कहलाते हैं । चार साधु वैयावृत्य करते हैं, ये अनुपारिहारिक कहलाते हैं । शेष एक वाचनाचार्य के रूप में रहता है, जिसे सभी साधु वन्दना करते हैं । उनसे प्रत्याख्यान लेते हैं, आलोचना करते हैं और शास्त्र श्रवण करते हैं ।

पारिहारिक साधु, ग्रीष्म ऋतु में जघन्य उपवास, मध्यम बेला और उत्कृष्ट तेला का तप करते रहते हैं । शिशिरकाल में जघन्य बेला, मध्यम तेला और उत्कृष्ट चोला तथा वर्षाकाल में जघन्य तेला, मध्यम चोला, उत्कृष्ट पचोला तप करते रहते हैं । पारणे में आयम्बिल करते हैं । शेष पांचों साधुओं के लिए तप का नियम नहीं है । वे चाहें तो नित्य भोजी भी रह सकते हैं । किन्तु इनका भोजन भी आयम्बिल तप युक्त होता है । यह क्रम छः महीने तक चलता है । इसके बाद जो चार साधु पारिहारिक थे, वे अनुपारिहारिक (वैयावृत्य करने वाले) हो जाते हैं और जो अनुपारिहारिक थे, वे पारिहारिक हो जाते हैं

और एक साधु जो गुरु स्थानीय है, वे उसी रूप में रहते हैं
यह क्रम भी छः माह तक चलता है। इस प्रकार आठ साधुओं
के परिहारिक हो जाने के बाद (एक वर्ष बाद) उन आठ में
से एक को गुरु पद पर स्थापित किया जाता है और गुरु पद
पर रहे हुए मुनिवर, पारिहारिक बनकर छः माह पर्यन्त उसी
प्रकार तप करते हैं। इस प्रकार अठारह मास में यह परिहार
विशुद्ध तप पूर्ण होता है। इसके पूर्ण होने पर या तो वे सभी
मुनिराज पुनः इसी कल्प को प्रारम्भ कर देते हैं, या जिनकल्प
धारण कर लेते हैं, या फिर पुनः गच्छ में आ जाते हैं।

यह परिहार विशुद्ध कल्प, केवल छेदोपस्थापनीय
चारित्र वाले मुनिवरों को ही होता है—सामायिक चारित्र
वालों को नहीं होता, अर्थात् मध्य के २२ तथा महाविदेह
के तीर्थङ्करों के साधुओं में नहीं होता।

इसके दो भेद हैं—१ निर्विश्यमानक—तप करने वाले
पारिहारिक साधु और २ निर्विष्ट कायिक—वैयावृत्य करनेवाले
तथा तप करने के बाद गुरु पद पर रहा हुआ—अनुपारिहारिक
साधु, निर्विष्टकायिक परिहार विशुद्ध चारित्री कहलाता है।
कम से कम जिनकी आयु उनतीस वर्ष की हो, बीस वर्ष की
दीक्षा पर्याय हो और जघन्य नववें पूर्व की तीसरी आचार
वस्तु और उत्कृष्ट असम्पूर्ण दस पूर्व का ज्ञान हो, वे ही परि-
हार विशुद्ध चारित्र को अंगीकार कर सकते हैं। यह चारित्र
तीर्थङ्कर भगवान् के पास अथवा जिन्होंने तीर्थङ्कर भगवान्

के पास यह चारित्र अंगीकार किया हो, उसके पास ही अंगीकार किया जा सकता है, अन्य के पास नहीं।

४ सूक्ष्मसम्पराय चारित्र–जिसमें किञ्चित् मात्र सम्पराय (कषाय–लोभ) हो, वह सूक्ष्मसम्पराय चारित्र कहलाता है। यह भी दो प्रकार का होता है, जैसे–

संक्लिश्यमान सुक्ष्मसम्पराय–उपशम श्रेणी पर चढ़कर वापिस गिरते समय परिणाम उत्तरोत्तर संक्लेश युक्त होने के कारण, इस अधोमुखी परिणति को संक्लिश्यमान कहते हैं।

विशुद्धचमान सूक्ष्मसम्पराय–उपशम अथवा क्षपक श्रेणी पर चढ़ते समय, परिणाम उत्तरोत्तर विशुद्ध रहते हैं। इसलिए उत्थानोन्मुखी–वर्धमान परिणाम के कारण विशुद्धचमान सुक्ष्मसम्पराय चारित्र कहलाता है।

यह चारित्र केवल दसवें गुणस्थान में होता है।

५ यथाख्यात चारित्र–कषाय रहित साधु का चारित्र जो किसी भी प्रकार के किञ्चित् भी दोष से रहित, निर्मल और पूर्ण विशुद्ध होता है। जिसकी जिनेश्वरों ने प्रशंसा की है, उस सर्वोच्च चारित्र को यथाख्यात चारित्र कहते हैं। यह चारित्र ग्यारहवें गुण स्थान में और उसके आगे के गुणस्थानों में होता है। इसके निम्न भेद हैं।

छद्मस्थ यथाख्यात चारित्र–यह ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थान में होता है।

केवली यथाख्यात चारित्र–यह तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में होता है।

उपशान्तमोह-वीतराग-यथाख्यात-चारित्र–ग्यारहवें गुणस्थान में।

क्षीणमोह-वीतराग-यथाख्यात-चारित्र–बारहवें गुण-स्थान में।

प्रतिपाती-यथाख्यात–चारित्र--ग्यारहवें गुणस्थान में। क्योंकि इसमें मोह उपशांत ही होता है। इसलिए उपशांत हुए मोह की स्थिति समाप्त होने पर वह चारित्र समाप्त हो जाता है, और अन्य गुणस्थान को प्राप्त करता है। और अन्य गुणस्थान प्राप्त होने पर उसके मोह का उदय हो जाता है। इसलिए यह प्रतिपाति चारित्र है।

अप्रतिपाति–यथाख्यात–चारित्र-बारहवें और उससे आगे के गुणस्थानों में।

सयोगी-केवली-यथाख्यात-चारित्र--तेरहवें गुण-स्थान में।

अयोगी केवली यथाख्यात चारित्र–चौदहवें गुण-स्थान में। (भगवती २५--७)

वर्तमान काल में हमारे इस क्षेत्र में 'इत्वर कालिक सामायिक चारित्र' तथा 'छेदोपस्थापनीय चारित्र' ही है। और ये सारे विधि विधान उन्हीं के लिए हैं। इन दो चारित्र का भी जो कल्पानुसार भावपूर्वक पालन करते हैं, वे मुनि-वर इस संसार समुद्र में जहाज के समान--तिरन तारन हैं।

श्रावक धर्म

कई व्यक्ति अल्प इच्छा वाले, धार्मिक, सुशील, सज्जन आदि होते हैं। वे कुछ अंश में प्राणातिपात से निवृत्त रहते हैं और कुछ अंश में सारी जिन्दगी तक निर्वृत्त नहीं होते हैं। इसी प्रकार वे सावद्य, अज्ञान जनक और दूसरे को क्लेश पहुँचाने वाले कर्त्तव्यों से भी कुछ अंशों में आजीवन निर्वृत्त होते हैं और कुछ अंशों में निर्वृत्त नहीं होते हैं।

जैसे कि कई श्रमणोपासक होते हैं। वे जीव अजीव के ज्ञाता, पुण्य-पाप के रहस्य को जानने वाले, आश्रव, संवर, वेदना, निर्जरा क्रिया, अधिकरण, बन्ध और मोक्ष के ज्ञान में कुशल, किसी की सहायता से रहित, देव, असुर, किन्नर, यक्ष आदि देवगणों के द्वारा निर्ग्रंथ प्रवचन से हटने के लिए बाध्य किये जाने पर, निर्ग्रंथ प्रवचन में शङ्का, कांक्षा, विचिकित्सा से रहित अर्थ–आशय को पाकर-ग्रहणकर–पूछकर निश्चय करने वाले–जानने वाले, वे अस्थि-मज्जा में निर्ग्रंथ-प्रवचन के प्रेम में रंगे हुए इस प्रकार कहते हैं कि–'आयुष्मान् ! यह निर्ग्रंथ–प्रवचन ही अर्थ है, परमार्थ है, इसके सिवाय शेष अनर्थ है'। उनके द्वारों की अर्गला खुली रहती है। अभ्यागतों के लिए उनके द्वार खुले रहते हैं। वे दूसरे के अन्तःपुर या घर में प्रवेश करने की लालसा नहीं रखते हैं। वे चउदस, आठम, अमावस और पुनम के दिन प्रतिपूर्ण–पौषध का

सम्यक् पालन करते हैं। श्रमण निर्ग्रंथ को निरवद्य एषणीय खान-पान, मेवा-मुखवास, वस्त्र–पात्र, दवाई, पाट-पटिये आदि देते हैं और बहुत से शीलव्रत, गुणव्रत, विरमणव्रत, प्रत्याख्यान व्रत पौषध–उपवास आदि ग्रहण किये हुए तप कर्मों के द्वारा आत्म–भावना करते हुए रहते हैं। इस प्रकार बहुत वर्षों तक श्रमणोपासक अवस्था का पालन करके, रोग आदि बाधाएँ उत्पन्न होने या न होने पर, अनशन करके और आलोचना-प्रतिक्रमण करके, शान्ति से मरकर देवलोक में महर्द्धिक देव होते हैं। यह स्थान आर्य, एकान्त सम्यक् और श्रेष्ठ है।

(सूयगड़ांग)

श्रावकों के बारह व्रत

श्रावकों के व्रत बारह प्रकार के होते हैं। उनमें पहले के पाँच अनुव्रत और बीच के तीन गुणव्रत और पीछले चार शिक्षाव्रत कहलाते हैं। इनका स्वरूप और इनको धारण करने का विधान शास्त्रानुकूल लिखा जाता है।

पहला व्रत

स्थूल प्राणातिपात विरमण–स्थूल प्राणियों की हिंसा का त्याग करना 'स्थूल प्राणातिपातविमरण' कहलाता है। इसका अभिप्राय यह है–जगत् में दो प्रकार के जीव होते हैं,

एक स्थूल और दूसरे सूक्ष्म। जो जीव सर्व साधारण को जीव रूप से प्रतीत होते हैं, वे स्थूल जीव हैं, जैसे–द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय। ये सर्व साधारण को जीव रूप से प्रतीत होते हैं, इसलिए ये स्थूल जीव हैं। परन्तु जो सर्व साधारण के समझने में जीव रूप से प्रतीत नहीं होते, किन्तु शास्त्रमर्मज्ञ, तत्त्वदर्शी विद्वान् पुरुष के द्वारा ही जीव प्रतीत होते हैं, वे सूक्ष्म जीव हैं। जैसे–एकेन्द्रिय प्राणी।

स्थूल जीव जो द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय प्राणी हैं, उनकी हिंसा को स्थूल हिंसा या "स्थूल प्राणातिपात" कहते हैं, और सूक्ष्म एकेन्द्रिय प्राणी की हिंसा को सूक्ष्महिंसा या "सूक्ष्म प्राणातिपात" कहते हैं। यहां स्थूल प्राणियों की हिंसा के त्याग का ही ग्रहण किया है, परन्तु सूक्ष्म प्राणियों की हिंसा का नहीं। अतः स्थूल प्राणियों की हिंसा न करना श्रावक के पहले व्रत का स्वरूप है। इसमें यह जानना भी आवश्यक है कि स्थूल प्राणियों की हिंसा दो प्रकार की होती है, एक संकलपजा और दूसरी आरम्भजा। जो इच्छा–पूर्वक स्थूल प्राणी की हिंसा की जाती है वह संकलपजा हिंसा है। जैसे–मांस, चर्बी, हड्डी, नख, दाँत, चमड़ा और रोम आदि के लिये लोग निरपराधी त्रस प्राणियों की हिंसा करते हैं। यह हिंसा इच्छा पूर्वक की जाती है। इसलिये यह संकलपजा हिंसा कहलाती है। दूसरी हिंसा वह है जो इच्छा न होने पर भी प्रसंगवश हो जाती है। जैसे रथ–के भ्रमण से, तथा कृषि–कर्म करते समय हल और कुद्दाल आदि के व्यापार से

पृथ्वी के खनन करने से बहुत से कीडे मकोडे आदि त्रस प्राणी मारे जाते हैं। इन प्राणियों को मारने की इच्छा न होते हुए भी उक्त व्यापारों के द्वारा ये प्राणी मारे जाते हैं। अतः इनकी हिंसा 'आरम्भजा' कहलाती है।

संकल्पजा हिंसा–जान बूझकर इच्छा पूर्वक की जाती है, और आरम्भजा हिंसा इच्छा न होने पर भी लाचारी से हो जाती है। यही इन दोनों का परस्पर भेद है।

गृहस्थ के द्वारा आरम्भजा हिंसा का त्याग सम्भव नहीं है, क्योंकि आरम्भ के बिना गृहस्थ का निर्वाह हो नहीं सकता है। अतः निरपराधी प्राणी की संकल्पजा हिंसा का त्याग ही व्रत में लिया गया है। परन्तु सापराधीकी एवं आरंभजा हिंसा का त्याग नहीं।

श्रमणोपासक, स्थूल प्राणी की संकल्पजा हिंसा को जीवन पर्यन्त छोड़ देता है। इसमें योग और करण की मर्यादा अपनी अपनी इच्छा पर निर्भर है।

यहां यह प्रश्न होता है कि श्रावक स्थूल प्राणियों की संकल्पजा हिंसा का ही त्यागी होता है, आरम्भजा हिंसा का त्यागी नहीं होता। ऐसी दशा में उसे स्थूल प्राणियों की हिंसा से विरत कैसे कह सकते हैं? यदि वह स्थूल प्राणियों की संकल्पजा हिंसा के समान ही आरम्भजा हिंसा को भी छोड़ दे, तो वह स्थूल प्राणियों की हिंसा का त्यागी हो सकता है, और उसके व्रत को स्थूल प्राणातिपात विरमण कह सकते हैं, परन्तु वह

आरम्भजा हिंसा को छोड़ता नहीं है। अतः उसे स्थूल प्राणियोंका अहिंसक कहना ठीक नहीं।

इसका समाधान यह है कि गृहस्थ जीवन में भोजन पान और व्यवसाय आदि कार्य किये बिना निर्वाह नहीं हो सकता है और इन कार्यों के अनुष्ठान में आरम्भजा हिंसा हुए बिना रह नहीं सकती है, इसका त्याग गृहस्थ के लिये अशक्य है। इसलिये वह निरपराधी स्थूल प्राणियों की केवल संकल्पजा हिंसा को छोड़ देने से स्थूल प्राणियों का अहिंसक माना जाता है। अतः श्रावकों के द्वारा स्थूल प्राणियों की आरम्भजा हिंसा के त्याग न होने पर भी उसके प्रथम व्रत की सिद्धि हो जाती है।

यहां दूसरा प्रश्न यह होता है कि मनुष्य आरम्भजा हिंसा का त्याग न करता हुआ भी केवल संकल्पजा हिंसा के त्याग देने से यदि अहिंसक बन सकता है, तो श्रावक स्थूल प्राणियों का ही अहिंसक क्यों माना जाता है? उसे सूक्ष्म प्राणियों का भी अहिंसक मानना चाहिये। क्योंकि वह इच्छा पूर्वक सूक्ष्म प्राणियों की भी हिंसा नहीं करता है। ऐसी दशामें श्रावक के प्रथम व्रत के नाम में स्थूल पद रखनें की भी क्या आवश्यकता है? किन्तु "संकल्पजसर्वप्राणातिपातविरमण" यह प्रथम व्रत का नाम होना चाहिये, तो इसका समाधान यह है कि श्रावक इच्छा पूर्वक ही पृथ्विकाय आदि का उपभोग करता है। अतः वह सूक्ष्म प्राणियों की संकल्पजा हिंसा से निवृत्त नहीं है। इसी कारण वह स्थूल प्राणियों का ही अहिंसक माना जाता है, सूक्ष्म प्राणियों का नहीं। उसके व्रत में स्थूल पद

जोड़ कर "वह सूक्ष्म प्राणियों का अहिंसक नहीं है," यह स्पष्ट किया गया है।

श्रावक के पहले व्रत का स्वरूप बता दिया गया, अब जिन कार्यों के सेवन करने से श्रावकों के इस पहले व्रत में दोष उत्पन्न होता है, वे बताये जाते हैं। उक्त प्रथम व्रत में दोष उत्पन्न करने वाले अतिचार पाँच हैं–१ बन्ध, २ वध, ३ छविच्छेद, ४ अतिभार, ५ भक्तपानव्यवच्छेद।

१ किसी प्राणी को रस्सी आदि से बांधना 'बन्ध' कहा जाता है।

२ किसी प्राणी को कोड़ा, चाबुक, लाठी और डंडा आदि से पीटना 'वध' है।

३ किसी प्राणी के शरीर को आरा (करवत) आदि से चीरना 'छविच्छेद' कहलाता है। परन्तु फोड़ा और मेद आदि से कष्ट पाते हुए प्राणी के दुःख निवारणार्थ उसके फोड़े और मेद आदि का छेदन, भेदन या प्रज्वालन करना अतिचार नहीं है।

४ किसी प्राणी के कन्धे या पीठ पर उसकी शक्ति से अधिक भार चढ़ाना 'अतिभार' कहलाता है। जहांतक हो सके, श्रावकों को प्राणियों के द्वारा भार ढोलाकर जीविका करने का त्याग कर देना ही अच्छा है। परन्तु दूसरी जीविका न होने के कारण लाचार होकर, यदि यह कार्य करना ही पड़े, तो इसका विचार यह है कि मनुष्य के ऊपर इतना अधिक भार

न दे, जिसको वह स्वयं अपने ऊपर उठा न सके और स्वयं नीचे उसे उतार न सके।

पशु के ऊपर रखा जाने वाला भार उसकी स्वाभाविक शक्ति से ज्यादा न हो तथा हल और गाड़ी में जोते हुए पशु ठीक समय पर छोड़ दिये जायँ। ऐसा करना अतिभार नहीं है। हाथी, घोड़े और ऊँट आदि के विषय में भी यही बात जाननी चाहिये।

५ किसी प्राणी को भोजन और पानी न देना 'भक्त-पान व्यवच्छेद' है। किसी प्राणी को भूखा, प्यासा रखना श्रावक का कर्त्तव्य नहीं है। यदि कोई श्रावक ऐसा करे, तो उसके व्रत में अतिचार होता है, परन्तु रोग आदि की निवृत्ति के लिए रोगी प्राणी को यदि उपवास कराना पड़े, तो यह अतिचार नहीं है, किन्तु यह कार्य रोगी का कल्याण-कारक होने से अच्छा माना गया है।

हर एक कार्य करते समय व्रतधारी श्रावक को यह विवेक रखना चाहिए कि उसके कार्य से किसी प्राणी का घात न हो जाय।

इन अतिचारों के विषय में दूसरे आचार्यों का मत यह है-

> "बन्धवधं छविच्छेद मतिभारं भक्तपानव्युच्छेदम्।
> क्रोधादिदूषितमनाः गोमनुजादीनां न करोति॥"

अर्थात् क्रोध आदि के वश होकर किसी प्राणी का बन्ध,

वध, छविच्छेद, अतिभार और भक्तपान व्यवच्छेद न करना चाहिये क्योंकि ऐसा करने से प्रथम व्रत में अतिचार आता है।

दूसरा व्रत

झूठ बोलना मृषावाद कहलाता है। वह दो तरह का होता है। एक स्थूल और दूसरा सूक्ष्म। स्थूल वस्तु के विषय में दुष्ट अध्यवसाय से झूठ बोलना स्थूल मृषावाद है, इसके पाँच भेद होते हैं, जैसे कि–(१) कन्या के विषय में, (२) गाय के विषय में, (३) भूमि के विषय में, (४) न्यासापहार के विषय में, (५) झूठी साक्षी देने के विषय में।

जो कन्या, कुल शील तथा अंगों से सम्पन्न है, उसको दूषित बताना तथा जो इनसे दूषित है, उसको निर्दोष बताना, कन्या के विषय में झूठ बोलना है। यद्यपि यहां कन्या शब्द ही आया है,तथापि वह मनुष्य मात्र का उपलक्षण (बोधक) है। इसलिए किसी भी मनुष्य के विषय में झूठ बोलना यहां वर्जित समझना चाहिये, परन्तु कन्या के विषय में झूठ बोलना लोक में बहुत निन्दित समझा जाता है। इसलिए यहां उसीका ग्रहण किया गया है।

दूसरा–'गवालीक" यानि गाय के विषय में झूठ बोलना है। यहां भी गाय उपलक्षण है, इसलिए गाय, भैंस, घोड़ा आदि चौपाये जानवरों के विषय में झूठ बोलना गवालीक समझना चाहिए।

तीसरा-स्थूल मृषावाद "भूम्यलीक" यानी भूमि के विषय में, झूठ बोलना है। यहां भूमि के विषय में झूठ बोलने का अभिप्राय केवल पृथ्वी के विषय में झूठ बोलने से ही नहीं, किन्तु फल, वृक्ष आदि सचेतन और सोना, चाँदी, लोहा आदि अचेतन पदार्थों के विषय में झूठ बोलने से भी समझना चाहिए।

चौथा-स्थूल मृषावाद 'न्यासापहारालीक' किसी मनुष्य की धरोहर को हड़प जाने के लिए झूठ बोलना न्यासापहारालीक है। यद्यपि ऐसा करना चोरी है। तथापि यह कार्य झूठ बोलकर किया जाता है, इसलिए इसे मृषावाद में ही माना है।

पाँचवाँ-'कूट साक्ष्य' झूठीसाक्षी देना स्थूल मृषावाद है। किसी की बुराई करने के लिए या घूस लेकर झूठी गवाही देना, कूट साक्ष्य कहलाता है।

इन पाँच प्रकार के स्थूल मृषावादों का दो करण और तीन योग से त्याग करना 'स्थूलमृषावाद' विरमण नामक दूसरा व्रत है।

स्थूल मृषावाद विरमण व्रत के पांच अतिचार।

१ सहसाभ्याख्यान, २ रहस्याभ्याख्यान, ३ स्वदार मन्त्र भेद, ४ मृषोपदेश, ५ कूटलेखक्रिया। ये पांच दूसरे व्रत के अतिचार हैं। अब क्रमशः इनके स्वरूप बताये जाते हैं।

१ बिना सोचे विचारे किसी के ऊपर झूठा दोष लगाना, जैसे कि- "तू चोर है, तू जार है," 'इत्यादि सहसाभ्याख्यान' कहलाता है।

२ एकान्त में बैठकर किसी विषय का विचार करते हुए मनुष्यों को देखकर उनके ऊपर राजद्रोह आदि का अभियोग (अपराध) लगाना 'रहस्याभ्याख्यान' कहलाता है।

यदि व्रत की परवाह न करके जान बूझकर सहसाभ्याख्यान या रहस्याभ्याख्यान किये जायँ, तो ये दोनों अनाचार में सम्मिलित हो जाते हैं, अतिचार में नहीं। यदि असावधानी से इनका आचरण हो जाय, तो ये अतिचार माने जाते हैं।

अथवा किसी मनुष्य के ऊपर "कदाचित् यह ऐसा करता होगा" ऐसी शंका करके मिथ्या दोष लगाना रहस्याभ्याख्यान रूप अतिचार है। परन्तु जान बूझकर किसी के ऊपर मिथ्या दोष लगाना अनाचार है, अतिचार नहीं।

३ एकान्त में अपनी स्त्री के द्वारा कही गई गोपनीय (छिपाने योग्य) बातों को दूसरों के सामने प्रकट कर देना 'स्वदारमन्त्रभेद' कहलाता है।

यहाँ यह सन्देह हो सकता है कि अपनी स्त्री के द्वारा कही हुई बातों को दूसरों के सामने प्रकट करने वाले पुरुष ने मिथ्या भाषण नहीं किया, किन्तु अपनी स्त्री के द्वारा हुई सत्य बातों को ही कहा, फिर उसका यह सत्य भाषण अतिचार में कैसे गिना गया? तो इसका उत्तर यह है कि—उक्त भाषण सत्य होने पर भी अपनी गुप्त बातों के प्रकट हो जाने से लज्जा आदि के वश होकर यदि स्त्री अपना या दूसरे का घात कर डाले, तो इससे अनर्थ होने की सम्भावना है। इसलिए सत्य होने

पर भी अनर्थ का हेतु होने के कारण यह बात अतिचार में गिनी गई है।

४ चौथा अतिचार 'मृषोपदेश'–झूठ बोलने का उपदेश करना मृषोपदेश कहलाता है। जान बूझकर किसी को झूठ बोलने का साक्षात् उपदेश करना तो अनाचार है, परन्तु असावधानी से ऐसा हो जाय अथवा जिस सत्य भाषण से दूसरे की असत्य भाषण में प्रवृत्ति होना संभव हो उसका उपदेश करना मृषोपदेश अतिचार है। जैसे अपने पास सम्मति पूछने के लिये कोई मनुष्य आया हो, तो उससे यदि यह कहाजाय कि–"अमुक समय झूठ बोलकर मैंने अपना कार्य किया था," तो इससे उस मनुष्य की मिथ्या भाषण में प्रवृत्ति होना सम्भव है। अतः सत्य होने पर भी यह उपदेश मृषोपदेश रूप अतिचार में सम्मिलित हो जाता है।

पाँचवां अतिचार 'कूटलेखक्रिया'–किसी दूसरे मनुष्य के लेख के समान जाली लेख बनाना और उस पर उसी की नकली मोहर छाप लगाकर सत्य लेखसा गढ़ देना–'कूटलेखक्रिया' कहलाती है। यह कूटलेख क्रिया, प्रमाद आदि से करने पर अतिचार है, परन्तु जान बूझकर ऐसा करना अनाचार है।

तीसरा व्रत

वस्तु के स्वामी की आज्ञा के बिना उसकी वस्तु को लेना 'अदत्तादान' कहलाता है। यह स्थूल और सूक्ष्म भेद से दो तरह का है। दूसरे की चीज को हजम कर लेने की इच्छा

से उसकी आज्ञा के बिना ले लेना स्थूल अदत्तादान है। भाव यह है कि जिससे चोरी का अपराध लग सकता है, वह स्थूल अदत्तादान माना गया है।

किसी दूसरे की चीज को स्वामी की आज्ञा के बिना अच्छी नीयत से ले लेना—सूक्ष्म अदत्तादान है।

सचित्त और अचित्त भेद से स्थूल अदत्तादान दो प्रकार का होता है।

दूसरे के गाय, भैंस, घोड़े, हाथी, आदि जानवर जाब्ते या ग़ैर जाब्ते के साथ रक्खे हुए हों, अथवा उनका स्वामी उन्हें रखकर भूल गया हो, अथवा वे स्वयं आकर अपने पशुओं के झुण्ड में मिल गये हों, तो किसी प्रकार भी उन्हें चुरा लेना सचित्त स्थूल अदत्तादान है।

दूसरों की सोना, चाँदी, वस्त्र और रत्न आदि अचित्त वस्तु जाब्ते या गैर जाब्ता के साथ रखी गई हों, या उनका स्वामी उन्हें भूल गया हो, तो उन वस्तुओं को हजम करने की नीयत से ले लेना—अचित्त स्थूल अदत्तादान है। इन दोनों स्थूल अदत्तादानों को दो करण और तीन योग से त्याग करना 'अदत्तादान विरमण व्रत' है।

अदत्तादान विरमण व्रत के पाँच अतिचार—१ स्तेनाहृत २ तस्करप्रयोग, ३ विरुद्धराज्यातिक्रम, ४ कूटतुला कूटमान ५ तत्प्रतिरूपकव्यवहार।

अदत्तादानविरमण व्रत के ये पाँच अतिचार हैं।

अल्प मूल्य में प्राप्त होने के लोभ से चोरी की वस्तु

को ख़रीदना 'स्तेनाहृत' कहलाता है।

चोरी करने के लिए चोरों को उत्साह देना 'तस्कर प्रयोग' कहलाता है। ये कार्य यदि परतन्त्रता आदि कारणों से विवश हो कर किये जायें, तो अतिचार हैं, परन्तु उक्त कारण के विना जान बूझकर ऐसा करना अनाचार है।

जिस राजा के राज्य में निवास करते हैं, उसकी आज्ञा के बिना उसके विरोधी राज्य में प्रवेश करना विरुद्ध 'राज्यातिक्रम' है।

तराजू या माप के द्वारा अधिक वस्तु लेना और कम देना 'कूट तुला और कूट मान' अतिचार है। यह कार्य भी प्रमाद आदि दोष से हो जाय, तो अतिचार है। अन्यथा जान बूझकर ऐसा करना अनाचार है।

पांचवां अतिचार है तत्प्ररूपक व्यवहार—इसका व्यवहार दो तरह का है। एक तो यह है कि--समान रूपवाली कम कीमती वस्तु को अधिक मूल्यवाली वस्तु में मिलाकर अधिक मूल्य से बेंचना, जैसे—घटिया चावल को उत्तम चावल में मिलाकर अच्छे चावल के भाव से बेंचना इत्यादि। दूसरा यह है कि रूप रंग में समान वस्तु को दूसरी वस्तु के नाम से बेंचना जैसे चर्बी को घी बताकर बेंचना आदि। ये दोनों ही 'तत्प्रतिरूपक व्यवहार' में हैं। यदि भूल से यह कार्य हो जाय तो अतिचार है, नहीं तो जान बूझकर ऐसा करना अनाचार है।

चौथा व्रत

अपनी विवाहिता स्त्री में सन्तोष रखते हुए परस्त्री गमन को वर्जित करना 'स्वदारसन्तोष परदारविरमण' व्रत है। परदारायें दो प्रकार की होती है, एक औदारिक शरीर वाली और दूसरी वैक्रिय शरीरवाली। मनुष्य और तिर्यञ्च जाति की स्त्रियाँ औदारिक शरीर वाली हैं और देव जाति की स्त्रियाँ वैक्रिय शरीर वाली हैं। इन दोनों ही जाति की स्त्रियों को त्याग कर केवल अपनी विवाहिता स्त्री में सन्तुष्ट रहना 'परदार विरमण' व्रत कहलाता है। श्रावक श्राविकाओं को जीवन पर्यन्त इस व्रत का पालन करना चाहिये।

इस चौथे व्रत के पांच अतिचार होते हैं;-

१ इत्वरपरिगृहीता गमन, २ अपरिगृहीता गमन, ३ अनंगक्रीडा, ४ परविवाहकरण, ५ कामभोगतीव्राभिलाष।

इत्वरपरिगृहीतागमन—छोटी उम्र की स्त्री से गमन करे।

अपरिगृहीतागमन—जिसके साथ सगाई ही हुई, किन्तु नियमानुसार शादी नहीं हुई, ऐसी कुंवारी कन्या के साथ गमन करे।

अनंगक्रीडा—मोह की प्रबलता से मैथुन सेवन की तीव्र इच्छा के कारण काष्ठ, फल, मिट्टी और चमड़े आदि की बनी हुई योनि में अप्राकृतिक दुराचार करना, तथा अपनी

स्त्री के भी मुख, स्तन, कांख, उरु आदि अंगों में काम सेवन करना तथा हस्तकर्म करना 'अनंगक्रिया' है।

परविवाहकरण–जिस पुरुष ने 'स्वदारसन्तोष' तथा परदारविरमण व्रत को धारण किया है, वह दूसरे की काम प्रवृति को भी नहीं बढ़ाता है। इसलिए वह जिस कार्य से दूसरे की काम प्रवृत्ति बढ़ती है, वह कार्य भी नहीं करता है। इस व्रत को धारण करने वाला पुरुष, यदि मोह में पड़कर या कन्यादान से स्वर्गादि की प्राप्ति होती है, यह समझकर अपने अथवा अपने कुटुम्ब के सन्तानों से भिन्न दूसरे पुरुष या कन्या का विवाह करावे, तो वह अतिचार का सेवन करता है। क्योंकि उसका यह कार्य दूसरे की मैथुन प्रवृत्ति का वर्धक है। अतः इस व्रत का 'परविवाहकरण' अतिचार माना जाता है।

कामभोगतीव्राभिलाष–शब्द और रूप को 'काम' कहते हैं, तथा गन्ध, रस और स्पर्श को 'भोग' कहते हैं। इन दोनों की अत्यधिक इच्छा करना "कामभोगतीव्राभिलाष" कहलाता है।

जिस पुरुष ने स्वदारसन्तोष तथा परदारविरमण रूप व्रत को धारण करके अपनी काम प्रवृत्ति को न्यून किया है। वह यदि वाजीकरण आदि शक्तिवर्धक औषधियों का सेवन करके स्व-स्त्री के साथ भी निरन्तर कामभोग की तृष्णा करे, तो उसके व्रत में अतिचार (दोष) उत्पन्न होता है। अतः उक्त व्रतधारी का यह कर्त्तव्य नहीं है। वस्तुतः शरीर में कण्डुरोग उत्पन्न करके अग्नि सेवन की इच्छा करना जैसे मूर्खता है,

उसी तरह बाजीकरण आदि औषधियों का सेवन करके मैथुन प्रवृत्ति को बढ़ाना मूर्खता है ।

पांचवां व्रत

मनुष्य, हाथी, घोड़ा, गाय, भैंस आदि सचेतन पदार्थ और रत्न, सोना, चाँदी तथा वस्त्र आदि अचेतन वस्तु, इन दोनों प्रकार के परिग्रहों को अपने पास रखने की कोई मर्यादा (अवधि) नियत करना "इच्छापरिमाण व्रत" कहलाता है। इस व्रत में मर्यादा नियत करने का कोई नियम नहीं है । अतः सभी श्रावक अपनी-अपनी इच्छा और शक्ति के अनुसार अपने परिग्रहों की मर्यादा कायम कर सकते हैं । परन्तु इस व्रत को धारण करने का उद्देश्य अपनी तृष्णा को न्यून करना है। इसलिये मर्यादा नियत करने के समय अपनी तृष्णा की न्यूनता के ऊपर ध्यान रखकर मर्यादा कायम करनी चाहिए । नीचे लिखी हुई वस्तुओं के विषय में अपनी-अपनी इच्छानुसार मर्यादा नियत करनी चाहिए । जैसे कि–

क्षेत्र की मर्यादा नियत करना–जिसमें गेहूं, चने आदि बोए जाते हैं, उस पृथ्वी को क्षेत्र कहते हैं । उसके विषय में कोई अवधि नियत करना, जैसे कि– "मैं इतने क्षेत्र से अधिक क्षेत्र अपने पास न रक्खूंगा" क्षेत्र की मर्यादा नियत करना है ।

गृह की मर्यादा नियत करना–हवेली, महल, बंगला

और मकान आदि की मर्यादा कायम करना–गृह की मर्यादा कायम करना है।

हिरण्य की मर्यादा कायम करना–चाँदी और सोना आदि की मर्यादा नियत करना, हिरण्य की मर्यादा नियत करना है।

धन के विषय में मर्यादा नियत करना–सोना आदि के विषयों में मर्यादा कायम करना, धन के विषय में मर्यादा नियत करना है। तथा गेंहूँ, चने आदि अन्नों के विषय में मर्यादा कायम करना धान्य के विषय में मर्यादा कायम करना है। अपनी-अपनी इच्छा के अनुसार श्रावकों को ऊपर लिखी हुई वस्तुओं के विषय में मर्यादा कायम करनी चाहिये।

पांच अतिचार

१ क्षेत्रवास्तुप्रमाणातिक्रम, २ हिरण्यसुवर्णप्रमाणाति–क्रम, ३ द्विपदचतुष्पदप्रमाणातिक्रम, ४ धनधान्यप्रमाणातिक्रम, ५ कुप्यप्रमाणातिक्रम। ये पांच इच्छापरिमाण व्रत के अति–चार हैं।

१ नदी या वृष्टि के जल से सींचकर या बिना सींचे जिस भूमि में अन्न आदि उत्पन्न किये जाते हैं, उस भूमि को क्षेत्र कहते हैं। मकान को "वास्तु" कहते हैं, यह तीन प्रकार का होता है। एक भूमिगृह, जो जमीन के अन्दर बना हुआ होता है। दूसरा वह, जो जमीन के ऊपर बना हुआ होता है। तीसरा वह जो कुछ भूमि के अन्दर और कुछ ऊपर बना हुआ होता है।

पहले कहे हुए क्षेत्र और गृह के विषय में जो मर्यादा कायम की गई हो, उसको उलंघन करना "क्षेत्रवास्तुप्रमाणातिक्रम" कहलाता है।

हिरण्यसुवर्णप्रमाणातिक्रम–सिक्के या दागीने के रूप में गढ़ कर बनाई हुई या बिना बनाई हुई, चाँदी और ज़ेवर तथा मोहर के रूप में गढ़े हुए या बिना गढ़े हुए सोने के सम्बन्ध में श्रावक ने जो मर्यादा कायम की हो, उस मर्यादा का उलंघन करना "हिरण्यसुवर्णप्रमाणातिक्रम" है। यह कार्य यदि भूल से हो जाय, तो अतिचार है। अन्यथा जानबूझकर ऐसा करना अनाचार समझना चाहिए। यदि किसी श्रावक ने किसी खास अवधि तक मर्यादा ले रखी हो, जैसे कि– "मैं पाँच वर्ष तक इतना ही हिरण्य सुवर्ण रखूंगा अधिक नहीं" उस श्रावक को यदि कोई राजा महाराजा आदि उसकी मर्यादा से अधिक हिरण्य सुवर्ण देवे, और वह यदि मर्यादा से अधिक द्रव्य को दूसरे के पास अवधि पूरी होने पर ले लेने की इच्छा से रख दे, तो यह कार्य उस श्रावक के व्रत का अतिचार समझना चाहिये।

द्विपदचतुष्पदप्रमाणातिक्रम–दास दासी आदि मनुष्य तथा हंस और मोर आदि पक्षी द्विपद हैं, एवं हाथी, घोड़ा, और गाय, भैंस आदि जानवर "चतुष्पद" हैं। इन दोनों के सम्बन्ध में व्रतधारी श्रावक ने जो मर्यादा नियत की हो, उस मर्यादा को भूल से अथवा व्रत की अपेक्षा रखकर उलंघन करना–द्विपदचतुष्पदप्रमाणातिक्रम रूप अतिचार है।

धनधान्यप्रमाणातिक्रम—गुड़, शक्कर वगैरह धन कहलाते हैं, और शालि, कोद्रव, मूंग और गेहूं, चने आदि अन्न, धान्य कहलाते हैं। इनके विषय में श्रावक ने जो मर्यादा कायम की है, उसको उलंघन करना, धनधान्यप्रमाणातिक्रम रूप अतिचार है। यह कार्य यदि भूल से हो जाय अथवा व्रत की अपेक्षा रखकर किया गया हो, तो अतिचार है, अन्यथा अनाचार समझना चाहिये।

कुप्यप्रमाणातिक्रम—आसन, शय्या और पात्र आदि के विषय में श्रावक ने जो मर्यादा कायम की हो, उसको उल्लंघन करना 'कुप्यप्रमाणातिक्रम' रूप अतिचार है। यह कार्य यदि भूल से अथवा व्रत की अपेक्षा रखकर किया गया हो, तो अतिचार है, नहीं तो जान बूझकर ऐसा करना अनाचार है।

छठा व्रत

पूर्वोक्त श्रावकों के पाँच व्रत 'अणुव्रत' कहलाते हैं। इन अणुव्रतों के पालन करने में पूरी सहायता देने वाले व्रत 'गुणव्रत' कहलाते हैं। इन के तीन भेद हैं, जैसे कि—१ दिग्व्रत, २ उपभोगपरिभोग परिमाण व्रत, और ३ अनर्थदण्ड वर्जन व्रत। ये तीनों व्रत गुणव्रत कहलाते हैं।

१ पूर्व आदि दिशाओं में जाने आने या किसी को भेजने की मर्यादा कायम करना, जैसे कि "मैं पूर्व आदि दिशाओं में इतने कोश से अधिक न जाऊंगा या किसी को न

भेजूंगा" दिग्व्रत कहलाता है। यह तीन प्रकार का होता है।

१ उर्ध्वदिग्व्रत, २ अधोदिग्व्रत, और ३ तिर्यग्दिग्व्रत। ऊपर की दिशाओं में अर्थात् पर्वत आदि ऊपर चढ़ने और उतर ने तथा वायुयान के जाने आने की मर्यादा कायम करना। जैसे कि "मैं पर्वत आदि ऊँचे स्थानों पर इतनी दूर से ज्यादा न चढूंगा" इत्यादि 'ऊर्ध्वदिग्व्रत' कहलाता है।

तालाब, बावड़ी, कूप और खान आदि नीचे के स्थानों चढ़ने और उतरने की मर्यादा कायम करना। 'अधोदिग्व्रत' कहलाता है।

पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण दिशा में तथा वायव्य आदि कोणों में अपने आने जाने की मर्यादा कायम करना 'तिर्यग् दिग्व्रत' कहलाता है।

दिग्व्रतों के धारण करने से नियत की हुई मर्यादा से बाहर के जीवों का घात तथा मृषावादादि पाप, व्रतधारी श्रावक के द्वारा नहीं होता है। इसलिये इस व्रत का धारण आवश्यक है।

दिग्व्रत के पांच अतिचार

१ ऊर्ध्वदिग्व्रत प्रमाणातिक्रम, २ अधोदिग्व्रत प्रमाणातिक्रम, ३ तिर्यग्दिग्व्रत प्रमाणातिक्रम, ४ क्षेत्र वृद्धि, ५ स्मृतिभ्रंश।

ऊपर की दिशा में अर्थात् पर्वत आदि के ऊपर चढ़ने

उतरने आदि की जो मर्यादा श्रावक ने नियत की है, उसको उलंघन करना यानी उससे अधिक दूर तक जाना आना "ऊर्ध्वदिग्व्रत प्रमाणातिक्रम" है। यह भूल से हो जाय, तो अतिचार है, अन्यथा जानबूझ कर ऐसा करना अनाचार समझना चाहिए।

नीचे की दिशा और तिर्यग् दिशाओं में जो अवधि कायम की हो उसको भूल से भंग कर देना अतिचार समझना चाहिये।

क्षेत्र वृद्धि–पूर्व आदि दिशाओं में आने जाने के लिए जो क्षेत्र नियत किया गया हो, उसको व्रत की अपेक्षा रखते हुए बढ़ा देना 'क्षेत्र वृद्धि' कहलाता है। जैसे किसी श्रावक ने पूर्व दिशा में आने जाने के लिए सौ योजन की मर्यादा कायम की है, और पश्चिम दिशा में दस योजन की अवधि नियत की है। उस श्रावक को पश्चिम दिशा में दस योजन से अधिक क्षेत्र में जाने का कार्य उपस्थित होने पर वह यदि पूर्व दिशा के कुछ योजनों को पश्चिम दिशा में मिलाकर पश्चिम दिशा के क्षेत्र की वृद्धि करे, तो यह क्षेत्रवृद्धि नामक अतिचार है। ऐसा करने वाले श्रावक ने अपने व्रत की अपेक्षा रख कर क्षेत्र-वृद्धि की है। इसलिए इसका यह कार्य अतिचार है। अनाचार नहीं है।

स्मृतिभ्रंश–जिस दिशा में जाने आने के लिए जितनी मर्यादा नियत की है, उसको भूल जाना, अथवा नियत की हुई

मर्यादा पूरी न होने पर भी पूरी होने का सन्देह होने पर आगे चला जाना—स्मृतिभ्रंश नामक अतिचार है।

सातवां व्रत

एक ही बार भोग करने योग्य भोजन और पान आदि पदार्थ 'उपभोग' कहलाते हैं, और बार-बार भोगे जाने योग्य वस्त्र, भूषण और स्त्री आदि पदार्थ 'परिभोग' कहलाते हैं। इन दोनों का परिमाण नियत करना 'उपभोग-परिभोग व्रत' कहलाता है। यह व्रत दो प्रकार का होता है—एक भोजन से और दूसरा कर्म से।

उपभोग करने योग्य भोजन और पान आदि पदार्थों का तथा परिभोग करने योग्य वस्त्र और आभूषण आदि पदार्थों का परिमाण निश्चित् करना अर्थात् "मैं अमुक वस्तु को ही अपने उपभोग परिभोग में रक्खूंगा, इनसे भिन्न पदार्थों को न रक्खूंगा" ऐसी संख्या नियत करना—भोजन से उपभोग परिभोग व्रत है। और उपभोग तथा परिभोग के योग्य पदार्थों की प्राप्ति के लिए उद्योग धन्धों का प्रमाण करना, जैसे कि— "मैं अमुक-अमुक उद्योग धन्धों से ही अपने उपभोग और परिभोग की वस्तुओं का उपार्जन करूंगा, दूसरे कार्यों से नहीं", 'कर्म से उपभोग-परिभोग व्रत' समझना चाहिये। इस व्रत की विशेष विधि नीचे लिखी जाती है—

१ उल्लणियाविहि परिमाण—स्नान करने के पश्चात्

जल से भींगे हुए शरीर को पोंछनें के लिए गमछा आदि वस्त्र जाति का प्रमाण निश्चित् करना । 'उल्लणिया-विहि परिमाण' कहलाता है ।

२ दन्तवण-विहि परिमाणम्—दाँत के मल को साफ करने के लिए काष्ठ, दत्तुन आदि का प्रमाण नियत करना । 'दन्तवण-विहि परिमाण' कहलाता है ।

३ फलविहि-परिमाणम्—स्नान करने के पूर्व शिर धोने के लिए आँवले आदि फलों का प्रमाण नियत करना 'फलविहि-परिमाण' कहलाता है ।

४ अब्भंगण-विहि परिमाणम्—स्नान करने के पूर्व शरीर में मर्दन करने योग्य तेल आदि का प्रमाण निश्चित् करना, 'अब्भंगण-विहिपरिमाण' है ।

५ उवट्टणविहि-परिमाणम्—स्नान करने के पूर्व शरीर में लगे हुए तेल को शोषण करने के लिए जो पिट्ठी आदि लगाई जाती है, उसका प्रमाण निश्चित् करना, 'उवट्टणविहि परिमाण' कहलाता है ।

६ मज्जनविहि परिमाणम्—स्नान करने के लिए जल का प्रमाण निश्चित करना, 'मज्जनविधि परिमाण' कहलाता है ।

७ वत्थविहि परिमाणम्—पहनने और ओढ़ने योग्य वस्त्रों का प्रमाण करना, वस्त्रविधि परिमाण कहलाता है ।

८ विलेवणविहिपरिमाणम्—स्नान करनें के पश्चात् अपने शरीर में लेपन करने योग्य चन्दन और केशर आदि

सुगन्धि द्रव्यों का प्रमाण निश्चित करना, 'विलेपन विधि परिमाण' कहलाता है।

९ पुप्फविहिपरिमाणम्—स्नान करने के पश्चात् शरीर में धारण करने योग्य फूलमाला आदि पदार्थों का प्रमाण करना, 'पुप्फविहिपरिमाण' है।

१० आभारणविहि परिमाणम्—अपने शरीर की शोभा के लिए धारण किये जाने वाले गहने और जेवर आदि का प्रमाण करना, 'आभरण-विहि परिमाण' कहलाता है।

११ धूवणविहिपरिमाणम्—वस्त्र और शरीर को सुगन्धित करने के लिए धूप देने योग्य पदार्थों का प्रमाण करना, 'धूवण-विहिपरिमाण' कहलाता है।

१२ × पेज्जविहिपरिमाणम्—भोजन के समय पीने योग्य दूध आदि पदार्थों का प्रमाण करना, 'पेयविधि प्रमाण' कहा जाता है।

१३ भक्खविहिपरिमाणम्—खाने के लिए पक्वान्न आदि का प्रमाण निश्चित् करना, 'भक्खविहि परिमाण' कहलाता है।

१४ ओदणविहिपरिमाणम्—अपनी क्षुधा की निवृत्ति के लिए चांवल आदि के भात आदि पदार्थों का प्रमाण करना, 'ओदनविधि प्रमाण' कहलाता है।

१५ सूवविहिपरिमाणम्—भात आदि में मिला कर खाने योग्य दाल आदि के लिए अन्नों का प्रमाण निश्चित् करना,

× उपासकदशांगसूत्र के आनन्दाधिकार में इस स्थान पर, "भोयणविहि" भद करके उसमें "पेज्जविहि" का परिमाण किया है।

'सूवविहिपरिमाण' कहलाता है।

१६ * विगयविहिपरिमाणम्—अपने खाने के लिए विगय का प्रमाण निश्चित् करना। दूध, दही, घृत, तेल और मीठा ये पांच विगय हैं। इनका प्रमाण करना।

१७ सागविहि परिमाणम्—साग, भाजी का प्रमाण निश्चित् करना। 'शाकविधि प्रमाण' कहलाता है।

१८ माहुरयविहिपरिमाणम्—पके हुए मीठे आम, केला और संतरा आदि फलों का प्रमाण करना। 'माहुरयविहि परि–माण' कहलाता है।

१९ जेमणविहिपरिमाणम्—बड़ा, पकौड़ी आदि खाने के योग्य पदार्थों का प्रमाण करना, 'जेमणविहिपरिमाण' कहलाता है।

२० पाणियविहि परिमाणम्—पीने के लिए पानी का प्रमाण निश्चित् करना, 'पाणियविहि परिमाण' कहलता है।

२१ मुहवास विहिपरिमाणम्—अपने मुख को सुवासित करने के लिए 'पान' और चूर्ण आदि पदार्थों का प्रमाण निश्चित् करना, मुहवासविहिपरिमाण' कहलाता है।

२२ वाहणविहिपरिमाणम्—जिस पर सवार होकर भ्रमण किया जाता है, ऐसा वाहन—गाड़ी, घोड़ा, ऊँट, तांगा, बग्घी, मोटर, रेल आदि का प्रमाण करना।

---

* उपासकदशांग में इस भेद का नाम "घयविहि" से घृत का परिमाण किया गया है। यह व्यक्तिगत है। समूह की अपेक्षा "विगय विहि" पाठ ठीक है।

२३ उवाणहविहि परिमाणम्—पांवों में पहनें जाने वाले जूते. मौजे आदि का प्रमाण करना ।

२४ सयणविहि परिमाणम्—सोने और बैठने के काम में आने वाली शय्या. पलंग आदि का प्रमाण करना ।

२५ सचित्तविहि परिमाणम्-सचित्त–जीव युक्त वस्तु को खाने पीने आदि प्रमाण करना ।

२६ दव्वविहि परिमाणम्—खाने. पीने और पहनने आदि कामों में आने वाली वस्तुओं की गणना करना ।

चतुर्विध आहारों में वर्जनीय वस्तु

अशन में अनन्तकाय आदि, कांदा (प्याज) लशुन आदि जमीकन्द तथा सब प्रकार के मांस वर्जित हैं । एवं पीने योग्य पदार्थों में मांस का रस, चर्बी और मदिरा आदि त्यागने योग्य हैं तथा खाद्य पदार्थों में गूलर, काकोदुम्बर (तिमरु) वट, पीपल और पलाश आदि निन्दित हैं, एवं स्वाद्य पदार्थों में शहद आदि वर्जित हैं ।

भोजन से उपभोग परिभोग परिमाण व्रत के धारण की विधि बतादी गई, अब इसके अतिचार बताये जाते हैं ।

भोजन से उपभोग परिभोग व्रत के पांच अतिचार– १ सचित्ताहार २ सचित्तप्रतिबद्धाहार ३ अपक्वौषधिभक्षण ४ दुष्पक्कौषधि भक्षण ५ तुच्छौषधिभक्षण । ये पांच भोजनतः उपभोग परिभोग व्रत के अतिचार होते हैं ।

सचित्ताहार—सचित्त पदार्थों के भक्षण का त्यागी

श्रावक के द्वारा सचित्त कन्द, मूल, फल, फूल तथा पृथ्विकाय, (न)मक आदि का भक्षण किया जाना-सचित्ताहार नामक अति-(च)ार है। व्रतधारी श्रावक यदि भूल से सचित्त वस्तु का भक्षण (क)र लेवे अथवा सचित्त वस्तु में यदि उसका अतिक्रम, व्यति-(क्र)म और अतिचार हो जाय, तो उसे अतिचार कहना चाहिये, (अ)न्यथा जानबूझकर सचित्त वस्तु का भक्षण करना अनाचार (है), अतिचार नहीं है।

सचित्तप्रतिबद्धाहार–जिस श्रावक ने सचित्त वस्तु का आहार करना त्याग किया है, उसके द्वारा सचित्त वृक्ष में लगी हुई गोंद, तथा सचित्त बीजवाले आम और खजूर आदि फलों का भूल से भक्षण किया जाना अथवा इनमें अतिक्रम, व्यतिक्रम और अतिचार हो जाना–अतिचार है, परन्तु जान बूझकर ऐसा करना अनाचार है, अतिचार नहीं है।

सचित्त प्रतिबद्धाहार की दूसरी व्याख्या–"गिरी या दलको खाजाऊंगा और गुटली को थूंक दूंगा" इस विचार से सचित्त बीज युक्त फल को अपने मुख में डालना 'सचित्तप्रति-बद्धाहार' कहलाता है।

अपक्वौषधि भक्षण–जो औषधि पकी हुई नहीं है (अ)थवा अधपकी है। जैसे भुट्टे, होला आदि, इनका खाना 'अपक्वौषधिभक्षण' कहलाता है। कच्चा चिउड़ा, चावल और यव आदि धानों को भूल से खा जाना अथवा इनमें अतिक्रम, व्यतिक्रम और अतिचार हो जाना–अतिचार है,परंतु

जान बूझकर उक्त कच्ची औषधियों को खाना अतिचार नहीं किन्तु अनाचार है।

दुष्पक्वौषधिभक्षण– अग्नि आदि के द्वारा कुछ पकी हुई और कुछ कच्ची ओषधियों को खाना "दुष्पक्वौषधिभक्षण" कहलाता है। ● यह भी भूल से होने पर अतिचार है। अन्यथा जान बूझकर करना अतिचार नहीं किन्तु अनाचार है।

तुच्छौषधिभक्षण–जिनको खाने से तृप्ति थोड़ी और विराधना अधिक होती है। जैसे–करौंदे, खजूरे, सीताफल, गन्ना आदि, इन औषधियों के खाने से विराधना तो बहुत अधिक होती है, और तृप्ति बिलकुल थोड़ी होती है। इसलिये 'तुच्छौषधिभक्षण' अतिचार है।

भोजन से उपभोग परिभोग परिमाण व्रत और उसके अतिचार बतादिये गये। अब कर्म से उपभोगपरिभोग परिमाण व्रत और उसके अतिचार बताये जाते हैं।

अपने उपभोग और परिभोग को उपार्जन करने के लिये अत्यन्त सावद्य कर्मों का त्याग करना 'कर्म से उपभोगपरिभोगपरिमाण व्रत' कहलाता है। इस व्रतके १५ अतिचार होते हैं। जैसे कि–१ इंगालकम्म, २ वणकम्म, ३ साडीकम्म, ४ भाडीकम्म, ५ फोडीकम्म, ६ दन्तवाणिज्ज, ७ लक्खवाणिज्ज, ८ रसवाणिज्ज, ९ केसवाणिज्ज, १० विसवाणिज्ज, ११ जंतपी

● इसका अर्थ–'बुरी तरह से पकाई हुई' (बैंगन का भुर्ता आदि) और 'पककर बिगड़ी हुई वस्तु' भी करते हैं।

णकम्म, १२ निल्लंछणकम्म, १३ दवग्गिदावणया, १४ सरद-
तलागसोसणया, १५ असईजण पोसणया।

कर्म से उपभोग परिभोग प्रमाण व्रत के ये १५ अति-
चार हैं, ये कर्मादान कहे जाते हैं।

१ इंगाल कर्म–लकड़ी जलाकर कोयला तथा ईंट, कवेलू,
चूना आदि बनाकर बेंचना 'इंगालकम्म' कहलाता है। इस कार्य से छः
कायके जीवों की हिंसा अधिक होती है। इसलिये यह कार्य बुरा है।

२ वन कर्म–जंगल खरीद कर और उसको कटवा कर
लकड़ी बेंचने का धन्धा करना 'वनकर्म' कहलाता है। इस
में हिंसा बहुत अधिक होती है। इसलिए यह कार्य श्रावक के
व्रत दूषित करने वाला है।

३ शाकटिक कर्म–(साड़ीकम्म) भाड़ा लेकर गाड़ी
चलाने का रोजगार करना अथवा गाड़ियें बना कर बेचना-शाकटिक
कर्म, या साड़ीकम्म कहा जाता है। इसमें पशुओं का बन्ध वध
और जीव हिंसा आदि पाप अधिक होता है। इसलिए यह कार्य
श्रावक के व्रत को मलीन करने वाला है।

४ भाडीकम्म–अपने पशु आदि के द्वारा दूसरे का
माल असबाव आदि ढोलाकर भाड़ा कमाना (भाड़ीकर्म)
कहलाता है।

५ फोडीकम्म–हल या कुदाल आदि के द्वारा पृथिवीको
खोदकर मिट्टी पत्थर आदि को बेंचने का धन्धा करना या कृषि
करना 'फोडीकर्म' कहलाता है। अथवा भाड़ा लेकर हल कुदाल

आदि के द्वारा दूसरे की पृथिवी को खोदना फोडीकम्म कहलाता है।

६ दन्तवाणिज्य–दांतों को व हड्डी आदि को खरीदने और बेंचने का व्यापार करना 'दन्तवाणिज्य' कहलाता है।

७ लाक्षावाणिज्य–लाख, चपड़ा खरीदना और बेंचना 'लाक्षावाणिज्य' कहलाता है।

लाख में जीव बहुत अधिक होते हैं। इसलिये यह का श्रावक के व्रत को दूषित करने वाला है।

८ रसवाणिज्य–मद्य तथा शहद आदि खरीदना और बेंचना, 'रसवाणिज्य' कहलाता है। मद्यपान से मरण, कलह और वध आदि अनेकों अनर्थ उत्पन्न होते हैं। इसलिये इसका क्रय विक्रय श्रावकों के व्रत को दूषित करने वाला है।

९ विषवाणिज्य–जिसके खाने से या सूँघने से प्राणियों की मृत्यु हो जाती है। ऐसे सँखिया आदि विषों का क्रय विक्रय करना 'विषवाणिज्य' कहलाता है। इस धन्धे से अनेकों प्राणियों का घात हो जाता है। इसलिये यह कर्म श्रावकों के लिये वर्जित है।

१० केशवाणिज्य–सुन्दर केशवाली दासियों और केश-वाले पशुओं का व्यापार करना तथा चँवर, गजगाव आदि केशों (बालों) का व्यापार करना 'केशवाणिज्य' है। केश के लिये ही चँवरी गाय आदि प्राणियों की हिंसा होती है। अतएव ऐसा व्यापार त्यागने योग्य है।

११ यन्त्रपीड़न कर्म–ईख, तिल, कपास, और धान्य आदि को यन्त्रों के द्वारा पीड़न करने का व्यापार करना, 'यन्त्र पीड़न कर्म' कहलाता है। इस कार्य से भी अनेकों प्राणियों की हिंसा होती है। इसलिए यह कर्म वर्जित है।

१२ निर्लाञ्छन कर्म–बैल, भैंसा, ऊँट और बकरा आदि प्राणियों को बधिया करना, 'निर्लाञ्छन कर्म' कहलाता है।

१३ दवाग्निदापनताकर्म–क्षेत्र की उपजाऊ शक्ति की वृद्धि करने के लिए अथवा पृथ्वी को साफ करने के लिए दावाग्नि लगा देना, 'दावाग्निदापनता' कर्म है। इस कार्य से अनेकों प्राणियों की हिंसा होती है। इसलिए यह कार्य निन्दित है।

१४ सरोद्रहतडागपरिशोषणताकर्म–क्षेत्र बनाकर उसमें धान्य आदि उत्पन्न करने के लिए तालाब और पोखरा आदि का शोषण करना. जलाशयों का पानी निकाल कर खाली करने का धन्धा 'सरोद्रहतडागपरिशोषणता' कर्म है।

१५ असतीजनपोषणताकर्म–दुराचारिणी कुल्टा और वेश्या आदि असती स्त्रियों का पालन करके, भाड़े पर उनके द्वारा व्यभिचार कराने का धन्धा करना. 'असती पोषणता कर्म' है। ये ऊपर लिखे हुए १५ अतिचार कर्मादान कहलाते हैं। इन्हें श्रावक न स्वयं करे, और न दूसरे के द्वारा करावे. और न करने वाले को अच्छा माने। इन कर्मादानों के सम्बन्ध में भगवती सूत्र में यह पाठ आया है कि–"जे इमे समणोवासगा भवंति तेसिं नो कप्पंति इमाइं पणरसकम्मादाणाइं सयं करेत्त-

एवा कारवेत्तएवा अण्णं समणुजाणेत्तएवा" इति। अर्थात् श्रमणोपासक इन कर्मादानों को स्वयं नहीं करे, और दूसरे से नहीं करावे,तथा करने वाले को अच्छा नहीं जाने। ये कर्मादान ज्ञानावरणीय आदि उत्कट कर्म बन्ध के कारण हैं। इसलिए ये कर्मादान कहलाते हैं।

आठवां व्रत

अपने क्षेत्र, गृह, धन, शरीर और कुल परिवार तथा दासी दास आदि के लिये जो कार्य किये जाते हैं, उनमें अनेकों प्राणियों का दण्ड होता है। वह दण्ड प्रयोजनवश किया जाता है। इसलिए उसे "अर्थदण्ड" कहते हैं। परन्तु प्रयोजन न होते हुए भी निरर्थक प्राणियों को दण्ड देना, "अनर्थदण्ड" कहलाता है। जैसे-हर्षित होकर वृक्ष आदि के ऊपर कुठार का प्रहार करना तथा कीड़े, मकोड़े आदि प्राणियों का निरर्थक वध करना या सताना अनर्थदण्ड कहलाता है। इस अनर्थदण्ड को सर्वथा त्याग देना. 'अनर्थदण्डवर्जन व्रत' कहलाता है।

अनर्थदण्ड चार प्रकार का होता है। यथा-

१ अपध्यानाचरित, २ प्रमादाचरित, ३ हिंसाप्रदान, ४ पापकर्मोपदेश।

१ आर्त तथा रौद्र ध्यान के वश में होकर बिना प्रयोजन किसी प्राणी को दण्ड देना. 'अपध्यानाचरित' कहलाता है।

२ प्रयोजन के बिना प्रमादवश बुरी कथा वार्ता आदि

कहना तथा तेल और पानी के पात्रों को बिना ढके रखना 'प्रमादाचरित' कहलाता है।

३ हिंसा के साधन तलवार बर्छी आदि शस्त्रों को विना प्रयोजन किसी को देना 'हिंसाप्रदान' कहलाता है।

४ विना प्रयोजन किसी को पाप कर्म का उपदेश करना, जैसे कि— 'तुम क्षेत्र को जोतो, और बछड़े को दमन करो इत्यादि' पाप कर्मोपदेश कहलाता है। इन चारों ही अनर्थदंडों का त्याग करना. अनर्थदण्डवर्जन व्रत का स्वरूप है।

अनर्थदण्ड वर्जन व्रत के पांच अतिचार

१ कन्दर्प, २ कौकूच्य, ३ मौखर्य्य, ४ संयुक्ताधिकरण, ५ उपभोग-परिभोगातिरेक।

कामवासना की प्रबलता से, मोह के उत्पादक हास्य-युक्त व्यंग मिश्रित शब्द किसी को कहना 'कन्दर्प' कहलाता है।

आंख, नाक, मुख, भृकुटी आदि अपने अंगों को विकृत करके, भांड, विदूषक आदि की तरह हास्य उत्पन्न करना. 'कौकूच्य' कहलाता है।

विना अवसर धृष्टतापूर्वक असत्य भाषण करना. 'मौखर्य्य' है।

पूर्वोक्त कन्दर्प नामक अतिचार, प्रमादाचरित अनर्थ-दण्ड विरमण व्रत का अतिचार है। जिस श्रावक ने प्रमादा-चरित अनर्थदण्ड का त्याग किया है,वह यदि भूल से कामाग्नि

का उत्तेजक हास्यजनक शब्दों का प्रयोग करे अथवा ऐसे शब्द के प्रयोग में उसका अतिक्रम व्यतिक्रम और अतिचार हो जाय तो उसके उक्त व्रत में अतिचार (दोष) उत्पन्न होता है।

४ बिना प्रयोजन लोढ़ी, शिला और ओखली मूसल आदि कूटने तथा पीसने के साधन के हिस्से अलग-अलग रखे हों या असम्पन्न–अपूर्ण हो कि जिससे काम में नहीं आ सकें उन्हें संयुक्त करना, काम में आने योग्य बना कर रखना 'संयुक्ताधिकरण' कहलाता है। यह हिंसा प्रदान विरमण व्रत का अतिचार है। जिस श्रावक ने बिना प्रयोजन के किसी को तलवार और बरछी आदि शस्त्रों को न देने का व्रत धारण किया है, वह यदि बिना प्रयोजन हिंसा के साधन लोढ़ी शिला आदि वस्तुओं को, बेकार को काम लायक बनावे, तो उसके व्रत में दोष उत्पन्न होता है। अतः यह कार्य अतिचार माना जाता है।

उपभोग-परिभोगातिरेक–जितने अन्न जल और वस्त्र आदि से अपना तथा अपने सम्बन्धियों का निर्वाह हो जाय, उससे अधिक अन्न जल आदि का उपयोग करना, 'उपभोग-परिभोगातिरेक' कहलाता है।

नौवां व्रत

शिक्षा व्रत के चार भेद होते हैं। १ सामायिक व्रत २ दिशावकाशिक व्रत ३ पोषधोपवास ४ अतिथिसंविभाग।

१ जो पुरुष राग द्वेष को त्याग कर समस्त जीवों को अपने समान देखता है, उसको नये नये ज्ञान, दर्शन और चारित्र के पर्यायों की प्राप्ति होती है। ज्ञान, दर्शन और चारित्र के पर्याय, चिन्तामणि रत्न और कल्पवृक्ष से भी अधिक जीवों को सुख उत्पन्न करते हैं। अतः समस्त जीवों को आत्म स्वरूप देखने रूप समता की प्राप्ति के लिये श्रावक जो अनुष्ठान या क्रिया करता है, उसको 'सामायिक व्रत' कहते हैं।

समस्त प्राणियों को आत्मतुल्य दर्शन रूप समता की प्राप्ति के लिये सावद्य योगों का त्याग और निरवद्य योगों का सेवन करना आवश्यक है। पाप को उत्पन्न करने वाले कायिक वाचिक और मानसिक व्यापारों को नियत समय तक रोकना 'सावद्ययोगवर्जन' है। और दोष रहित होकर शुद्ध क्रियाओं का सेवन करना 'निरवद्ययोगपरिसेवन' कहलाता है। समता की प्राप्ति के लिये इन दोनों कार्यों की समान रूप से आवश्यकता होती है। इसलिये सावद्य योगों के त्याग के समान ही निरवद्य योगों के अनुष्ठान का ध्यान रखना भी व्रतधारी का कर्तव्य समझना चाहिये।

सामायिक करने की विधि

साधुओं के निकट, अपने घर पर, पौषध शाला में, उद्यानगृह में, अथवा जिस किसी निर्विकार स्थान में व्यापार रहित और स्थिर चित्त होकर श्रावकों को सामायिक व्रत का अनुष्ठान करना चाहिये। जो लोग साधुओं के निकट जाकर

सामायिक करते हैं। वे साधुओं को मन, वचन और काया से नमस्कार करके सामायिक करने की आज्ञा माँगें। साधुओं से आज्ञा लेकर ऐर्यापथिक और कायोत्सर्गादि विधि का आचरण करके "करेमि भंते! सामाइयं; सावज्जं जोगं पच्चक्खामि जाव नियमं पज्जुवासामि, दुविहं तिविहेणं न करेमि, नकारवेमि मणसा वयसा कायसा तस्स भन्ते! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि" इस पाठ को पढ़कर जितने मुहूर्त की इच्छा हो उतने की सामायिक स्वीकार करें। सामायिक स्वीकार करके श्रावक मुनि को वन्दना करे और पांच समिति तथा तीन गुप्तियों की आराधना करते हुए मुनियों के समान व्यवहार करे। वे चलते समय ईर्यासमिति और बोलते समय सावद्य भाषा के त्याग का ध्यान रखें। एवं तृण काष्ठ तथा अन्य किसी वस्तु का प्रयोजन उपस्थित होने पर एषणा-समिति से परीक्षा करके उनका उपयोग करें। तथा वस्त्र और पात्र आदि का ग्रहण एवं निक्षेप आदान और निक्षेप समिति के द्वारा करें। यदि बन सके, तो सामायिक के समय कफ आदि का त्याग न करें, परन्तु कफ त्यागे बिना न बनता हो तो पांचवीं समिति के द्वारा स्थान को यत्न पूर्वक देखकर और प्रमार्जन करके कफ का त्याग करें। सामायिक करता हुआ श्रावक तीन गुप्तियों के द्वारा अपने मन, वचन और काया को स्थिर रखे। तथा स्याध्याय ध्यान और साधुओं के साथ धार्मिक चर्चा करते हुए निर्मल सामायिक पालने की चेष्टा करें। अपने सामायिक को निर्मल बनाने के लिये निम्न लिखित

बातों से बचना आवश्यक है।

जैसे कि कोई कर्जा देने वाला अपने रकम का तकादा करने वाला हो, तो उसके भय से सामायिक करके बैठ जाना अथवा किसी के साथ विश्वासघात करने के लिये अथवा रोगी मनुष्य की सेवा शुश्रूषा के भय से अथवा झगड़ा आदि से बचने के लिये सामायिक का ढोंग रचकर सामायिक के आसन पर बैठ जाना, ये सब बातें वर्जित हैं। इसलिये इन बातों को वर्जित करके श्रावकों को निर्मल सामायिक का पालन करना चाहिये।

सामायिक का स्वरूप

जैन धर्म सामायिक मय है। सभी प्रकार की धर्म क्रियाओं का समावेश सामायिक में होता है। चौथे गुण स्थान से-जहां से जैनत्व का प्रारंभ होता है, चौदहवें गुणस्थान तक की सभी धार्मिक क्रियाएँ सामायिक रूप ही है। शास्त्रकारों ने सामायिक के तीन भेद किये हैं १ सम्यक्त्व सामायिक २ श्रुत सामायिक और ३ चारित्र सामायिक। सम्यक्त्व सामायिक, उपशम, क्षयोपशम और क्षायिक यों तीन प्रकार की है। श्रुत सामायिक भी सूत्र अर्थ और सूत्रार्थ रूप तीन प्रकार की है। देश और सर्व ये दो भेद चारित्र सामायिक के हैं।

सम्यक्त्व सामायिक के भी कारक, रोचक और दीपक

भेद हैं, फिर सम्यक्त्व प्राप्ति के कारणों की अपेक्षा निसर्ग रुचि आदि १० भेद भी होते हैं।

श्रुत सामायिक के भी अक्षर श्रुत, अनक्षर श्रुत आदि भेद हैं। और चारित्र सामायिक में भी उपशम, क्षयोपशम और क्षायिक ऐसे तीन भेद हैं। देशविरत और सर्व विरत चारित्र भी सामायिक के अन्तर्गत है, जिसमें श्रावकों के अणुव्रतादि और साधुओं के सामायिक चारित्र छेदोपस्थापनीय आदि पांच भेद भी चारित्र सामायिक के आगमों में वर्णित हैं।

प्रस्तुत लेख में अन्य सभी प्रकार की सामायिक की उपेक्षा की जाकर श्रावक के नौवें सामायिक व्रत (जो कि श्रमणों के सामायिक चारित्र का ही सीमित रूप है) पर ही विचार किया जाता है।

सामायिक शब्द का अर्थ पूर्वाचार्यों ने इस प्रकार किया है;–

१ "समस्य–रागद्वेषान्तरालवर्तितया मध्यस्थस्य आयः लाभः समाय एव सामायिकम्'।

अर्थात्–रागद्वेष में मध्यस्थ रहना सम है। साधक को समरूप मध्यस्थ भाव का जो लाभ है वह सामायिक है।

२ "सामानाम् मोक्ष साधनं प्रति सामानां सदृशानां सामर्थ्यानां सम्यग्ज्ञान दर्शन चारित्राणामायः लाभः स एव सामायिकः"।

अर्थात्–मोक्ष साधने के लिए समान सामर्थ्यवाले

सम्यग्ज्ञान, दर्शन, चारित्र का जिससे लाभ हो उसे सामायिक कहते हैं।

सामायिक का स्वरूप श्री अनुयोगद्वार सूत्र में इस प्रकार बतलाया है,-

जो समो सव्व भूएसु, तसेसु थावरेसु य।
तस्स सामाइयं होई, इइ केवली भासियं ॥१॥
जस्स सामाणिओ अप्पा, संजमे नियमे तवे।
तस्स सामाइयं होइ, इइ केवलि भासियं ॥२॥

अर्थात्-जो समस्त त्रस और स्थावर प्राणियों पर समभाव रखता हो-राग द्वेष नहीं करता हो और जिसकी आत्मा संयम के मूलगुण और उत्तरगुणात्मक नियम में तथा तप में स्थित होती है, उसे सामायिक होती है-ऐसा श्री केवल ज्ञानी भगवान् ने फरमाया है।

सामायिक का स्वरूप इन दो गाथाओं में स्पष्ट रूप से बतादिया गया है। ये ही गाथाएँ विशेषावश्यक में भी उद्धरित हुई है। वहां इसके आगे लिखा कि-

सावज्जजोग परिक्खणट्ठा, समाइयं केवलिकं पसत्थं।
गिहत्थ धम्मापरमत्तिणच्चा, कुज्जा बुहो आयहियं परत्था।

अर्थात्-सावद्ययोगों से आत्मा की रक्षा करने में केवल सामायिक ही पूर्ण समर्थ है, पवित्र है और गृहस्थ धर्म से श्रेष्ठ है। ऐसा जानकर विद्वान पुरुषों को आत्महितकारी ऐसी

सामायिक करना चाहिये। पुनः–

समता सर्वभूतेषु, सयंमः शुभभावनाः।
आर्तरौद्र परित्यागस्तद्धि सामायिकं व्रतम्॥

सब जीवों पर समभाव रखना, इन्द्रियों को संयम में रखना, हृदय में शुभभावना लाना, आर्त्त रौद्र ध्यान को त्याग कर धर्म ध्यान का चितवन करना–सामायिक व्रत है।

"समभावो सामाइयं, तणकंचण सत्तुमित्त विसउत्ति।
णिरभिस्संगं चित्तं, उचिय पवित्तिप्पहाणं च"॥

घास का तिनका हो या सोना, शत्रु हो या मित्र, सभी विषयों में अपने मन को राग द्वेष रहित–शान्त रखना और उचित धार्मिक प्रवृत्ति करना सामायिक है। क्योंकि समभाव ही सामायिक है। पं० बनारसीदासजी ने भी कहा है कि–

"जो अरि मित्र समान विचारें, आरत रुद्र कुध्यान निवारे।
संजम सहित भावना भावे, सो सामायिकवंत कहावे॥

सामायिक में रहा हुआ श्रावक साधु के समान होता है। यह बताने के लिये विशेषावश्यक की निम्न गाथा अवलोकनीय है।

सामाइयम्मि उ कए समणोइव सावओ हवइजम्हा।
एएण कारणेणं, बहुसो सामाइयं कुज्जा॥

परमार्थ दृष्टि से सम्यग् दृष्टि जीव का साध्य एक मोक्ष तत्व है, और साधन संवर और निर्जरा है। श्रीमद् भगवती सूत्रानुसार सामायिक ही आत्मा है और आत्मा ही सामायिक है। यह पूर्ण विशुद्ध सत्य है। आत्मा को छोड़कर सामायिक रह ही नहीं सकती और पूर्ण शुद्ध आत्मा भी सामायिक को नहीं छोड़ सकती। सम्यग्दृष्टि को अपनी आत्मा सामायिकमय बनना है। अतएव उसे अपनी आत्मा में समभाव को स्थान देकर उसे ज्ञान दर्शनादि द्वारा उज्ज्वल करने रूप सामायिक करनी चाहिये। सामायिक के द्रव्य और भाव ऐसे दो भेद भी हैं।

सांसारिक प्रपञ्चों को छोड़कर एकान्त शान्त और पवित्र स्थान में शुद्ध आसन, प्रमार्जनी, मुखवस्त्रिका और प्रशस्त भावों के कारण धर्मशास्त्र पुस्तक आदि लेकर विधि पूर्वक सामायिक ग्रहण करना–द्रव्य सामायिक है। बिना उपयोग के सामायिक करना भी द्रव्य सामायिक है।

आर्त रौद्र ध्यान का त्याग कर धर्मध्यान ध्याना, सांसारिक विचारों को छोड़कर मोक्ष की ओर बढ़ाने वाली अनित्यादि बारह भावना भाना, जिनागमों का स्वाध्याय करना, भाव सामायिक है। प्रशस्त और अप्रशस्त भावों को त्याग कर समभाव (मध्यस्थ भाव)पूर्वक अपनी आत्मा में स्थिर होना, निश्चय सामायिक है। यह निश्चय सामायिक ही मोक्ष है। और इसीका उल्लेख श्रीभगवती सूत्र में हुआ है कि "आत्मा

स्वयं सामायिक है।" इस प्रत्यक्ष मोक्षरूप सामायिक को साधने के लिये ही भाव सामायिक है और भाव सामायिक के लिये ही द्रव्य सामायिक है। यदि अधिक नहीं हो सके तो कम से कम एक मुहूर्त की सामायिक तो प्रत्येक जैनी को अवश्य ही करनी चाहिये और भावों की शुद्धि अधिक से अधिक हो, इसका ध्यान रखकर अभ्यास बढ़ाते रहना चाहिये। यदि हम सावधानी पूर्वक अभ्यास बढ़ाते गये, तो भावसामायिक प्राप्त कर सकेंगे और उसके सहारे से स्वयं सामायिक मय हो सकेंगे।

'रत्नकरण्ड श्रावकाचार' में स्वामी समन्तभद्राचार्य लिखते हैं कि–

आसमयमुक्ति मुक्तं पञ्चाघानामशेष भावेन।
सर्वत्र च सामायिकाः सामायिकं नाम शंसन्ति॥

अर्थात्–नियत समय पर्यन्त पांचों पापों का मन, वचन, काया और कृत कारित अनुमोदना करके सर्वत्र त्याग करने को गणधरादि शास्त्रज्ञ सामायिक कहते हैं।९७।

एकान्ते सामयिकं निर्व्याक्षेपे वनेषु वास्तुषु च।
चैत्यालयेषु वापि परिचेतव्यं प्रसन्नधिया॥९९॥

अर्थात्–विक्षेप–उपद्रव रहित एकान्त स्थान में, वन में, घर में अथवा चैत्यालयादि में प्रसन्न चित्त से सामायिक धारण करना चाहिये।

व्यापारवैमनस्याद्विनिवृत्यामन्तरात्मविनिवृत्या ।
सामायिकं बध्नीयादुपवासे चैक भुक्तेवा ।१००।

अर्थात्–कायादि चेष्टा और मनोव्यग्रता से निवृत्त होकर मन के विकल्पों की विशेष निवृति करके उपवास या एकासन के दिन सामायिक करे ।

सामायिकं प्रतिदिवसं यथावदप्यनलसेन चेतव्यं ।
व्रतपञ्चकपरिपूरणकारणमवधानयुक्तेन ।१०१।

अर्थात्–सामायिक पांच महाव्रतों के परिपूर्ण करनें का कारण है, इसलिये आलस्य रहित होकर एकाग्र चित्त से नियम पूर्वक प्रतिदिन सामायिक करना चाहियें ।

सामायिके सारम्भाः परिग्रहा नैव ससंति सर्वेऽपि ।
चेलोपसृष्ट मुनिरिव गृही तदा यति यतिभावं ।१०२।

अर्थात्–सामायिक में आरम्भ सहित सभी प्रकार के परिग्रह नहीं होते । इसलिये सामायिक के समय गृहस्थ वस्त्र सहित होते हुए भी मुनि की तरह मुनिपन को प्राप्त होता है ।

शीतोष्णदंशमशकपरीषहमुपसर्गमपि च मौनधराः ।
सामायिकं प्रतिपन्ना अधिकुर्वीरन्न चलयोगाः ।१०३।

अर्थात्–सामायिक करने वाला मौन धारण कर अचल योग होकर शीतोष्णादि परिषह और उपसर्ग को सहन करता है ।

अशरणमशुभमनित्यं, दुःखमनात्मानमावसामि भवम्।
मोक्षस्तद्विपरितात्मेति ध्यायन्तु सामयिके ।१०४।

अर्थात्—मैं अशरण रूप हूं। अशुभ, अनित्य, दुःखमय और पर रूप संसार में निवास करता हूं। मोक्ष इससे विपरीत है। सामायिक में इस प्रकार ध्यान करना चाहिये।

इस प्रकार रत्नकरण्ड श्रावकाचार में सामायिक का स्वरूप और विधि बताई गई। पाठक देख सकेंगे कि इसमें सिवाय धर्माराधना के कहीं भी लोकाराधना—संसार सेवा अथवा अन्नादि वस्तुओं के दान को अवकाश ही नहीं है। जैन धर्म को मानने वाली प्राचीन अर्वाचीन किसी भी सम्प्रदाय के शास्त्र अथवा मान्यता से इसका समर्थन नहीं होता है। स्वामी श्री कुंथुसागरजी म० अपनी 'बोधामृतसार' में सामायिक का स्वरूप इस प्रकार बतलाते हैं—

मनो वचश्च कार्यं च सम्यग्निरुध्य यत्नतः
प्रियाऽप्रिये पदार्थे च स्वात्मबाह्ये विनाशिनि॥
त्रिकाले समतां धृत्वा, कर्तव्यं स्वात्मचिंतनं।
जपोऽनाहतमन्त्रस्य ज्ञेयं सामायिकं व्रतम् ।४६२।

अर्थात्—मन, वचन और काया का भली प्रकार से निरोध कर (सांसारिक प्रवृत्ति से खींच कर) और आत्मा से सर्वथा भिन्न—जिनका अवश्य ही नाश होता है—ऐसे प्रिय अथवा अप्रिय पदार्थों में समता धारण कर तीनों काल में अपने आत्मा

का चिन्तन करना चाहिये, अथवा अनाहत मंत्र (नमस्कारमंत्र) का जप करना चाहिये। इसे सामायिक व्रत कहते हैं।

प्रश्न–नैगमनय से सामायिक का स्वरूप बताइये?

उत्तर–नैगमनय की अपेक्षा सभी प्राणी अंशतः संवर भाव में रहते हैं, क्योंकि संवरवान् आत्मा में कर्मों का उत्कृष्ट स्थिति का बन्ध नहीं होता, उसी प्रकार निगोदिये और एकेन्द्रिय जीवों के भी जघन्य स्थिति का बन्ध होता है। वे मन वचन से किसी जीव की हिंसा और मृषादि पाप नहीं करते। यह संवर भाव ही सामायिक है। इसलिए नैगमनयानुसार समस्त जीव सदाकाल सामायिक में माने जाते हैं।

प्रत्येक नय दूसरे नयों की उपेक्षा करके अपना अभिप्राय व्यक्त करता है। नैगमनय की उपरोक्त मान्यता में सम्यक्त्वी, मिथ्यात्वी, भव्य, अभव्य, विरत, अविरत का भेद नहीं है। यह असंख्य दुर्गणों की उपेक्षा कर एक सद्गुण और वह भी किसी भी समय किसी भी रूप में रहा हो–अपेक्षित करके अपना सिद्धान्त व्यक्त कर देता है, यह नय अमर्याद है। वह धर्मात्मा को पापी और पापी को धर्मात्मा कह सकता है।

प्रश्न–संग्रहनय के मत से सामायिक किसे कहते हैं?

उत्तर–यह नय सत्ता को ग्रहण करता है। सभी जीव अपनी सत्ता से अपने पारिणामिक भाव में रहते हैं। यही पारिणामिक भाव संवर और सामायिक रूप माना जा सकता है। निश्चय नयानुसार किसी भी जीव को कर्म का बन्धन नहीं होता। कर्म पुद्गल अपने सजातीय पुद्गल से ही मिलते हैं,

जीव से नहीं। कर्म बन्धन की मान्यता व्यवहारनयकी अपेक्षा से है। इसलिये संग्रहनय की अपेक्षा सभी जीव अपने पारिणामिक भाव के कारण सामायिक में है।

प्रश्न—व्यवहारनय से सामायिक का स्वरूप कैसा है?

उत्तर—जो व्यक्ति एकान्त और शान्त स्थान पर जाकर प्रमार्जनी और मुखवस्त्रिकादि सहित होकर इर्यापिथिकी आदि क्रिया करके "करेमिभंते" पाठ से दो घड़ी से लगाकर जीवन भर तक निःसंग होकर संवर भाव में रहे। स्वाध्याय ध्यानादि क्रिया करे, उसे सामायिकवंत कहता है। सामायिक के योग्य बाह्य आचरण देख कर सामायिक मानने वाला व्यवहारनय है।

प्रश्न—ऋजुसूत्रनयानुसार सामायिक का अर्थ क्या है?

उत्तर—इस नय वाला भाव को देखता है। कोई जीव नरक निगोद के दुःख से भयभीत होकर इनसे बचने और सुख प्राप्त करने के लिये जगत से उदासीन रहे, त्याग वैराग्यमय भावना रक्खे, उस समय वह जीव ऋजुसूत्रनय के मत से सामायिक वाला माना जाता है। ऐसे भाव यथाप्रवृत्तिकरण रूप प्रथम गुणस्थान में भी हो सकते हैं।

प्रश्न—शब्दनय के अभिप्राय से सामायिक कैसी है?

उत्तर—सामायिक शब्द के चार अर्थ हैं—१ सम्यक्त्व सामायिक २ श्रुत सामायिक ३ देशविरत सामायिक और ४ सर्वविरत सामायिक, इन चार भेद से शब्दनयानुसार

सामायिक होती है। शब्द नय वाला शब्द के अनुसार परिणति को ग्रहण करता है।

प्रश्न—समभिरूढ़नय का सामायिक के विषय में क्या मत है ?

उत्तर—यह नय श्रेणि भाव को ग्रहण करता है। जो महान् आत्माएँ शुक्ल ध्यान, रूपातीत परिणाम रूप क्षपकश्रेणी पर आरूढ़ होकर घातिकर्मों का नाश करके अनंत चतुष्टय आत्म ज्योति को प्रकट करते हैं, ऐसे केवलज्ञानी भगवान् को सामायिक मानता है।

प्रश्न—एवंभूतनय वाला सामायिक का स्वरूप कैसा बतलाता है ?

इस मत वाला पूर्ण विशुद्ध अवस्था को ही ग्रहण करता है। जिसके सभी कर्म नष्ट हो गये हों, जो सिद्ध क्षेत्र में सादि अनन्त भंग से रहते हों, ऐसे सिद्ध भगवान् को यथा-ख्यात चारित्र रूप सर्व संवरमय सामायिक मानता है। यही सामायिक वास्तविक एवं सम्पूर्ण सामायिक है।

प्रथम और द्वितीय नय वाला तो सभी प्राणियों में सामायिक मान लेता है। इनकी मान्यता में आत्मा की विशुद्धि अथवा सदाचरण होना अनिवार्य नहीं है। ये नीच कर्म करने वालों और महान् पापियों में भी सामायिक मान सकते हैं। प्रत्यक्ष दिखाई देने वाले असंख्य दुर्गुणों की उपेक्षा करके उन दुर्गुणों से ढके हुए एकाध प्रच्छन्न और अविकसित गुण को

ग्रहण करके उसमें सामायिक मान सकते हैं। इन दोनों से व्यवहार नय श्रेष्ठ है। वह सदाचार-सामायिक के अनुसार की जाती हुई क्रिया को देखकर उसमें सामायिक मानता है। यद्यपि व्यवहार सामायिक करने वाला अन्तरंग में मिथ्यादृष्टि, असंयत, अविरत और अभव्य भी हो सकता है, तथापि उसकी बाह्य क्रिया तो सम्यग्दृष्टि, संयत, विरत और भव्य प्राणी के अनुसार ही होती है। इस नय में बाह्य सदाचार-सामायिक की विधि का पालना आवश्यक है। ऋजुसूत्रनय बाह्य आचरण की उपेक्षा करके अन्तरंग त्याग वैराग्य रूप परिणति को ही ग्रहण करता है। इन चार नयों के अनुसार सामायिक करने वाले सम्यग्दृष्टि भी हो सकते हैं और मिथ्यादृष्टि भी। किन्तु बाद के तीन नयानुसार सामायिक करने वाले तो सम्यग्दृष्टि अवश्य होते हैं। शब्दनयानुसार वही सामायिकवंत होगा जो सम्यग् दृष्टि हो, श्रुतज्ञान में मग्न हो, देश अथवा सर्व सामायिक का पालन-अनुभव करने वाला हो। समभिरूढ़ नय वाला ज्ञान दर्शन चारित्र में आरूढ़ होकर जिसने रागादि दोषों का नाश कर दिया, ऐसे सम्पूर्ण समभाव में रमण करने वाले सयोगीकेवली में सामायिक मानता है। एवंभूत नय वाला योगास्रव का त्याग कर सिद्ध हुए ऐसे पूर्ण संवरवान् मुक्तात्मा में सामायिक मानता है। वास्तव में संपूर्ण सामायिक तो यही है। यह सामायिक का परम विशुद्ध स्वरूप है। नैगम नय वाला जिस अव्यक्त और अनन्त आवरणों में छुपे हुये आंशिक गुण को लक्ष करके सामायिक

मानता था, वह एवंभूत नय में आवरण रहित, दोषों से सर्वथा रहित, परम पूर्ण शुद्ध आत्मा को सामायिक मानता है। नैगमादि नय में दोषों का सद्भाव है, किन्तु अंतिम नय में इनका सर्वथा अभाव है। हमें इस चरम नय को लक्ष में रखकर इसे प्राप्त करने के लिये ही सामायिक करनी चाहिये और व्यवहार नय से प्रारम्भ कर उत्तरोत्तर विकास करने का प्रयत्न करना चाहिये। यदि हमने ऐसा प्रयत्न किया, तो हम भी कभी न कभी चरम स्वरूप को निःसंदेह प्राप्त कर सकेंगे।

सफल सामायिक

"श्रावकजी सामायिक पारली !"

"नहीं गुरु देव ! अभी ही ली है। दस मिनट हुए होंगे।"

"आप क्या चर्चा कर रहे हैं ? धर्म चर्चा तो नहीं लगती।"

"स्वामिन् ! धर्म चर्चा ही तो है। कहीं सामायिक में भी संसार कथा हो सकती है ? हम तो वर्षों से सामायिक करते हैं। क्या इतनी बात भी हम नहीं समझते"—सेठ भोलारामजी ने मुनिराज श्री विमलचन्द्रजी से कहा।

"अच्छा बताइये, आप किस तत्त्व की चर्चा कर रहे हैं"—मुनिराज ने सेठजी की भूल सुधारने के उद्देश्य से पूछा।

"यही कि....सम्प्रदाय के श्रावक कितने लुच्चे, झूठे और प्रपञ्ची हैं। उनके साधु.......

"बस बस, सुनली श्रावकजी आपकी धर्म चर्चा,"-बीच ही में रोककर मुनिराज ने कहा-"इस कर्म चर्चा को आप धर्म-चर्चा मानते हैं, यह गम्भीर भूल है। आप जैसे धोरी श्रावक भी धर्म कर्म का भेद नहीं समझकर, सामायिक जैसी उच्च क्रिया को दूषित कर, वास्तविक फल से वञ्चित रहते हैं, यह खटकने जैसी बात है। पहले आपको धर्म कर्म का भेद समझ लेना चाहिये।"

भोलारामजी-"महाराज! ये बातें हमारे घर धन्धे की नहीं-व्यापार अथवा बेटा बेटी के शादी विवाह की नहीं-धर्म की ही बातें तो हैं।"

मुनि०-सेठजी! ये बातें व्यापार या आर्थिक लाभ की नहीं होने पर भी धर्म चर्चा नहीं है। आपके भीतर रही हुई ईर्षा, द्वेष, अभिमान से इन बातों का सम्बन्ध है। जिन बातों से कषायें बढ़ें, रागद्वेष में आत्मा की परिणति हो, वे सब अशुभ कर्म बन्धन बढ़ाने वाली हैं। निन्दा विकथा करना धर्म नहीं हो सकता, भले ही वे सम्प्रदाय से सम्बन्ध रखती हों या दूसरों से।

"महात्मन्! इस सामायिक में क्या करें? समय की सार्थकता कैसे हो सकती है?"-सेठ भोलारामजी ने जिज्ञासा प्रकट की।

"देवानुप्रिय! जिससे आत्मा पवित्र हो, कषायों की

परिणति हटे, संवर निर्जरा बढ़े, वीतराग प्रभु की आज्ञा का पालन हो, ऐसी प्रवृत्ति करनी चाहिए। सामायिक में अपने दोषों की आलोचना, प्रतिक्रमण, अनित्य अशरणादि भावनाएँ, स्वाध्याय, तत्त्व सम्बन्धी पृच्छा, अनुप्रेक्षा, धर्मकथा, ध्यान, कायुत्सर्ग, वन्दना, प्रभु की स्तुति, चारित्र और तप त्याग बढ़ाने से सामायिक सफल और निर्दोष हो सकती है। ऐसी सामायिक ही आत्मा को उन्नत बना सकती है....कुछ रुकने के बाद फिर मुनिराज ने कहा—

"श्रावकजी! रागद्वेष और निन्दा विकथा तो आप दिनरात करते रहते हैं। यदि सामायिक में भी आपने यही किया, तो आपकी सामायिक सार्थक नहीं होगी। यदि आप सावधानी रखकर सामायिक में रागद्वेष घटानें की प्रवृत्ति करेंगे, तो आपका अभ्यास बढ़ता रहेगा और क्रमशः आपकी कषायें शान्त होती रहेगी। इसका असर संसार व्यवहार पर भी पड़ेगा और वहां भी आप अशुभ कर्म बन्धनों से बहुत कुछ बचते रहेंगे।

सामायिक उसी को होती है जो श्री अनुयोगद्वार सूत्र के अनुसार करता है। सूत्र में लिखा कि—

जस्स सामाणिउ अप्पा, संजमे नियमे तवे।
तस्स सामाइयं होइ, इइ केवलीभासियं ॥१॥
जो समो सव्व भूएसु, तसेसु थावरेसु य।
तस्स सामाइयं होई, इइ केवलीभासियं ॥२॥

अर्थात्–जो आत्मा को शान्त रखकर संयम नियम और तप में स्थापन करता है, त्रस और स्थावर सभी प्राणियों पर समभाव रखता है, उसीको सामायिक होती है-ऐसा केवलज्ञानी भगवान् ने फरमाया है।

सामायिक करने वालों को पहले निम्न बत्तीस दोषों को समझ लेना चाहिये, जिससे निर्दोष सामायिक बन सके।

मन के १० दोष–

१ अविवेकी होना २ मान बड़ाई के लिये सामायिक करना ३ धन, कुटुम्ब आदि लाभ की इच्छा से ४ सामायिक करके गर्व करना ५ भय से ६ सामायिक करके उसके फल को भौतिक सुखों के लिए बेच देना ७ फल में सन्देह करना ८ रोष अथवा क्रोध पूर्वक सामायिक ९ अविनय पूर्वक सामायिक करना और १० अबहुमान–भक्ति रहित–बेगार की तरह सामायिक करना।

वचन के १० दोष–

१ सामायिक में कुवचन बोलना २ बिना विचारे सहसा बोलना ३ स्वच्छन्द होकर बोलना ४ शिघ्रता करने के लिए संक्षेप में पाठ बोलना ५ कलह उत्पन्न हो ऐसे वचन बोलना ६ स्त्री आदि विकथा करना ७ हँसी मजाक करना ८ अशुद्ध बोलना ९ अपेक्षा छोड़कर बोलना और १० स्पष्ट नहीं बोलकर गुनगुनाते हुए बोलना।

या के १२ दोष–

१ कुआसन से बैठे–जिससे अभिमान तथा अविनय व्यक्त २ अस्थिर आसन से बैठे, ३ चल दृष्टि–इधर उधर ाना, ४ सावद्य क्रिया करना, ५ टेका लेकर बैठना, ६ हाथ व को बिना कारण से संकोचना या फैलाना, ७ आलस्य रना, अंगड़ाई लेना, ८ हाथ पाँव की अंगुलियों को मोड़कर टकाना, ९ शरीर का मैल उतारना, १० शोक ग्रस्त होकर ठना, ११ निद्रा लेना और १२ दूसरों से वैयावृत्य करवाना।

इस प्रकार मन, वचन और काया के दोषों को टाल– र सामायिक करना ही उत्तम है। ऐसी ही सामायिक सफल ोती है।

सामायिक करने का मुख्य उद्देश्य, सांसारिक सभी पंचों को छोड़कर आत्मा को विशुद्ध बनाना और कर्म से हित होकर, सिद्ध स्वरूप पाना है। यह तभी सम्भव हो कता है जबकि संसार की ओर से दृष्टि फिरा कर ज्ञान, र्शन, चारित्र और तप में ही मन लगाया जाय। बिना उद्देश्य रक्खे और बिना उपयोग रक्खे क्रिया करने से वास्तविक फल नहीं मिलता।

सेठजी! पुणिया श्रावक की सामायिक कैसी थी? या वैसी सामायिक करने की इच्छा है? यदि हो तो आज से ही सावधान हो जाओ। यदि सामायिक की एक मिनट भी सुधरी, तो ४८ मुहूर्त में एक मुहूर्त की सामायिक जितना काल ... सामायिक का हो जायगा। अभ्यास बढ़ते बढ़ते विशुद्धि

भी बढ़ेगी,ज्ञान और चारित्र में अभिवृद्धि होगी।

"गुरु देव! आपने मुझ अधम पर महान् उपकार किया, मैं अन्धा था। सामायिक ले कर घण्टों निन्दा विकथा किया करता। आपने मुझे सत्य मार्ग बताया। सत्य है, सद्गुरु बिना ज्ञान कहां से आवे। मेरी इतने दिनों की क्रिया व्यर्थ ही गई।"

"नहीं सर्वथा व्यर्थ तो नहीं कही जाती। उसी क्रिया के प्रताप से तो आज सत्य पा सके। यदि आप द्रव्य सामायिक भी नहीं करते, तो यह प्रसंग आता भी कैसे? कुछ अंशों में काया का संवरण उसमें भी होता है। निमित्त पाकर उस दर्जे से आगे भी बढ़ सकते हैं। निमित्त को भी कारण मानने वाले, द्रव्य सामायिक का निषेध नहीं करते। हमें यही समझना चाहिए कि वह स्थिति वास्तविकता से दूर है। द्रव्य से भाव में आवेंगे, तभी सफल मनोरथ होंगे। अब आप गत दोषों की आलोचना करके प्रायश्चित्त ले लें और आगे के लिये सावधान हो जावें"।

"प्रभो! ऐसा ही करूंगा। आज की सामायिक का समय सार्थक हुआ। अब कल नई दिशा में प्रवेश करूंगा"।

सामायिक में अनुकम्पा दान

शंका–क्या अनुकम्पा दान सामायिक का अंग नहीं है?

समाधान–हां, अनुकम्पा दान सामायिक का अंग नहीं है। सावद्य योगों और सांसारिक सम्बन्धों से निवृत्त होकर

मोक्ष की ओर प्रगति कराने वाले निरवद्य योगों की प्रवृत्ति जैसे-स्वाध्याय, ध्यान, कायोत्सर्ग, आलोचना, प्रतिक्रमण, प्रार्थना, स्मरण ये ही सामायिक के अंग हैं। इन्हीं से मोक्ष मार्ग की आराधना होती है और ये ही संवर निर्जरा के कारण हैं। अनुकम्पा दान संवर निर्जरा का कारण नहीं है। इसलिये यह सामायिक का अंग नहीं हो सकता। यह पुण्य बंध का कारण अवश्य है।

नौ तत्वों में से धर्मीजनों के लिये साध्य एक मात्र मोक्ष तत्व है और इस साध्य के साधन हैं संवर और निर्जरा। संवर निर्जरा के साधक के लिये पुण्य साधना उपादेय नहीं है। इसलिये आद्यवर्य श्री विनयचन्दजी ने तीर्थङ्कर श्री नमिनाथजी की प्रार्थना में कहा कि—

'पुण्य, पाप, आस्रव परिहरिये, हेय पदारथ मानो रे।'

तथा—

'हेया बन्धासव पुन्नपावा, जीवाजीवाय हुंति विन्नेया।
संवरनिज्जरमुक्खो, तिन्नि वि एओ उवावेया॥'

जो बुद्धिमान मोक्ष प्राप्ति को अपना ध्येय बनाले, वह संवर और निर्जरा की ही प्रवृत्ति को उपादेय मानता है। "मोक्षहेतुश्च संवरः" सामायिक मोक्ष पुरुषार्थ को सिद्ध करने के लिये की जाती है। अतः ज्ञानादि चतुष्टय में अपने योगों को जोड़ना ही उचित है। ये ही सामायिक के अंग हैं। अनुकम्पा दान सामायिक का अंग नहीं हो सकता।

शंका—क्या अनुकम्पा दान सामायिक और पर्युपासना के विरुद्ध है।

समाधान—अनुकम्पादान सामायिक से नीची श्रेणी की क्रिया है। और सामायिक वाले को सामायिक से नीचे गिराने वाली है।

'पर्युपासना' का व्यवहार शास्त्रों में देव और गुरु जैसे विशिष्ट उपासनीय पद की सेवा में हुआ है, गुणहीन प्राणियों को अनुकम्पा लाकर दान देने में नहीं। अतएव इसे पर्युपासना नहीं मानी जाती।

'पर्युपासना' जोकि पूजनीय की उपासना से सम्बन्ध रखती है, इसका उल्लेख शास्त्रों में खुले रूप से इस प्रकार हुआ है,—

"तिविहाए पज्जुवासणाए पज्जुवासइ तंजहा—काइयाए वाइयाए माणसियाए.......तिव्वधम्माणुरागरत्ताए पज्जुवासई"। उववाई सूत्र ३२

"तं महाफलं खलु भो देवाणुप्पिया! तहारूवाणं अरहंताणं.......पज्जुवासणाए"। उववाई सुत्र २७

यही पाठ स्थिवर भगवंतो (मुनिराजों) की पर्युपासना के सम्बन्ध में भग० श० २ उ० ५ में है।

"कल्लाणं मंगलं देवयं चेइयं पज्जुवासामि" पाठ तो अनेक स्थानों पर है।

"तहारूवाणं भंते ! समणं वा महाणं वा पज्जुवास-माणस्स किं फला पज्जुवासणा" ? (भग० २-५)

अनुकम्पा लाकर दान देने में पर्युपासना का व्यवहार किसी सूत्र में नहीं है।

शंका-भूखे का आर्त, रौद्र ध्यान रूप आस्रव को दूर कर धर्म ध्यान, शुक्ल ध्यान रूप संयम में सहायक बनने के लिये, उसकी क्षुधा निवृत्ति प्रासुक एषणीय आहार पानी देकर की जाय, तो इससे विरति रूप संवर धर्म में कैसे बाधा पड़ सकती है ?

समाधान-यह कल्पना ही क्लिष्ट कल्पना है कि भूखा प्यासा व्यक्ति भूख प्यास मिटने पर धर्म शुक्ल ध्यान अथवा संवर सामायिक या संयम में लगेगा। यदि वह संवरादि धर्म क्रिया का श्रद्धालु है तो जैनी है ही। जो जैनी होगा, वह सामायिक वाले से आहार मांगेगा ही नहीं। सामायिक ऐसी चीज नहीं कि दुकान में बैठकर भी की जाय और रसोड़े में बैठ कर भी। द्रव्य शुद्धि की व्याख्या में सामायिक के लिये एकान्त शान्त स्थान होने की विधि स्वीकार की गई है। वहां कौन याचक आवेगा ? वहां आकर सामायिकवाले से मांगने वाला धर्म ध्यान अथवा संवर का अधिकारी तो नहीं हो सकता। यदि अत्यन्त विकट परिस्थिति के कारण कभी ऐसा हो भी, तो वह आपवादिक स्थिति है। आपवादिक स्थिति को लेकर सामान्य आचार नहीं हो सकता।

यह ध्यान में रखना चाहिये कि श्रावक की सामायिक साधु के सामायिक चारित्र का ही भेद है। जब साधु ही अविरत को अनुकम्पादान नहीं कर सकता, शारीरिक वैयावृत्य नहीं कर सकता, तो सामायिक वाला श्रावक कैसे कर सके?

सभी प्राणी आर्त रौद्र ध्यान छोड़कर धर्म शुक्लध्यान में लगें, संयमी बने, यह तो सभी धर्म प्रेमी चाहते हैं, किन्तु दूसरे को धर्मी बनाने के लिये अपनी साधना छोड़ देने वाले समझदार नहीं होते। वे स्वस्थान से च्युत हो जाते हैं।

एक आदमी स्वयं संयम पालकर मोक्ष साधना करता है और दूसरा अपनी साधना छोड़ कर हजारों को संयमी बना कर मोक्षमार्ग में जोड़ता है। दोनों में से सिद्धि साधककी ही होगी। भले ही हजारों लाखों को मोक्षमार्ग में लगा दिया जाय, विना साधना के वह मुक्त नहीं हो सकता। इसीलिए कहा है कि "अभव्य से प्रतिबोध पाकर अनेकों मोक्षमार्ग पा सकते हैं, किन्तु वह अभव्य तो कोरा ही रहता है। पुण्य बांध कर स्वर्ग भले ही मिलाले, किन्तु मोक्ष तो बिना स्वयं की साधना के कदापि नहीं मिल सकता। करने और कराने में यही महान अन्तर है। इसी प्रकार जो अपनी सामायिक छोड़कर की भूख मिटाने जाता है, वह अपनी सामायिक और से गिरता है। उसकी दृष्टि, पर-संसारी की ओर हो

एवं साधक श्रमण निर्ग्रन्थों को आहारादि दान द्वारा प्रतिलाभना तो व्रत में है। किन्तु अनुकम्पा दान व्रत में नहीं है। फिर भी यह आठवें व्रत तक दिया जा सकता है। सामायिक व्रत में नहीं दिया जा सकता, पौषध में भी नहीं। पौषध में दान नहीं देने का उल्लेख "सेन प्रश्न" उल्लास ३ प्रश्न ७८१ में है। वहां प्रश्न किया गया कि "पौषध में रहे हुए श्रावक को, याचक को दान देना कल्पता है या नहीं?" उत्तर में श्री विजयसेन सूरिजी ने बताया कि—"मुख्य रीति से याचक को दान नहीं कल्पता है। कारण विशेष में दे, तो निषेध नहीं माना गया।" इस पर विचार करने वाला सहज ही समझ सकता है कि सामायिक और पौषध, धर्म क्रिया है। मोक्ष के उद्देश्य से की जाती है। इसलिये इसमें पुण्य क्रिया को स्थान नहीं दिया जाता।

उपर्युक्त प्रमाण में यह शंका उठ सकती है कि "पौषध में तो खुद के आहारादि का त्याग होता है, फिर वह दूसरों को कैसे खिलावे?" यह शंका व्यर्थ है। क्योंकि उपवासी मुनि भी अपने गुरु आदि साधुओं को आहार पानी लाकर देते हैं। उपवास में स्वतः के खाने का त्याग रहता है, दूसरों को खिलाने का नहीं।

अनुकम्पादान प्रथम गुणस्थानी भी कर सकता है और जैनी भी। अनुकम्पा सम्यक्त्व का लक्षण है और ऐसा दान आठवें व्रत तक दिया जा सकता है—सामायिक में नहीं।

सामायिक—सम मध्यस्थ—भावपूर्वक ज्ञान, दर्शन,

यह ध्यान में रखना चाहिये कि श्रावक की सामायिक साधु के सामायिक चारित्र का ही भेद है। जब साधु ही अविरत को अनुकम्पादान नहीं कर सकता, शारीरिक वैयावृत्य नहीं कर सकता, तो सामायिक वाला श्रावक कैसे कर सके?

सभी प्राणी आर्त रौद्र ध्यान छोड़कर धर्म शुक्लध्यान में लगें, संयमी बने, यह तो सभी धर्म प्रेमी चाहते हैं, किन्तु दूसरे को धर्मी बनाने के लिये अपनी साधना छोड़ देने वाले समझदार नहीं होते। वे स्वस्थान से च्युत हो जाते हैं।

एक आदमी स्वयं संयम पालकर मोक्ष साधना करता है और दूसरा अपनी साधना छोड़ कर हजारों को संयमी बना कर मोक्षमार्ग में जोड़ता है। दोनों में से सिद्धि साधकको ही होगी। भले ही हजारों लाखों को मोक्षमार्ग में लगा दिया जाय, बिना साधना के वह मुक्त नहीं हो सकता। इसीलिए कहा है कि "अभव्य से प्रतिबोध पाकर अनेकों मोक्षमार्ग पा सकते हैं, किन्तु वह अभव्य तो कोरा ही रहता है। पुण्य बांध कर स्वर्ग भले ही मिलाले, किन्तु मोक्ष तो बिना स्वयं की साधना के कदापि नहीं मिल सकता। करने और कराने में यही महान् अन्तर है। इसी प्रकार जो अपनी सामायिक छोड़कर दूसरों की भूख मिटाने जाता है, वह अपनी सामायिक और पर्युपासना से गिरता है। उसकी दृष्टि, पर-संसारी की ओर होने से वह सामायिक और पर्युपासना से हटता ही है।

अनुकम्पादान विरति नहीं है। किसी भी व्रत में इसका समावेश नहीं होता। श्रावक के बारह व्रतों में, मोक्ष मार्ग के

सर्व सावक श्रमण निर्ग्रन्थों को आहारादि दान द्वारा प्रतिलाभना तो व्रत में है। किन्तु अनुकम्पा दान व्रत में नहीं है। फिर भी यह आठवें व्रत तक दिया जा सकता है। सामायिक व्रत में नहीं दिया जा सकता, पौषध में भी नहीं। पौषध में दान नहीं देने का उल्लेख "सेन प्रश्न" उल्लास ३ प्रश्न ७८१ में है। वहां प्रश्न किया गया कि "पौषध में रहे हुए श्रावक को, याचक को दान देना कल्पता है या यहीं ?" उत्तर में श्री विजयसेन सूरिजी ने बताया कि-"मुख्य रीति से याचक को दान नहीं कल्पता है। कारण विशेष में दे, तो निषेध नहीं जाना गया।" इस पर विचार करने वाला सहज ही समझ सकता है कि सामायिक और पौषध, धर्म क्रिया है। मोक्ष के उद्देश्य से की जाती है। इसलिये इसमें पुण्य क्रिया को स्थान नहीं दिया जाता।

उपर्युक्त प्रमाण में यह शंका उठ सकती है कि "पौषध में तो खुद के आहारादि का त्याग होता है, फिर वह दूसरों को कैसे खिलावे ?" यह शंका व्यर्थ है। क्योंकि उपवासी मुनि भी अपने गुरु आदि साधुओं को आहार पानी लाकर देते हैं। उपवास में स्वतः के खाने का त्याग रहता है, दूसरों को खिलाने का नहीं।

अनुकम्पादान प्रथम गुणस्थानी भी कर सकता है और ऊंचे भी। अनुकम्पा सम्यक्त्व का लक्षण है और ऐसा दान आठवें व्रत तक दिया जा सकता है-सामायिक में नहीं।

सामायिक-सम आयस्य-भावपूर्वक ज्ञान, दर्शन,

चारित्र तप में उपयोग रखना ही भाव सामायिक है। यदि इसमें से उपयोग हटाकर अनुकम्पादान में लगाया, तो वह भाव सामायिक नहीं होगा और द्रव्य सामायिक भी नहीं रहेगी, क्योंकि द्रव्य सामायिक में भी शरीर को दान की प्रवृत्ति में नहीं जोड़ा जाता। अन्य समाजों में संध्या, पूजा, प्रार्थना, नमाज आदि क्रियाएँ होती है, उन क्रियाओं में भी दान प्रवृत्ति नहीं होती। यह स्थिति क्या बतलाती है ?

शंका—सामायिक में सावद्य योगों का ही त्याग किया जाकर निरवद्य योगों का सेवन खुला रखा गया है। इसलिए सामायिक में निरवद्य दान का निषेध करना कहां तक उचित है ?

समाधान—योगों का सर्वथा त्याग साधक के लिए असंभव है। अरिहंत भगवान भी १३ वें गुणस्थान में योगों का त्याग नहीं कर सकते, तो सामान्य जन की तो बात ही क्या है ? योगों की प्रवृत्ति तो होती ही रहती है। सावद्य योगों का त्याग करना सहज है, किन्तु निरवद्य योगों का त्याग करके या तो सावद्य योग में आना पड़ता है या फिर अयोगी होना पड़ता है। अयोगी होने की तो स्थिति ही नहीं है। ऐसी दशा में निरवद्य योग में रहना ही पड़ता है। किन्तु इसका मतलब यह नहीं कि निरवद्य योगों की ओट से अपनी साधना से नीचे उतरा जाय। निरवद्य योग १३ वें गुणस्थान में भी है और उससे नीचे उतरते उतरते छठे तक और पांचवें में भी यदा कदा होता है। शंकाकार के अभिप्रायानुसार तो

निरवद्य योग के नाम से श्रमण और अरिहंतों को भी अनुकंपा दान और शारीरिक वैयावृत्य करनी चाहिये ।

निरवद्य आवश्यक क्रिया भी यथा समय ही होती है । प्रतिलेखना के समय प्रतिक्रमण नहीं होता, स्वाध्याय भी नहीं होता । कायोत्सर्ग करते समय गुरुवन्दन या अन्य क्रिया नहीं होती । तपस्या भी निरवद्य है और मुनियों का आहार भी, निरवद्य, किन्तु अनसन में आहार नहीं होता, तब सामायिक में अनुकम्पा दान कैसे हो सकता है ?

यह स्मरण रखना चाहिए कि शुद्ध दृष्टि से योग प्रवृत्ति भी धर्म नहीं है । योगों की जितनी निवृत्ति बढ़ती है, उतना धर्म बढ़ता है, आत्मा निर्मल होती है । योगों की निवृत्ति अर्थात् योग रहित होने के लिये ही संयम, संवर सामायिक आदि किये जाते हैं । जिसका लक्ष योग रहित होने का नहीं, वह जैनी ही नहीं है । अब समझ में आजाना चाहिये कि निरवद्य योगों का विस्तार करना सामायिक नहीं है, किन्तु जिन योगों का निरोध नहीं हो सकता, उन्हें ज्ञानादि मोक्ष साधनों में जोड़ देना सामायिक है ।

शंका—आप कहते हैं कि आहारादि की प्रवृत्ति रूप क्रिया निरवद्य होते हुवे भी नहीं करनी चाहिये, तो स्पष्ट रूप से "असणं पाणं खाइमं साइमं पच्चक्खामि जाव नियमं" की पौषध की तरह प्रत्याख्यान क्यों नहीं किये जाते ?

रचना श्रमणों की सर्व सामायिक के आधार पर हुई है। श्रमणों की सामायिक में आहार, निहार, शयनादि प्रवृत्ति खुली हुई है। उनका जीवन ही सामायिकमय है। सामायिक को छोड़कर उनके पास ऐसा समय ही कहां रहता है कि जिसमें वे गोचरी जाकर आहारादि ला सके और खा पी सके। किंतु श्रावक के लिये तो सामायिक के सिवा बहुत लम्बा और कई गुना अधिक समय खुला हुआ है। इसलिये बिना पाठोच्चार के भी खान पानादि का त्याग मान लिया जाना सर्वथा उचित है। ऐसा नहीं मानने पर रोटी खाते हुये भी सामायिक मानली जा सकेगी। क्या निद्रा लेना, आहार करना, पानी पीना, टट्टी फिरना और अचित्त पानी से विवेक पूर्वक अंग प्रक्षालन करना भी सामायिक में माना जायगा? क्योंकि इनका त्याग भी तो सामायिक में नहीं है?

सामायिक में आहारादि त्याग की प्रवृत्ति इसलिए भी नहीं होती कि सामायिक लगातार कई दिनों की भी हो सकती है। कुछ दिनों की लगातार सामायिक में निर्दोष आहारादि किये जा सकते हैं, ऐसा 'धर्मसंग्रह' आदि में उल्लेख है।

शंका—क्या आत्मा का ध्यान करने में अनुकम्पा दान से कुछ बाधा पड़ती है?

समाधान—आत्मा के स्वाभाविक गुण ज्ञान, दर्शन, वीर्य और सुख तथा अगुरुलघुत्वादि है। इनका ध्यान करने वाला, अथवा जिन परम वीतरागी पुरुषों ने आत्मा के स्वाभाविक

गुणों की प्राप्ति करली और जो कर रहे हैं, उनको उन्नत आत्मा का ध्यान करना- त्रैकालिक नित्य आत्मा का ध्यान करना कहा जा सकता है। जिस ध्यान में पुद्गल पर्याय की उपेक्षा करके आत्मा के शाश्वत गुणों का ध्यान हो-वही स्वभाव का ध्यान हो सकता है। संसार में पड़े हुये प्राणियों की वैभाविक दशा और इससे होते हुये जन्ममरणादि दुःखों का स्मरण कर उनपर भावानुकम्पा लाना और वैभाविक दशा से उलट कर स्वभाव में आने से ही शाश्वत सुख मानना भी ध्येय के अनुकूल होने से स्वभावानुसारी कहा जा सकता है, किन्तु जो द्रव्य-अनुकम्पा लाकर पौद्गलिक द्रव्यों को ग्रहण करने का विचार करते हैं, वे वैभाविक परिणामी हो जाते हैं। फिर दूध या रोटी ग्रहण कर दूसरों को देने रूप क्रिया करने वाले को "आत्मा का ध्यान करने वाला" कैसे माना जाय? उस समय उसको विभाव परिणति माननी ही पड़ेगी। क्योंकि वह आत्मा के त्रैकालिक नित्य गुणों को छोड़कर विभाव पर्याय की ओर आकर्षित हुआ और पौद्गलिक वस्तुओं को ग्रहण करके देने का प्रयत्न करने लगा।

अनुकम्पा आत्मा का स्वाभाविक गुण नहीं है। यदि इसे स्वाभाविक गुण माना जाय, तो सिद्धों में भी यह गुण मानना पड़ेगा-जो कि असत्य बात है।

यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि वर्तमान में जो सामायिक की जाती है वह क्या स्वाभाविक परिणाम [illegible] होती है? समाधान में कहा जाता है कि इस समय की [illegible]

सामायिक से है, न कि विकारों से। द्रव्य सामायिक वही मानी जायगी जिसमें सामायिक के योग्य स्थान, उपकरण, शब्दोचार और शारीरिक क्रिया हो। अविरती को दान देने की क्रिया द्रव्य सामायिक में भी नहीं है और भाव सामायिक तो ज्ञान, दर्शन, चारित्रादि आराधना रूप ही है : संसार से निःसंग होकर मोक्षार्थ ज्ञानादि की आराधना ही भाव सामायिक है। द्रव्य और भाव सामायिक करने वाला अनुकम्पा दान नहीं कर सकता, क्योंकि सामायिक धर्म रूप है और अनुकम्पा दान पुण्य रूप है। यद्यपि पुण्य के साथ स्वाभाविक निर्जरा भी होती है और निर्जरा के साथ पुण्य भी, किन्तु मुख्य रूप से पुण्य क्रिया धर्म रूप नहीं है।

प्रश्न–असंयत अविरत भूखे प्यासे को अचित प्रासुक आहार पानी देना, सावद्य योग है या निरवद्य योग ? निरवद्य योग सेवन से (सामायिक में देने से) कौनसी बाधा आती है ?

उत्तर–सावद्य योग का त्यागी, सावद्य योग के त्याग की प्रवृत्ति में सहायक प्रवृत्ति कर सकता है। असंयत अविरत के तो सावद्य योग की प्रवृत्ति चालू ही रहनी है, अतः उसको आहारादि देने से सावद्य योग की अनुमोदना भी होती है। अनुकम्पा ठीक होते हुए भी सावद्य योग के त्यागी का यह कल्प नहीं है, अतः नहीं देते हैं।

(यह अन्तिम प्रश्न–और उत्तर सम्यग्दर्शन की प्रश्नोत्तरमाला भाग २ का है। इसके उत्तरदाता पू. बहुश्रुत पं. मुनिराज श्री समर्थमलजी म. हैं)

सामायिक व्रत के पांच अतिचार

१ मनोदुष्प्रणिधान, २ वाग्दुष्प्रणिधान, ३ कायदुष्प्रणिधान, ४ सामायिकस्मृत्यकरण, ५ सामायिकानवस्थितकरण ; ये पांच सामायिक व्रत के अतिचार हैं।

१ सामायिक करते समय-सांसारिक विषयों का मन से चिन्तन करना, 'मनोदुष्प्रणिधान' कहलाता है।

२ सामायिक के समय निष्ठुर और सावद्य भाषा बोलना, वाग्दुष्प्रणिधान है।

३ सामायिक के समय रजोहरण आदि के द्वारा प्रमार्जित न की हुई तथा न देखी हुई पृथ्वी में अपने हाथ पैर आदि अंगों को रखना 'कायदुष्प्रणिधान' कहलाता है।

४ जिस घड़ी या वेला में सामायिक ग्रहण किया हो उसे स्मरण न रखना, 'सामायिकस्मृत्यकरण' कहलाता है।

५ कभी करना और कभी न करना तथा उपेक्षा बुद्धि से करना एवं सामायिक की अवधि पूर्ण हुए बिना ही बीच में उठ जाना, 'सामायिकानवस्थितकरण' कहलाता है।

इन अतिचारों में मनोदुष्प्रणिधान, वाग्दुष्प्रणिधान और कायदुष्प्रणिधान रूप अतिचार, अनाभोग, अतिक्रम, व्यतिक्रम और अतिचार होने से होते हैं और पीछे के दो अधिक प्रमाद के कारण उत्पन्न होते हैं।

☆ ★ ☆

दसवां व्रत

छठे व्रत के वर्णन में दिग्व्रत का स्वरूप बताया गया है, उस दिग्व्रत को संक्षेप करना, देशावकाशिक व्रत है। जैसे किसी श्रावक ने जीवन भर के लिए अथवा वर्ष और चातुर्मास्य भर के लिये चारों दिशाओं में आने जाने के लिये एक हजार या पांच सौ कोस की मर्यादा नियत की है, वह श्रावक एक दिन, एक प्रहर या एक मुहूर्त के लिये अपनी उक्त मर्यादा के कोसों को कम कर दे यह 'देशावकाशिक व्रत' है। इसी तरह स्थूल-प्राणातिपातविरमण आदि व्रतों का भी दिन प्रहर और मुहूर्त आदि के प्रमाण से संकोच करना, देशावकाशिक व्रत है। जैसे जिस श्रावक ने अपराधी प्राणी को न मारने की प्रतिज्ञा नहीं की है, यदि वह एक दिन, एक प्रहर या एक मुहूर्त तक या इच्छानुसार वर्ष मासादि तक अपराधी को भी न मारने की प्रतिज्ञा करे, तो यह देशावकाशिक व्रत है। यद्यपि मूल पाठ में दिग्व्रतों को संकोच करना देशावकाशिक व्रत कहा गया है, तथापि समस्त अणुव्रतों को संकोच करना देशावकाशिक व्रत समझना चाहिये, क्योंकि मूल पाठ सभी व्रतों के संकोच का उपलक्षण है।

चौदह नियम

सदैव प्रात:काल करने के चौदह नियम इस प्रकार हैं—

१ सचित्त—पृथ्वी, पानी, वनस्पति, फल, फूल, शाक

आदि सचित वस्तुओं के सेवन की मर्यादा करके शेष का त्याग करना।

२ द्रव्य–खाने, पीने की वस्तुओं की संख्या नियत करना जिनका स्वाद तथा स्वरूप भिन्न-भिन्न हो, वह मूल में एक वस्तु होने पर भी भिन्न द्रव्य है। जैसे गेहूँ से रोटी भी बनती है और थूली भी, दूध से दही भी बनता है और खीर भी। इस प्रकार भिन्न स्वाद वाली वस्तुओं के खाने पीने की गिनती रखकर शेष का त्याग करना।

३ विगय–शरीर में विकृति–विकार उत्पन्न करने वाली वस्तुओं को विगय कहते हैं। दूध, दही, घृत, तेल और गुड़ शक्कर आदि मिठाई को सामान्य विगय कहते हैं। इनमें अमुक विगय का परिमाण करके शेष का त्याग करना। मधु और मक्खन विशेष विगय हैं। इनके निष्कारण उपयोग का त्याग करना चाहिये। (माँस और मदिरा महान् विगय हैं। श्रावक इनका सर्वथा त्यागी होता ही है।)

४ पन्नो–पाँवों में पहनने के जूते, मोजे, चप्पल आदि की मर्यादा करना।

५ ताम्बूल–मुखवास के लिए सुपारी, इलायची, पान आदि लिये जायँ, तो उनकी मर्यादा करना।

६ वस्त्र–पहनने ओढ़ने के वस्त्रों की मर्यादा करना।

७ कुसुम–सुगन्ध के लिये पुष्प, इत्र आदि की मर्यादा करना।

८ वाहन–सवारी के ऊँट, हाथी, घोड़े, मोटरकार,

मोटर, तांगा, गाड़ी आदि।

९ शयन–शयन करने के पलंग, पाट, बिस्तर आदि।

१० विलेपन–केसर, चन्दन, तैल, साबुन, अंजन आदि।

११ ब्रह्मचर्य–चौथे अणुव्रत को भी संकुचित करना।

१२ दिग्–छठे व्रत में की हुई दिशाओं के परिमाण को संकुचित करना।

१३ स्नान–देश स्नान अथवा सर्व स्नान की मर्यादा करना।

१४ भक्त–भोजन पानी की मर्यादा करना। एक बार या दो बार, तथा वस्तु का परिमाण करना।

इसके उपरान्त आजीविका सम्बन्धी प्रवृत्ति की भी मर्यादा की जाती है। जैसे–

असि–शस्त्र अथवा हथौड़ादि औजारों द्वारा आजीविका करना–असि कर्म है। इसकी भी मर्यादा करना।

मसि–स्याही–कलम, दावात और कागज से आजीविका करने में, कार्य एवं साधन की मर्यादा करना।

कृषि–खेती सम्बन्धी साधनों, कार्यों और व्यवस्था की मर्यादा करना।

इन तीनों व्रत में श्रावक को अपने योग्य साधन रख कर उसमें किये जाते हुए आरम्भादि को संकुचित करके शेष का त्याग करना।

देशावकाशिक व्रत के पांच अतिचार

१ आनयनप्रयोग, २ प्रेष्यवलप्रयोग, ३ शब्दानुपात,

४ रूपानुपात, ५ बहिःपुद्गलप्रक्षेप । ये पाँच देशावकाशिक व्रत के अतिचार हैं ।

१ व्रतधारी श्रावक ने अपने आने जाने के लिये जितने ग्राम आदि की मर्यादा नियत की है, उससे बाहर के पदार्थों को सन्देशा भेजकर किसी के द्वारा मंगवाना 'आनयनप्रयोग' कहलाता है ।

२ नियत की हुई मर्यादा से बाहर के कार्यों को नौकर आदि के द्वारा कराना 'प्रेष्यबलप्रयोग' है ।

३ नियत की हुई अवधि से बाहर का कार्य उपस्थित होने पर खाँसी या छींक के द्वारा अपने पड़ोसी आदि को बोधित करके अपने कार्य के सम्बन्ध में पड़ोसी को सुनाकर कोई बात कहना, 'शब्दानुपात' कहलाता है ।

४ नियत की हुई अवधि से बाहर का कार्य उपस्थित होने पर अपने कार्य की सिद्धि के लिए दूसरे को अपना शरीर आदि दिखाना 'रूपानुपात' है ।

५ नियत की हुई अवधि से बाहर का कार्य उपस्थित होने पर उसकी सिद्धि के लिये कंकर आदि फेंक कर दूसरे को अपना अभिप्राय समझाना 'बहिःपुद्गलप्रक्षेप' कहलाता है ।

ग्यारहवां व्रत

आत्मा के निज गुणों का शोषण करनेवाली सावद्य प्रवृत्तियों का त्याग कर, पोषण करनेवाले गुणों के साथ रहना,

समता पूर्वक ज्ञान ध्यान और स्वाध्यायादि में रत रहना, 'पौषधोपवास' व्रत है। इसके चार भेद इस प्रकार हैं।

१ आहार पौषध–चारों प्रकार के आहार का त्याग करना।

२ शरीर पौषध–स्नान, मंजन, उबटन, पुष्प, माला तथा आभूषणादि का त्याग करना।

३ ब्रह्मचर्य पौषध–वैषयिक सुख का त्यागकर आत्मिक सुख में रमण करना।

४ अव्यापार पौषध –आजीविका अथवा संसार सम्बन्धी सभी सावद्ययोगों का त्याग करना।

इस प्रकार चार प्रकार का पौषध करके मन को शांत बना लेना चाहिए। सांसारिक सभी सावद्य कार्यों के भारी बोझ को एक दिन रात के लिए उतार कर अपूर्व शान्ति का अनुभव करना चाहिये। पौषध में हल्कापन का अनुभव कर विश्राम लेना–संसार में तीसरा विश्राम है। (ठाणांग ४–३)

निर्दोष रूप से पौषध करने के लिए, पौषध के पूर्व दिन निम्न लिखित शुद्धता रखनी चाहिए।

१ जहां तक हो सके एकासना करे, यदि एकासना नहीं हो सके, तो पौषध निमित्त अधिक नहीं खावे।

२ 'कल पौषध होगा इसलिए आज बाल बनवालूं'– या स्नान करलूं'–इस प्रकार सोचकर ये क्रियाएँ नहीं करे।

३ मैथुन सेवन नहीं करे।

मूत्रादि परठने के पूर्व उस स्थान को नहीं पूंजना अथवा बुरी तरह से पूंजना।

५ पौषधोपवास का सम्यक् अपालन–पौषध का विधि पूर्वक पालन नहीं करना।

उपरोक्त अतिचारों को सावधानी पूर्वक टालना चाहिए। इसके अतिरिक्त निम्न दोषों से भी बचना चाहिए।

१ अव्रती से सेवा करवाना।

२ शरीर का मैल उतारना।

३ बिना पूंजे शरीर खुजालना।

४ अकाल में निद्रा लेना अर्थात् दिन में सोना और रात में अधिक नींद लेना।

५ निन्दा, विकथा तथा हँसी मजाक करना।

६ सांसारिक विषयों की बातें करना या सुनना अथवा अधार्मिक साहित्य पढ़ना।

७ भय को हृदय में स्थान देना या दूसरों को डराना।

८ क्लेश करना अथवा क्लेश में कारणभूत बनना।

९ खुले मुंह बोलना–सावद्य वचन बोलना।

१० स्त्री का रूप निरखना।

११ सांसारिक सम्बन्ध के अनुसार संबोधन करना अथवा जिसके पौषध नहीं हो, ऐसे व्यक्तियों और सम्बन्धियों से बातें करना।

१२ प्रमार्जना में प्रमाद करना।

इन दोषों से भी बचना आवश्यक है। पौषध की पूर्ति पर पालने की चपलता नहीं करना। समय पूर्ण होने के बाद कुछ समय बीतने पर विधि पूर्वक, अतिचारों और अन्य दोषों की आलोचना करने के पूर्व पौषध नहीं पालना चाहिए।

जिस प्रकार शिथिल गात्र वाला वृद्ध, भारी बोझ के कारण थक कर, ठण्डी छाया और जलाशय को देखकर अपना भार रखता है, और ठण्डा पानी पीकर तथा छाया में बैठकर विश्राम लेता है—सुख का अनुभव करता है, ठीक उसी प्रकार पौषध में रहा हुआ श्रावक, संसार के आरम्भ परिग्रह तथा अठारह पाप के महान् बोझ से थका हुआ है। पौषध के समय वह इस भार से हल्का होकर आत्मीय सुख का अनुभव करता है। आत्म शान्ति का पोषक होने के कारण इस व्रत का नाम 'पौषध' है। पूर्वाचार्य कहते हैं कि जो श्रद्धालु श्रावक, भाव पूर्वक शुद्ध व्यवहार से प्रतिपूर्ण पौषध का पालन करता हुआ, विषय कषाय की गर्मी को शांत करता है, 'वह सत्तावीस अरब, सतहत्तर करोड़, सतहत्तर लाख, सतहत्तर हजार, सातसौ सतहत्तर पल्योपम और एक पल्योपम का सप्तनवमांस (२७७७७७७७७७-७/९) परिमाण देवभव के आयुष्य का बन्ध करता है। (संबोधप्रकरण श्रावकाधिकार गा० १३४) यदि इसमें थोड़ी भी निश्चय सम्यक्त्व की लीनता हुई, तो उसके लाभ का तो कहना ही क्या ?

★ ★ ★

मूत्रादि परठने के पूर्व उस स्थान को नहीं पूंजना अथवा बुरी तरह से पूंजना।

५ पौषधोपवास का सम्यक् अपालन—पौषध का विधि पूर्वक पालन नहीं करना।

उपरोक्त अतिचारों को सावधानी पूर्वक टालना चाहिए। इसके अतिरिक्त निम्न दोषों से भी बचना चाहिए।

१ अव्रती से सेवा करवाना।

२ शरीर का मैल उतारना।

३ बिना पूंजे शरीर खुजालना।

४ अकाल में निद्रा लेना अर्थात् दिन में सोना और रात में अधिक नींद लेना।

५ निन्दा, विकथा तथा हँसी मजाक करना।

६ सांसारिक विषयों की बातें करना या सुनना अथवा अधार्मिक साहित्य पढ़ना।

७ भय को हृदय में स्थान देना या दूसरों को डराना।

८ क्लेश करना अथवा क्लेश में कारणभूत बनना।

९ खुले मुंह बोलना—सावद्य वचन बोलना।

१० स्त्री का रूप निरखना।

११ सांसारिक सम्बन्ध के अनुसार संबोधन करना। अथवा जिसके पौषध नहीं हो, ऐसे व्यक्तियों और सम्बन्धियों से बातें करना।

१२ प्रमार्जना में प्रमाद करना।

इन दोषों से भी बचना आवश्यक है। पौषध की पूर्ति पर पालने की चपलता नहीं करना। समय पूर्ण होने के बाद कुछ समय बीतने पर विधि पूर्वक, अतिचारों और अन्य दोषों की आलोचना करने के पूर्व पौषध नहीं पालना चाहिए।

जिस प्रकार शिथिल गात्र वाला वृद्ध, भारी बोझ के कारण थक कर, ठण्डी छाया और जलाशय को देखकर अपना भार रखता है, और ठण्डा पानी पीकर तथा छाया में बैठकर विश्राम लेता है-सुख का अनुभव करता है, ठीक उसी प्रकार पौषध में रहा हुआ श्रावक, संसार के आरम्भ परिग्रह तथा अठारह पाप के महान् बोझ से थका हुआ है। पौषध के समय वह इस भार से हल्का होकर आत्मीय सुख का अनुभव करता है। आत्म शान्ति का पोषक होने के कारण इस व्रत का नाम 'पौषध' है। पूर्वाचार्य कहते हैं कि जो श्रद्धालु श्रावक, भाव पूर्वक शुद्ध व्यवहार से प्रतिपूर्ण पौषध का पालन करता हुआ, विषय कषाय की गर्मी को शांत करता है, 'वह सत्तावीस अरब, सतहत्तर करोड़, सतहत्तर लाख, सतहत्तर हजार, सातसो सतहत्तर पल्योपम और एक पल्योपम का सप्तनवमांस (२७७७७७७७७७-$\frac{७}{९}$) परिमाण देवभव के आयुष्य का बन्ध करता है। (संबोधप्रकरण श्रावकाधिकार गा० १३४) यदि इसमें थोड़ी भी निश्चय सम्यक्त्व की लीनता हुई, तो उसके लाभ का तो कहना ही क्या?

देश पौषध

उपरोक्त विधि 'प्रतिपूर्ण पौषध' की है। देश पौषध की विधि ग्रंथकारों ने इस प्रकार बताई है।

१ आहार आदि का देश से त्याग करना। तिविहार, उपवास, आयंबिल, एकासन आदि करके देश आहार पौषध करना।

२ हाथ, पाँव, मुंह आदि धोकर, शरीर सत्कार पौषध करना।

३ मन तथा दृष्टिक्षेप आदि की छूट रखकर, देश ब्रह्मचर्य पौषध करना।

४ व्यापार गृहकार्य आदि की सलाह देने रूप सावद्य व्यापार का देश से त्याग करना।

इस प्रकार देश पौषध होता है।

द्रव्य पौषध—पौषध में उपयोगी ऐसे आसन प्रमार्जनी पुस्तकादि साधनों को रखकर शेष का त्याग करना।

क्षेत्र पौषध—उपाश्रय, तथा उच्चार प्रस्त्रवण भूमि की मर्यादा रखकर शेष का त्याग करना।

काल पौषध—देश पौषध कम से कम चार प्रहर का और मध्यम चार प्रहर से अधिक का और उत्कृष्ट उपवास के साथ आठ प्रहर, छठ भक्त के साथ सोलह प्रहर तथा अष्टम भक्त के साथ २४ प्रहर का होता है। इसी तरह आगे

भी समझना चाहिए। आठ प्रहर से कम हो–वह काल से देश पौषध है।

भाव पौषध–औदयिक भाव–राग द्वेष अर्थात् आर्त रौद्र ध्यान को त्याग कर धर्मध्यान में मशगूल रहना।

श्रावकों का दया (छकाया) व्रत भी देश पौषध रूप है। भगवती सूत्र १२–१ में शंख पुष्कली प्रकरण में लिखित भोजन करके पौषध करने के प्रसंग से भी देश पौषध की परिपाटी सिद्ध होती है।

बारहवां व्रत

सर्वत्यागी (मोक्षाभिलाषी) पंच महाव्रतधारी निर्ग्रन्थों को उनके कल्प के अनुसार निर्दोष, अशन, पान, खादिम, स्वादिम, वस्त्र, पात्र, कम्बल पादप्रोंछन (रजोहरण) पीठ, फलक, शय्या संस्तारक औषध, भेषज, इन चौदह प्रकार की वस्तुओं में से आवश्यकतानुसार भक्ति पूर्वक, संयम में सहायक होने की कल्याण कामना से अर्पण करना–'अतिथि संविभाग' व्रत है।

अतिथि–जिनके आने का कोई नियत समय नहीं हो, जो पर्व उत्सव अथवा निर्धारित समय पर पहुँचने की वृत्ति को त्याग चुके हों (अर्थात् जो अचानक आते हों) वे अतिथि कहलाते हैं।

संविभाग–उपरोक्त निर्दोष अतिथि को अपने लिए बनाये हुए आहार में से निर्दोष विधि से देना।

इस व्रत में तीन वस्तुओं का योग होता है–१ सुपात्र २ सुदाता और ३ सुद्रव्य।

सुपात्र–आगमों में इसे 'पडिगाहग' कहा है–'पडिगाहग सुद्धेणं' (भग० १५ तथा विपाक २–१) अर्थात् शुद्धपात्र। सुपात्र वह है, जिसने सभी प्रकार के आरम्भ परिग्रह तथा सांसारिक सम्बन्धों और कर्तव्यों का त्यागकर आत्म कल्याण के लिए अग्रसर हुआ है। जो अनगार है और केवल संयम निर्वाह के लिए, शरीर को सहारा देने रूप, आहार लेता है। जिसकी आहार लेने की विधि भी निर्दोष है। जो बिना पूर्व सूचना अथवा निमन्त्रण के अचानक आकर निर्दोष आहार लेता है, वह सुपात्र है।

सुदाता–जिसे शास्त्र में 'दायगसुद्ध' कहा है। सुदाता वही है, जो सुपात्रदान का प्रेमी हो, सदैव सुपात्रदान की भावना रखने वाला हो। सुपात्र को देखकर जिसके हृदय में आनन्द की सीमा नहीं रहे। सुपात्र को देख कर उसे इतना हर्ष हो जाय कि जिससे आँखों से अश्रु निकल पड़े। वह ऐसा समझे कि जैसे बहुत दिनों से बिछुड़ा हुआ आत्मीय मिला हो, अत्यन्त प्रिय वस्तु की प्राप्ति हो गई हो, या उसके घर चक्रवर्ती सम्राट आगये हों। इस प्रकार अत्यन्त उच्च भाव युक्त दाता, सुपात्र को दान देकर उन्हें आदर युक्त कुछ दूर तक पहुँचाने

जाता हो और उसके बाद उस दान की तथा दूसरे दाताओं की अनुमोदना करता हो और पुनः ऐसा सुयोग प्राप्त होने की भावना रखता हो। ऐसा दाता सुदाता कहा जाता है।

सुद्रव्य–'दव्वसुद्ध' दान की सामग्री निर्दोष हो। सुपात्र के अनुकूल एवं हितकारी हो। (दोष रहित वस्तु और उद्गम आदि दोषों का स्वरूप 'एषणा समिति' के वर्णन से देख लेना चाहिए) ऐसी वस्तु नहीं देनी चाहिए जो दूषित हो और संयमी जीवन के लिए अनावश्यक हो।

इस प्रकार साधु साध्वी को प्रसन्न मन से निर्दोष आहारादि का दान करने से इस व्रत का पालन होता है।

इस व्रत को दूषित करनेवाले पाँच अतिचार इस प्रकार है।

१ सचित निक्षेप–साधु को नहीं देने की बुद्धि से, निर्दोष और अचित वस्तु को, सचित वस्तु पर रख देना, जिससे वे ले नहीं सके।

२ सचित पिधान–कुबुद्धि पूर्वक अचित वस्तु को सचित से ढक देना।

३ कालातिक्रम–गोचरी के समय को चुका देना और बाद में शिष्टाचार साधने के लिए तय्यार होना।

४ परव्यपदेश–नहीं देने की बुद्धि से अपने आहारादि को दूसरे का बतलाना।

५ मत्सरिता–दूसरे दाताओं से ईर्षा करना।

इन पाँच अतिचारों को टालकर शुद्ध भावना और बहुमान पूर्वक दान देना चाहिए। ऐसा दान महान् फलवाला होता है। जहां द्रव्य शुद्ध और पात्र शुद्ध हो और उत्कृष्ट रस आजाय, तो तीर्थंकर गोत्र का बन्ध हो जाता है (ज्ञाता ८) दिव्य वृष्टि एवं देवदुंदुभि तथा देवों द्वारा जय-घोष होता है (भगवती १५, उत्तरा० १२ आदि)

भगवती सूत्र में आए हुए क्रमशः तीन पाठों की व्याख्या।

"समणोवासगस्स णं भंते ! तहारूवं समणं वा माहणं वा फासुएसणिज्जेणं असण-पाण-खाइमसाइमेणं पडिलाभेमाणस्स किं कज्जइ" ?

उत्तर-"गोयमा ! एगंत से निज्जरा कज्जइ नत्थि य से पावे कम्मे कज्जइ"।

अर्थ- प्रश्न-भगवान् ! तथारूप श्रमण माहन को प्रासुक एषणीय अशन, पान खादिम, स्वादिम, बहराते हुए श्रमणोपासक को क्या फल मिलता है ?

उत्तर-गौतम ! उस श्रमणोपासक को एकान्त निर्जरा होती है अर्थात् वह एकान्त रूप से संचित कर्मों की निर्जरा करता है। वह पाप कर्म बिल्कुल नहीं बांधता, क्योंकि जब वह निर्दोष आहार पानी परम श्रद्धा से बहराता है, उस समय उसके परिणाम विशुद्ध होते हैं। भावों की विशुद्धि जबतक चालू रहती है, तबतक सतत कर्मों की निर्जरा होती ही

रहती है। जब समयान्तर में विशुद्धता नहीं होती, कुछ कम हो जाती है, तब पुण्यानुबन्धी पुण्य का बन्ध चालू होता है। + निर्जरा से मोक्ष की प्राप्ति होती है। पुण्यानुबन्धी पुण्य से वह भौतिक सुख मिलता है जो धर्म आराधना में बाधक न हो। परन्तु पाप कर्म तो बिलकुल नहीं बांधता।

प्रश्न–"समणोवासगस्स णं भंते ? तहारूवं समणं वा माहणं वा अफासुएणं अणेसणिज्जेणं असण-पाण-खाइम-साइमेणं पडिलाभेमाणस्स किं कज्जइ ?"

उत्तर–"गोयमा ! बहुतराए से निज्जरा कज्जइ, अप्प-तराए से पावेकम्मे कज्जइ।"

अर्थ–प्रश्न–भगवन् ! तथारूप श्रमण माहन को अप्रासुक अनेषणीय आहार बहराते हुए श्रमणोपासक को क्या फल मिलता है ?

उत्तर–गौतम ! वह बहुतर तो निर्जरा करता है और अल्पतर पाप कर्म करता है। यदि निर्जरा और पाप कर्म दोनों की तुलना की जाए तो निर्जरा की अपेक्षा पाप कर्म अल्पतर और पाप कर्म की अपेक्षा निर्जरा बहुतर होगी।

गौतम स्वामी ने पहले प्रश्न में प्रासुक एषणीय आहार बहराने का फल पूछा है और दूसरे प्रश्न में तथारूप श्रमण

+ बन्ध तो निर्जरा के समय भी चालू रहता है। किन्तु वह नगण्य है। यह अबन्ध दशा तो है ही नहीं। –सं०

माहन को अप्रासुक अनेषणीय आहार बहराने का फल पूछा है। पहले तरीके से दिया हुआ आहार एकान्त लाभप्रद ही है और दूसरे प्रकार से दिया हुआ लाभ अधिक और नुक्सान अल्पतर है–ऐसा उत्तर देकर (भगवान् ने) समाधान किया।

शंका–एक ओर तो आगमों में बिलकुल स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि तथारूप श्रमण माहन को अप्रासुक अनेषणीय आहार बहराने से जीव अल्पायु का बन्ध करता है और दूसरी ओर प्रस्तुत पाठ से यह सिद्ध होता है कि अप्रासुक अनेषणीय आहार से श्रमण माहन को लाभवंत करने से श्रमणोपासक को निर्जरा अधिक तथा पापकर्म अल्पतर। इन दोनों पाठों की संगति कैसे हो सकती है ?

समाधान–जैन दर्शन का अस्तित्व अनेकान्तवाद पर ही निर्भर है। श्रमणोपासक का उद्देश्य तथारूप श्रमण माहन को अप्रासुक अनेषणीय आहार से लाभान्वित करने का यह है कि ये मेरे गुरु हैं। इनसे मेरा व्यक्तिगत राग है या इन से पूर्व परिचित होने से स्नेह है, या इनकी मेरे ऊपर अनन्य कृपा दृष्टि बनी रहे। इनसे मुझे लौकिक कार्य की सफलता के लिए सहयोग मिलता रहेगा। या इन्हें अन्य घरों में भिक्षा के लिए न जाना पड़े, इस दृष्टि से जैसा सुस्वादु भोजन पानी अपने घर में प्रतिदिन नहीं बनता, वैसा आहार छ:काय की विराधना करके तैयार करलेना जो कि रसनेन्द्रि तथा नोइन्द्रिय पोषक व रसीला आहार है। उसे बहराने से जीव अल्पायु बांधता

है। वह सूत्र पाठ निम्न लिखित है–

"तिहिं ठाणेहिं जीवा अप्पाउयत्ताए कम्मं पगरेंत्ति तं०पाणेअतिवाइत्ता भवति, मुसेवइत्ता भवति, तहारूवं समणं वा माहणं वा अफासुएणं अणेसणिज्जं असणपाणखाइम-साइमेणं पडिलाभेत्ता भवति" । स्था० अ० ३ उ० १ ।

भावार्थ–हिंसा करके, झूठ बोल करके, तथारूप श्रमण (उत्तरगुणी), माहन (मूलगुणी), सर्वविरति को अप्रासुक अनेषणीय आहार से लाभवन्त करके जीव अल्पायु के रूप में कर्म बाँधता है। इनमें पहले दो पद विशेषण हैं और तीसरा पद विशेष्य है। इन तीनों को मिला देने से तीसरे स्थान की पूर्ति हुई। किसी व्यक्ति ने बिना ही कारण साधु के निमित्त छःकाय की विराधना करके आहार बनाकर तैयार किया और सर्व विरति के पूछने पर जवाब देता है कि भगवन्! यह आहार हमने अपने लिए ही बनाया है, आप के लिए नहीं, यह आहार निर्दोष होने से आपके ग्राह्य है। हम आपकी वृत्ति को भली भांति जानते हैं। हमारे ऊपर विश्वास कीजिए और आप निःशंक रहिए। अमुक अमुक सभी साधु साध्वी लेते रहे हैं। इस प्रकार झूठ बोलकर अप्रासुक सदोष आहार बह-राने से जीव अल्पायु बाँधता है।

ऐसा करने से एक तो छःकाय की हिंसा होती है। दूसरा गुरु के समक्ष झूठ बोलकर पाप कमाता है। तीसरा पाप है सर्व विरत की वृत्ति को दूषित करता हुआ पाप कमाता है।

ये तीनों दोष मिलकर अल्पायु बांधने के कारण बन जाते हैं। श्रमणोपासक की धर्म क्रिया हिंसा और असत्य से व्याप्त नहीं होनी चाहिए, बल्कि अहिंसा और सत्य से व्याप्त होनी चाहिए, जो श्रद्धेय गुरु के समक्ष भी असत्य बोलने से संकोच नहीं करता, वह अन्य लोगों के सामने क्या सत्य बोल सकता है? गुरु के सामने झूठ बोलना भी मोटा झूठ है, कूट साक्षी है। वस्तुतः यह पाठ सामान्य है, सब के लिए लागू होता है।

जैसे अन्य सात कर्मों का बन्ध समय समय में होता रहता है, वैसे आयु कर्म का बन्ध समय समय में नहीं होता। वर्त्तमान कालिक जीवन में परभव की आयु एक ही बार बांधी जा सकती है। तथारूप श्रमण माहन को सदोष आहार बहराते समय यदि आयु कर्म का बन्ध पड़ जाय, तो अल्पायु का ही बन्ध होता है। बहराते समय दाता की भावना श्रद्धा से ओतप्रोत होती है, उस समय आयु का बन्ध शुभ ही हो सकता है, अशुभ नहीं। शुभ अल्पायु का बन्ध हो जाना जो कि सुखमय है—जीव के लिये अहितकर है, एवं अशुभ दीर्घ आयु जो कि दुःख रूप है, वह जीव के लिए अहित कर है। भक्ति पूर्वक अप्रासुक अनेषणीय आहार बहराने से शुभ तथा अल्पायु का बन्ध होता है, और भक्ति पूर्वक प्रासुक एषणीय आहार बहराने से दीर्घ शुभायु का बन्ध होता है।

प्रस्तुत सूत्र विशेषता को सिद्ध करता है।

जो श्री संघ के संरक्षक एवं स्तम्भ हैं, जिनके स्वस्थ होने से धर्मोद्योत—प्रवचन प्रभावना अधिक हो सकती है।

जिनका जीवन संघ सेवा में ही व्यतीत हो रहा है, जिनकी ओर श्री संघ की श्रेष्ठ नजर पड़ रही है, जिन पर बड़ी बड़ी आशाएँ बांधी जा रही है, जिनका जीवन आमूल चूल प्रामाणिकता से व्यतीत हो रहा है, जिनके जीवन का प्रत्येक क्षण संघ के लिए हितकर है। जिनका जीवन संघ के लिए आदर्श बना हुआ है, ऐसे आचार्य, उपाध्याय, स्थिवर, तपस्वी, क्रियापात्र, नवदीक्षित, श्रमणमाहन, जब अध्वक्लान्त हों, रोगग्रस्त हों, भूख प्यास से पीड़ित हों, तब उन्हें आर्त तथा रौद्रध्यान से बचाने के लिये, संयम में स्थिरता एवं दृढ़ता लाने के लिए प्राणभय से मुक्त करने के लिए, एवं भूख, प्यास, रोग आदि असाता निवारण करने के लिये समय की अल्पता होने से यदि श्रमणोपासक अप्रासुक अनेषणीय आहार बहराता है, तो वह महा-निर्जरा करता है। उससे संयमी के संयम में दोष अवश्य लगता है, और सदोष आहार बहराने से श्रमणोपासक का अपना अहित है, परन्तु वह अहित महा-निर्जरा की अपेक्षा अल्पतर ही है। ऐसे समय में स्वस्थ होने पर लेने वाले को पश्चात्ताप होता है और सदोष आहार देने वाले को भी। उस समय की विवशता को दृष्टि गोचर रखते हुए पीछे से दोनों ही निन्दना, गर्हणा, आलोयणा, तपकर्म के रूप में प्रायश्चित्त ग्रहण करते हैं। श्रमणोपासक भी बहराए हुए सदोष आहार को सदोष ही समझता है।

जो बिना ही कारण सदोष आहार बहराता है, या

ग्रहण करने वाला ग्रहण करता है, वे दोनों कभी भी प्रायश्चित् नहीं लेते। भूल नहीं मानते, दोष को दोष नहीं समझते।

१ विवशता से ही दोष लगाना अपवाद मार्ग है।

२ विवशता के बिना ही दोष लगाना, स्वच्छन्दता है।

३ विवशता की परिस्थिति में भी दोष न लगाना उत्सर्ग मार्ग है। उपर्युक्त तीनों बातें सर्वविरति में भी पाई जाति है और देशविरति में भी।

"समणोवासगस्स णं भंते! तहारूवं असंजय-अविरय-अपडिहय--अपच्चक्खाय पावकम्मं फासुएणं वा अफासुएणं वा, एसणिज्जेणं वा अणेसणिज्जेणं वा असणं वा जाव किं कज्जइ"?

"गोयमा! एगंत से पावेकम्मे कज्जइ, नत्थि से काइ निज्जरा कज्जइ"।

(भगवती सूत्र श० ८ उ० ६)

अर्थ–

प्रश्न–भगवन्! तथारूप–असंयत (जो संयमी नहीं है) अविरत (जो अव्रती है) अपडिहय (जिसने वर्त्तमान के पाप कर्म को रोका नहीं है) अपच्खाय पावकम्मं (जिसने अनागत काल में होने वाले पाप कर्म को छोड़ा नहीं) उसे प्रासुक या अप्रासुक एवं सदोष या निर्दोष अशनपान आदि चार प्रकार का आहार वहराने से श्रमणोपासक को क्या फल मिलता है?

उत्तर–गौतम! वह वहराता हुआ एकान्त पाप कर्म

करता है, निर्जरा बिल्कुल नहीं करता। वह तो पाप का ही भागी बनता है।

अब हमने भगवान् के दिये हुए उत्तर को तटस्थ होकर गहराई से उनके तात्पर्य को विचारना है।

असंयत अविरत आदि को देने से श्रमणोपासक एकान्त पाप कर्म का ही भागी बनता है। यदि ऐसा ही माने, तो इससे सिद्धान्त में बहुत ही बाधाएँ आती हैं। अनुकम्पा–दान का तो कोई महत्त्व ही नहीं रह जाता और यह मानना होगा कि राजा प्रदेशी ने एक बहुत बड़ी दानशाला खोलकर इस पाठ का उलंघन किया। वस्तुतः ऐसी बात नहीं है। श्रावक के घर में गाय, भैंस, पशु, पक्षी, नौकर, चाकर, मित्र, संबंधी, माता, पिता, परिजन, परिवार, हीन, दीन, अनाथ ये सब असंयत अविरत होते हैं। इनको देने से भी एकान्त पाप का भागी ही बनता होगा? यदि उन्हें भोजन पानी न दे, तो "भक्तपान व्यवच्छेद" नामक अतिचार से पहले अणुव्रत को दूषित करता है। उन्हें भक्त पान देने से 'एकान्त पाप' लगता है और न देने से व्रत दूषित होता है। इन दोनों में पाप का अल्प बहुत्व किस में है?

वस्तुतः शास्त्रकार का आशय बहुत ही गम्भीर है। उनका अभिप्राय यह कि अनुकम्पा बुद्धि से देने में कहीं सिद्धांत को ठेस नहीं पहुँचती। अनुकम्पा–दान के लिये भगवान् ने कहीं भी श्रमणोपासक को निषेध नहीं किया। अनुकम्पा दान से

समकित दूषित नहीं, बल्कि पुष्ट होती है। क्योंकि अनुकम्पा सम्यक्त्व का सहभावी गुण है। अनुकम्पाहीन व्यक्ति में सम्यक्त्व का प्रादुर्भाव नहीं हो सकता।

दया बुद्धि से दान देते समय करुणा पात्र पर श्रद्धा नहीं होती, बल्कि दया होती है। दया भाव पैदा होने पर यह 'किस वर्ण का है ? किस जाति का है ? किस कुल का है ? इसका क्या पेशा है ? किस सम्प्रदाय का है ? इस प्रकार न पूछा जाता है, न देखा जाता है, और न श्रद्धान्वित होकर कोई नतमस्तक ही होता है। जो दीन दुःखी आदि दया पात्र को कुछ देता है, सेवा करता है, वह वस्तुतः अपने में पैदा हुई दया का इलाज करता है। उस व्यक्ति और द्विपद चतुष्पद परिग्रह का अन्तर्भाव इस पाठ में न हो जाय, इसलिए शास्त्रकारों ने 'तहारूवं' (तथा रूप) का निवेश दिया है। इससे उपर्युक्त पाठ का अर्थ भी तदनुसार ही होगा। इसके सिवाय 'पडिलाभेमाणे' शब्द ने मूल के आशय को विशेष रूप से स्पष्ट कर दिया है। इससे भगवान् का आशय बिलकुल निखर कर हमारे बुद्धिगम्य हो गया है।

जो साधु वेष में उन्मार्ग के प्रवर्तक हैं, जो अपनी मान प्रतिष्ठा के लिये पाखण्ड रचाने वाले हैं, जो कनक कामिनी के दास बने हुए हैं। जो तत्त्वज्ञान से तथा आत्मज्ञान से शून्य होते हुए 'बालतप' करते हैं। जो आरम्भ परिग्रह के दलदल में फँसे हुए हैं, जिनका साधु वेष, विश्वस्त नहीं है, जो अग्नि

की तरह सर्व-भक्षी हैं, जो जादू, टोना, टामन, यन्त्र, तन्त्र आदि का चमत्कार दिखा कर जनता को अपने अनुयायी बनाने वाले हैं। जिनका अमूल्य समय विकथाओं में ही व्यतीत होता है। जिनका वैराग्य रंग परवंचनाय है, धर्मोपदेश जनरंजनाय है, विद्याध्ययन विवादाय है। जो साधु वृत्ति से कोसों दूर हैं, जो जर, जोरू, जमीन के त्यागी नहीं, बल्कि स्वामी बने हुए हैं। जो धर्मवेष में 'विडालवत्' धूर्त हैं, जो अपने आप को धर्म का ठेकेदार समझते हैं, इस प्रकार जो अपने आपको त्यागी महात्मा तथा साधु समझते हैं, उन्हें तथारूप असंयत अविरत कहते हैं। असाधु को साधु समझना मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व को ही एकान्त पाप कहते हैं, क्योंकि जैनागम में १८ प्रकार के पाप बतलाये हैं, उनमें १८वाँ पाप मिथ्यादर्शन शल्य है। यही सभी पापों का मूल एवं पोषक है। यही सभी बुराइयों और अवगुणों का धाम है। यही सभी दुःखों का मूल कारण है। क्योंकि जहाँ मिथ्यात्व है, वहां नियमेन सभी पापों का समावेश हो जाता है। उस एकान्त पाप से बचने के लिए तथा सावधान करने के लिए भगवान् ने कहा कि श्रमणोपासक को ऐसे समय में सतर्क रहना चाहिए। इस विषय को समझने के लिये एक उदाहरण ही पर्याप्त है।

जैसे कि "सद्दालपुत्त" श्रमणोपासक ने "मंखलिपुत्र गोशालक" को कहा था कि तूने सत्य एवं यथार्थ दृष्टान्तों से मेरे धर्माचार्य धर्मोपदेशक श्रमण भगवान् महावीर का गुण-कीर्तन किया है, इस दृष्टि से मैं तुझे वापिस करने वाली

वस्तुएँ जैसे कि–मकान, बिछौना, पट्टा, चौकी वगैरा ग्रहण करने के लिए उपनिमंत्रण कर रहा हूं। मेरी आज्ञा है, तू उन्हें आवश्यकता के अनुसार अपने काम में ले सकता है। परन्तु तुझे देने से धर्म और तप का लाभ होगा–ऐसा समझ कर निमन्त्रण नहीं कर रहा हूं (यहां धर्म और तप से तात्पर्य संवर निर्जरा से है) इससे यह सिद्ध होता है कि यदि कोई तथारूप असंयत अविरत है, वह गोशालक की भांति चाहे पूर्व गुरु ही क्यों न हो, उसे श्रद्धायुक्त होकर धर्म एवं तप समझ कर उसे प्रासुक निर्दोष देय वस्तु को बहरावे, तो भी एकान्त पाप (मिथ्यात्व) का भागी–श्रमणोपासक बन जाता है। क्योंकि–उसकी श्रद्धा सम्यक् न होने से मिथ्या है।

"पडिलाभाणे" शब्द की व्याख्या–

आगमों में जहां कहीं 'करुणाभाव से' दिया जाता है, वहां "दलयमाणे" पाठ आता है। जहां श्रद्धाभाव से दिया जाता है, वहां "पडिलाभेमाणे" ऐसा पाठ आता है।

अब देखना यह है कि जो श्रमणोपासक का श्रद्धेय है, वह संयत–विरत प्रत्याख्यानी है या असंयत अविरत–अप्रत्याख्यानी है। यदि वह श्रद्धेय–पहले पक्ष में है, फिर तो उसकी श्रद्धा सम्यक् होने से उपादेय है और आत्म तत्त्व पोषक है। शुद्ध श्रद्धेय के उद्देश्य से श्रमणोपासक विवेक पूर्वक जो कुछ भी करता है वह निर्जरा का कारण बन जाता है। उस निर्जरा से कल्याण की परम्परा बन्ध जाती है।

यदि तथारूप असंयत आदि को श्रमणोपासक ने श्रद्धेय

बना रक्खा है, तो वह श्रद्धा असम्यक् होने से हेय तथा त्याज्य है। क्योंकि अशुद्ध श्रद्धा को ही मिथ्यात्व कहते हैं। यदि असाधु-रूप असंयत अविरत को गुरुबुद्धि से निर्जरा तथा मोक्ष आदि महाफल के उद्देश्य से दिया जाता है, तो वह मिथ्यात्व होने से एकान्त पाप है। क्योंकि श्रद्धेय को देते समय ही 'पडिलाभे-माणे' शब्द का प्रयोग किया जाता है।

आज कल की भाषा में मुनिराज को आहार देते हुए 'बहराने' का प्रयोग किया जाता है, परन्तु इतरजनों को देते हुए बहराने का कोई भी प्रयोग नहीं करता। जिनको देने के बदले में महालाभ हो, उसे 'पडिलाभेमाणे' कहते हैं। यद्यपि तीसरे पाठ में 'जाव' कहकर पाठ संकुचित किया है, 'पडिलाभे-माणे' शब्द नहीं दिया, तथापि पहले पाठ से उसकी अनुवृत्ति लेनी चाहिए। यदि 'तहारूवं' और 'पडिलाभेमाणे' ये दो शब्द मूल सूत्र में न दिये होते, तो प्रस्तुत पाठ का अर्थ वही होता, जो भिखमजी ने किया है। उन्होंने तहारूव और पडिलाभे-माणे इन दोनों शब्द का महत्व नहीं समझा, और न उनके मस्तिष्क में यह कभी ध्यान ही आया कि ये दो शब्द क्या महत्व रखते हैं। छद्मस्थ होने से भूल हो सकती है, किन्तु उनकी की हुई उस भूल को सिद्धान्त नहीं समझना चाहिए। बल्कि गलत धारणाओं को बदल देना चाहिये।

★ ★ ★ ★

दान के प्रकार और उनका फल

अपनी वस्तु दूसरों को देना 'दान' कहलाता है। चाहे अन्न हो या पानी, वस्त्र, पात्र, मकान, धन, औषधि, पुस्तक, विद्या आदि अनेक वस्तुएँ दान में दी जाती है, धर्मोपकरण का भी दान होता है। जैनेतर मान्यता में गोदान, कन्यादान, और रतिदान आदि भी माने गये हैं। श्रीमत्स्थानांग सूत्र में दस प्रकार का दान बताया गया है, जिसमें सभी दानों का समावेश हो जाता है। वह सूत्र पाठ यह है,–

"दसविहे दाणे पण्णत्ते, तंजहा,—
अणुकम्पा संगहे चेव, भया कालुणिएतिय।
लज्जाए गारवेणं च, अधम्मे पुण सत्तमे॥
धम्मे अट्ठमे वुत्ते, काहिइय कयंतिय"।

अर्थ–दस प्रकार का दान कहा है, यथा–१ अनुकम्पा दान २ संग्रह दान ३ भय ४ कारुण्य ५ लज्जा ६ गौरव ७ अधर्म ८ धर्म ९ करिष्यति और १० कृतदाय।

१ अनुकम्पा दान–किसी दीन, दुःखी, और रोगी असहाय को उसका दुःख दूर करने के लिये, करुणा बुद्धि से दिया जाने

वाला दान "अनुकम्पादान" कहा जाता है। दुखी प्राणियों की अनुकम्पा-दया करना धर्म है, किन्तु अनुकम्पादान में भी विवेक की आवश्यकता है। जीवन के लिये उपयोगी ऐसे आहार, पानी, वस्त्र, स्थान, औषधि आदि देना तो उचित है, लेकिन व्यसन पोषक, विषय वर्द्धक, ऐसे, भांग, गांजा, तम्बाकू, मदिरा, मांस आदि, इच्छा के आधीन होकर कोई इन वस्तुओं की याचना, या इनकी प्राप्ति के लिये द्रव्य की याचना करे। धीवर, मच्छीमार आदि अपनी आजीविका के साधन जुटाने लिये दीनता पूर्वक द्रव्य मांगे अथवा कोई व्यभिचारी अपनी वासना पूर्ति के लिये दीनता पूर्वक प्रार्थना करे, तो उसकी पूर्ति करने वाला दान अनुचित है-पाप वर्द्धक है। यद्यपि ऐसे दान के याचक भी दीनता बतलाते हैं, वे दीन भी हैं, दुःखी भी, असहाय भी, किन्तु वे अज्ञानी हैं। वे अपने लिये महान् दुखों का संचय करते हैं। इनपर अनुकम्पा लाकर व्यसनादि पाप छुड़ाना ही योग्य है। पाप पूर्ण आजीविका छुड़ा कर, निर्दोष अल्पारंभी आजीविका से लगाकर, धर्म की भावना भरना वास्तविक अनुकम्पा है। भयभीत को निर्भयकरना, निर्दोष एवं निर्बल को, बलवान द्वारा सताये जाते हुवे को बचाना, अभयदान दिलवाना, यह सब अनुकम्पादान में गर्भित है। प्रवृत्यात्मक अहिंसा प्रायः अनुकम्पा दान में सम्मिलित होती है।

अनुकम्पा दान की प्रवृत्ति भी सावद्य और निरवद्य ऐसी दो प्रकार की होती है। जिस दान में सचित वस्तु का प्रयोग हो, सावद्य योग प्रवर्त्तते हों, वह सावद्य है और जिसमें

अचित-निर्दोष वस्तु हो और विवेक पूर्वक निरवद्य योग प्रवृत्ति हो, वह निरवद्य अनुकम्पा दान है।

विवेक पूर्वक दिये हुये अनुकम्पादान से पुण्य होता है। जिस व्यक्ति के हृदय में अनुकम्पा का वास हो, जो दूसरों के दुःखों को देख कर दयार्द्र हो जाता हो, परहित की भावना जिसके हृदय में बस चुकी हो, यदि वह प्रथम गुणस्थानी हो, तो सम्यक्त्व के संमुख होकर सम्यग्दृष्टि हो सकता है।

भव्य जीवों के भव भ्रमण के मुख्य कारण अज्ञान-मिथ्यात्व को जान कर उन्हें मोक्ष मार्ग के संमुख करने रूप उत्कट भाव दया से जीव तीर्थङ्कर गोत्र भी बांध सकता है। इस भाव दया के परिणाम स्वरूप तीर्थङ्कर भगवान् संसार में मोक्षमार्ग का प्रवर्त्तन करते हैं।

अनुकम्पा मिथ्यात्वी को सम्यक्त्व के संमुख करती है और सम्यग्-दृष्टि को विरति के संमुख करती है। पुण्यानुबन्धी पुण्य का एक कारण है। अनुकम्पा से प्रेरित प्राणी सर्व विरत होकर हिंसा से सर्वथा निवृत्त होकर भाव अहिंसक बनता है। द्रव्य अहिंसा स्वर्ग दायिनी है और भाव अहिंसा मोक्ष दायिनी है।

यदि मानवों के हृदय में अनुकम्पा की प्रतिष्ठा होजाय—समस्त संसार दयालु बन जाय, उनमें भाव दया का संचार होजाय, तो संसार में एक सात्त्विक वृत्ति का ही साम्राज्य हो जाय। हिंसा, द्वेष, वैर, विरोध और इर्षा का नाम निशान भी

नहीं रहे। मानव सचमुच मानव बन जाय और मानवभव छोड़कर स्वयं देव बन जाय।

२ संग्रह दान–सहायता प्राप्त करने के लिये दिया जाने वाला दान 'संग्रह दान' कहलाता है।

स्वार्थ वश किसी सम्पन्न व्यक्ति, अधिकारी, देश अथवा राष्ट्र से कोई वस्तु प्राप्त करनी होती है, तब उसे कुछ देना ही पड़ता है। अमेरिका और रुस को अपना प्रभाव क्षेत्र बढ़ाना है, अन्य राष्ट्रों को अपने अनुकूल रखना है, इसलिए ये अन्य राष्ट्रों को आवश्यक वस्तु देते हैं। भारत को अन्न की अधिक आवश्यकता है। भारत एक बड़ा राष्ट्र है। इसमें अपने प्रभाव को बढ़ाने की इच्छा से–बिना मूल्य ही, मानवता के नाम पर सहायता के रूप में दिया गया अन्नादि का दान 'संग्रह दान' में गिना जाता है।

किसी धनवान से संस्था के लिये धन प्राप्त करने की इच्छा से उसे मान सम्मान दिया जाय, अभिनन्दन पत्र अथवा प्रधान पद या संस्था के अधिवेशन का सभापति पद दिया जाय, तो यह भी इसी भेद में माना जायगा। धन पाने की कामना से देश, राष्ट्र, समाज अथवा धर्म की सेवा करना तथा विद्या, कला, गुप्त रहस्य आदि पाने के लिये अध्यापक आदि को दिया गया दान, सेवा, सत्कार आदि भी 'संग्रह दान' के भेद में गिनना उचित है।

तात्पर्य यह कि स्वार्थवश–बदले की भावना से दिया

गया किसी भी प्रकार का दान 'संग्रह दान' है। इस दान का धर्म से सम्बन्ध नहीं है।

३ भयदान—राजा, मन्त्री, रक्षक, अधिकारी और सबल व्यक्ति के भय से बचने के लिये दिया गया दान 'भयदान' कहलाता है। राज्य–भय का निवारण करने, दण्ड या कारागृह से बचने के लिए दी हुई रिश्वत–भयदान है। फैल हो जाने के भय से अध्यापक को, अपना रहस्य अथवा दुराचार को गुप्त रखने के लिये उसके जानने वाले को तथा अनिष्ट गृहों की शान्ति के उद्देश्य से दिया गया दान–भयदान है।

४ कारुण्य दान—पिता, पुत्र, पति आदि प्रियजन के वियोग से दुखित होकर इस निमित्त से दिया जाने वाला दान 'कारुण्यदान' है। कई सम्पत्तिमान् व्यक्ति, अपने प्रियजन के मृत्यु पा जाने पर शोक संतप्त हो, मृतक के शौक की वस्तुएँ तथा धन वस्त्रालंकार का दान करते हैं, गौ-दान, शय्या-दान, पिण्ड-दान, वाहन आदि अनेक वस्तुओं का–'उस मृतात्मा को परभव में सहायक हो' इस प्रकार संकल्प करके दान करते हैं।

इस भेद में वे दान नहीं आते जो किसी संख्या आदि को दान देकर अपने पूज्यजन अथवा प्रिय जन के नाम से जाहिर करते हैं, क्योंकि ऐसे दानों में शोक-आर्त्तध्यान-नहीं होता। ये मात्र परोपकारार्थ ही दिये जाते हैं। हां, यदि इनमें अपना मान संमान बढ़ाने, कीर्ति फैलाने की भावना हो तो ऐसे दान 'गौरव दान' में माने जा सकते हैं।

५ लज्जादान–लाज से प्रेरित होकर दिया हुआ दान 'लज्जादान' है। सभा में बैठे हुए किसी सम्पन्न व्यक्ति से कोई दान मांगे, अथवा किसी धनवान् मनुष्य के पास किसी संस्था के कार्यकर्ता–शिष्टमण्डल-दान लेने आवे। दाता की इच्छा दान देने की नहीं हो, किन्तु आने वाले व्यक्तियों का लिहाज रखकर अथवा लोकलाज से प्रेरित होकर दान देवे तो वह 'लज्जादान' है। ऐसे दाता गर्व से अर्थात् अपनी कीर्ति बढ़ाने के लिये तो नहीं देते, किन्तु आगत याचकों को अथवा समाज की लाज का विचार आने से देते हैं।

अमुक व्यक्ति ने इतनी रकम देदी, यदि मैं इससे अधिक नहीं दूंगा अथवा नहीं दूंगा, तो लोग मेरी बुराई करेंगे, क्योंकि मैं उससे अधिक सम्पन्न और मुखिया माना जाता हूं। इस विचार से दिया जाने वाला दान भी लज्जा दान है।

६ गौरव दान–सम्मान पाने अथवा अपना यश फैलाने की इच्छा से दिया गया दान 'गौरव' दान है। मानार्थी मनुष्य शुभ क्षेत्र में भी दान करता है और अशुभ में भी। लोकोपकारी संस्थाओं अथवा अनुकम्पा के योग्य प्राणियों को कुछ लोग मान पाने की भावना से भी दान करते हैं। ऐसे लोग भी होते हैं जो अपना नाम जोड़ने की शर्त से दान करते हैं। कोई संस्थाओं के भवनों पर अपने नाम का शिला-लेख लगवाते हैं। कोई संस्था के साथ ही अपना नाम जोड़ते हैं। कोई अपना चित्र भी संस्थाओं में रखवाते हैं। मान बढ़ाने की भावना

से उपदेश दान करने वाले साधु भी इस जमाने में मिल सकते हैं। भक्ति से नत मस्तक होने और भगवद्चरण वंदन करने को जाते हुए भी अपनी अपूर्व सजधज और वैभव के कारण गर्व से फूलने वाले दशारणभद्र जैसे भक्त भी—भक्ति में गर्व का अनुभव करने लगते हैं, तो जो याचक के फैले हुए हाथों में अपने ऊंचे हाथ से देने को उद्यत हो—ऐसे दानियों में विरले होंगे—जिनमें गर्व की अनुभूति नहीं हो।

भाट, चारण, गायक, नर्तकी आदि को अपने यशोगान कराने की भावना से, दूसरों से अधिक देने वाले भी होते हैं और सरकार को युद्धादि में अधिक सहायता करके सन्मान पाने वाले भी। गरीबों की सेवा, रोगियों की सहायतार्थ औषधालय, आदि लोकोपकारी काम भी ऐसी भावना से होते हैं। तात्पर्य यह कि जिस दान में वाहवाही पाने की भावना हो, लोगों के हृदयों में आदरपूर्ण स्थान जमाने की इच्छा हो, वह सब गौरवदान है।

संस्थाओं के साथ जुड़े हुए दाता या संस्थापक के नाम मात्र से ही उसे गौरवदान मान लेना भूल होगी। बहुधा ऐसा भी होता है कि परोपकार से प्रेरित होकर ही दाता महोदय दान करते हैं। उन्हें नाम की चाहना नहीं होती, फिर भी उपकार से उपकृत हुए लोग अपनी ओर से दाता अथवा संस्थापक को चिरस्मरणीय रखने के लिये उनका नाम जोड़ देते हैं। ऐसे दान को गौरव दान में गिनना भूल होगी। गौरव

दान में उन्हीं दानों का समावेश होता है जो अपना मान बढ़ाने की इच्छा से ही दिया गया हो।

७ अधर्मदान—जिस दान से अधर्म की पुष्टि हो—वृद्धि हो, हत्या, झूठ, चोरी, व्यभिचार, कलह, द्वेष, मिथ्यात्वादि अधर्म को प्रोत्साहन मिले, वह सब अधर्मदान है।

देवीदेवताओं के आगे पशुओं की बलि चढ़ाना, मांस लोलुप को मच्छी अण्डे आदि देना, मच्छीमार, पारधि अथवा शिकारी को उसके हिंसक काम में आने योग्य साधन देना, मुर्गियों की नश्ल सुधारने, अण्डों की उत्पत्ति बढ़ाने, मच्छियों के उत्पादन को बढ़ाने और मिथ्यात्व को प्रोत्साहन देने वाले साहित्य के प्रचार में दिया हुआ सहयोग—अधर्म दान है। धर्म मानकर कन्या या पत्नी को दान करना, रतिदान देना, तमाखू गांजा, भंग आदि मादक वस्तुओं का दान करना ये सब अधर्म दान है। व्यभिचार की भावना से वेश्या को और भैंसे मुर्गे आदि पशुओं को लड़ाकर मनोरंजन करने वालों को दिया हुआ दान भी अधर्म दान है। जिस दान से आत्मा भारी होती हो, जो धर्म के विपरीत हो, वो सभी अधर्मदान है। अधर्मदान पाप का कारण है और पाप से अधोगति होती है।

८ धर्म दान—जिस दान से धर्म की वृद्धि हो, धार्मिकों का सहायक हो, वह धर्म-दान कहा जाता है।

जिन पवित्र आत्माओं ने संसार सम्बन्ध त्याग दिया, घर बार कुटुम्ब परिवार, स्त्री पुत्रादि को छोड़ दिया और

मात्र धर्म साधना में ही जो तत्पर हुये हैं, मोक्ष साधना ही जिनका ध्येय है, ऐसे धर्मी पुरुषों को संयमी जीवन चलाने में खास उपयोगी ऐसे निर्दोष आहार, पानी, वस्त्र, पात्र, स्थान, औषधि और ज्ञानवृद्धि के साधन पुस्तक आदि देना धर्मदान है। प्रतिमाधारी उत्कृष्ट श्रावक को दान देना भी धर्मदान ही है। मिथ्यात्व को छुड़ा कर सम्यक्त्व के सम्मुख करना, अविरत को व्रती बनाना, देशविरत को सर्व विरत करना भी धर्म सहाय है—दान है। धर्म दान के बराबर दूसरा कोई दान नहीं है। यह दान मोक्ष का प्रमुख कारण है।

९ करिष्यति–प्रत्युपकार की आशा से दिया हुआ दान –करिष्यति दान कहलाता है।

यदि मैं दूसरों को दान करूंगा तो भविष्य में ये लोग मेरे काम में आवेंगे। परभव में मुझे सुख मिलेगा। संकट के समय मेरी रक्षा होगी। अगले जन्म में मुझे कई गुना फल मिलेगा। निरोग शरीर, विपुल भोग सामग्री और बहुत जनों का स्वामी हो सकूंगा। इस प्रकार प्रतिफल की इच्छा से दिया हुआ दान–करिस्यति दान कहलाता है।

१० कृत दान–अपने पर किये हुए उपकारों के बदले में दिया हुआ दान–कृतदान कहलाता है।

इसने मेरा बड़ा उपकार किया। अनेक बार मेरी सहायता की। संकट के समय आश्रय दिया। इसलिये मुझे भी उन उपकारों के बदले में कुछ देना चाहिए। ऐसा सोचकर

दिया जाने वाला दान कृतदान है।

इसने मुझे खिलाया पिलाया था, मेरा आदर सत्कार किया था, मुझे अच्छी नोकरी दिलवाई थी, रोजगार से लगाया था। इसके बापदादा ने मेरे बापदादा पर अनेक उपकार किये थे, इस प्रकार कृतज्ञता की भावना से दिया हुआ दान इस अंतिम भेद में आता है।

इस तरह दस प्रकार के दान का उल्लेख श्री स्थानांग सूत्र में है। इन सभी को 'दान' ही कहते हैं, किन्तु इनका फल भिन्न भिन्न है। सबसे उत्कृष्ट और अनुपम फलदाता सुपात्रदान, शिवपुरी के महायात्री श्रमण भगवंतों को दिया जाता है। इससे उनकी संयम यात्रा में सहायता होती है। दाता मुनियों को पूज्य मानकर भक्ति भाव से निर्दोष आहा-रादि अर्पित करते हैं। सर्वविरत निर्ग्रंथ महात्माओं को प्रतिलाभने से देश विरति की आराधना होती है। मोक्षार्थियों को शुभ भावना से दिया हुआ दान, मोक्ष का कारण होता है। निर्जरा का हेतु है (भ० श० ८ उ० ६) साथ ही पुण्यानुबन्धी पुण्य का प्रबल कारण है। तीर्थङ्कर नामकर्म का उपार्जन करने वाला है। ऐसे दान के अवसरों पर देवताओं द्वारा स्वर्णादि की दिव्य वृष्टि होने का जिनागमों में उल्लेख है।

सुश्रावक भोजन के समय यह भावना करता है कि क्या ही अच्छा हो यदि इस समय समिति, गुप्ति और महाव्रतों के पालक, संसार से विरत और मोक्ष साधना में रत श्रमण

निर्ग्रन्थ महात्मा पधार जाय और मैं उन्हें आदर सहित निर्दोष वस्तु का दान करूं।

धर्मदान की महिमा अवर्णनीय है। इसका दाता मनुष्य और लेने वाला श्रमण (श्रमणभूत श्रावक भी) है। मनुष्य के सिवा अन्य योनियों में इस दान का योग नहीं मिलता।

मिथ्यात्व ही संसार का मूल है। संसार में प्राणी इसीसे नरक निगोद जैसे भयानक दुःख पाता है। जन्म मरणादि दुःखों से त्रास पाते हुए जीवों की भाव दया से प्रेरित होकर जो धर्म सम्पन्न आत्माएँ उन्हें धार्मिक सहायता देकर मिथ्यात्व से मुक्त करते हैं, वे भी धर्म–दाता हैं। अपने माता पितादि उपकारी के उपकारों के ऋण से मुक्त करने में एक मात्र धर्म दान ही समर्थ है। सम्यक्त्व दान महोपकार है। शक्रस्तव में भगवान् तीर्थङ्कर के 'अभय दाता, ज्ञानचक्षु के दाता, मोक्षमार्ग के दाता, शरण दाता, जीवन दाता, बोधि दाता, और धर्मदाता तथा धर्मोपदेश दाता ये विशेषण धर्म–दान की ही महत्ता प्रदर्शित करते हैं। यह धर्मदान, प्राणी के लिये शाश्वत सुख का कारण है। अनन्तानन्त जन्म मरण और संयोग वियोग से छुड़ाने वाला है। इसलिये इसकी सर्वोपरिता में रत्तिभर भी सन्देह नहीं होना चाहिये।

धर्म दान के वाद दूसरे नम्बर में अनुकम्पादान आता है। जिस मनुष्य या प्राणी का हृदय कठोर नहीं होकर कोमल

होगा, उसी के हृदय में अनुकम्पा का वास होगा। दुःखी रोगी और दूसरों से सताये जाने वाले–मारे जाने वाले–प्राणियों की असहाय दशा को देखकर जिसके हृदय में दया का संचार होता है, जो प्राणियों के दुःख को देखकर दुःखी होता है, उनके दुःख मिटाने का प्रयत्न करता है, अपने साधनों को लगाता है, भूखों को अन्न, प्यासे को जल, शीत से ठिठुरते हुए को वस्त्र, निराश्रय को आश्रय और रोगी को औषधि दान करता है, किसी सबल द्वारा सताये और मारे जाते हुये को भयमुक्त करता है, यह सब अनुकम्पादान है। निष्काम अनुकम्पा करने वाला पुण्य का संचय करता है। फल स्वरूप वह स्वर्गादि सुखों का भोक्ता होता है। यदि वह सम्यग्दृष्टि हुआ, तो अहिंसा व्रत का पालक बनकर संसार महासागर के किनारे की ओर बढ़ता ही रहता है और अन्त में आत्मा से परमात्मा बन जाता है। और यदि मिथ्यादृष्टि हुआ, तो सम्यग्दृष्टि भी प्राप्त कर लेता है। जिसके हृदय में अनुकम्पा होती है वही सम्यक्त्व पा सकता है, वही धर्म साधना में आगे बढ़ सकता है। अनुकम्पावान् व्यक्ति क्रूर नहीं होता। उसकी अधोगति नहीं होती। वह उन्नत होता है।

इन दो दानों के अतिरिक्त शेष दानों का फल गुणानुसार होता है जैसे कि–

संग्रहदान से सहायता मिलती है। भयदान से भय दूर होता है। कारुण्य दान से दाता को कुछ संतोष होता है

कि मैंने अपने प्रियजन को स्वर्ग में सुख पहुँचाया। लज्जादान से लाज बचती है। गौरवदान से कीर्ति बढ़ती है। अधर्मदान से मौज शौक की पूर्ति होकर पाप पल्ले बन्धता है। करिष्यति दान से भविष्य में सुख मिलता है। और कृत दान से कृतज्ञता आती है। दान का फल व्यर्थ नहीं जाता। भावनानुसार फल मिलता है। धर्मदान और अनुकम्पादान ही इहलोक और परलोक में सुख शान्ति दे सकते हैं। एकान्त हेय अधर्मदान है, इससे दोनों लोक बिगड़ते हैं। इसका फल असाता वेदनीय रूप में होता है। पाप प्रकृतियों का संग्राहक है। अतएव सुखार्थी मनुष्य को अधर्म दान का त्याग करके धर्म और अनुकम्पा दान करते रहना चाहिये।

उपासक प्रतिमा

देश विरत श्रावक के अभिग्रह विशेष को प्रतिमा कहते हैं। देव और गुरु की उपासना करनेवाला श्रमणोपासक, जब उपासक की प्रतिमा का आराधन करता है, तब वह प्रतिमा-धारी श्रावक' कहलाता है। ये प्रतिमाएँ ग्यारह हैं। यथा–

१ दर्शन प्रतिमा–पहली प्रतिमा में श्रावक सम्यग्दर्शन की आराधना करता है। यों तो वह इसके पूर्व भी सम्यग्दृष्टि होता है, किन्तु उस अवस्था में राजाभियोग आदि छः कारणों से सम्यक्त्व में अतिचार भी लग सकता है, किन्तु इस प्रतिमा

में वह सम्यग्दर्शन का अतिचार रहित–विशुद्ध पालन करता है। वह क्रियावादी, अक्रियावादी आदि मिथ्यादर्शनों की मान्यता को हेय मानकर, विशुद्ध सम्यग्दर्शनी होता है। उसकी क्षमा, निर्लोभता आदि दस धर्म, विरति, संवर तथा तप आदि सभी धर्मों में पूर्ण रूप से रुचि होती है, किन्तु उनका पालन (निरतिचार रूप से) नहीं होता है। यह प्रतिमा एक मास की होती है।

२ व्रत प्रतिमा–प्रथम प्रतिमा की तरह धर्मरुचि पूर्ण-रूप से होती है। इसके सिवाय वह बहुत से शीलव्रत–अणुव्रत गुणव्रत तथा अनेक प्रकार के त्याग प्रत्याख्यान का पालन करता है, किन्तु 'सामायिक' और 'देशावकासिक' व्रत का यथा-तथ्य पालन नहीं करता। यह प्रतिमा दो मास की होती है।

३ सामायिक प्रतिमा–इस प्रतिमा में वह पूर्वोक्त सभी गुणों के अतिरिक्त सामायिक तथा देशावकासिक व्रत का पालन करता है, किन्तु अष्टमी, चतुर्दशी, पूर्णिमा और अमावस्या को प्रतिपूर्ण पौषधोपवास नहीं करता। इस प्रतिमा का काल तीन मास का है।

४ पौषधोपवास प्रतिमा–पूर्वोक्त सभी नियमों के साथ अष्टमी, चतुर्दशी, पूर्णिमा और अमावस्या को प्रतिपूर्ण–पौषध उपवास सहित करता है, किन्तु एक रात्रि की उपासक–प्रतिमा का पालन नहीं करता। यह प्रतिमा चार मास की है।

५ दिवा ब्रह्मचारी रात्रि परिमाण प्रतिमा–इसमें पूर्व प्रतिमाओं के सभी नियमों के साथ एक रात्रि की उपासक–

प्रतिमा का पालन किया जाता है, अर्थात् रात्रि को कायोत्सर्ग किया जाता है। इसके सिवाय निम्न लिखित नियमों का पालन किया जाता है।

१ स्नान करने का त्याग किया जाता है।
२ रात्रि भोजन का त्याग किया जाता है।
३ धोती की लांग खुली रखी जाती है।
४ दिन को ब्रह्मचर्य का पालन किया जाता है।
५ रात्रि में मैथुन का परिमाण किया जाता है।

इस प्रतिमा का पालन जघन्य एक दो या तीन दिन और उत्कृष्ट पांच महीने तक किया जाता है।

६ ब्रह्मचर्य प्रतिमा–पूर्व प्रतिमाओं के सभी नियम पालने के साथ इस प्रतिमा में दिन और रात में पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन किया जाता है। इसमें सचित्ताहार का पूर्ण त्याग नहीं होता। इसका कालमान कम से कम एक दो या तीन दिन और अधिक से अधिक छः मास है।

७ सचित्त त्याग प्रतिमा–पूर्वोक्त छः प्रतिमाओं के साथ इस प्रतिमा में सचित्त वस्तु के आहार का त्याग, विशेष रूप से होता है, किन्तु आवश्यक कार्य का आरम्भ करने का त्याग नहीं होता। इसका काल जघन्य एक दो और तीन दिन का तथा उत्कृष्ट सात माह का है।

८ आरम्भ त्याग प्रतिमा–पूर्वोक्त गुणों के अतिरिक्त इस प्रतिमा में स्वतः के आरम्भ–सावद्य व्यापार करने का

त्याग होता है, किन्तु दूसरों से आरम्भ करवाने का त्याग नहीं होता। इसका काल मान जघन्य एक दो तीन दिन और उत्कृष्ट आठ माह का है।

९ प्रेष्यारम्भ त्याग प्रतिमा—इस प्रतिमा में पूर्व से विशेषता यह है कि वह दूसरों से आरम्भ करवाने का भी त्याग कर देता है, किन्तु "उद्दिष्ट भक्त" (उसके लिए बनाये हुए आहारादि) का त्याग नहीं होता। इस प्रतिमा का काल जघन्य एक दो तीन दिन और उत्कृष्ट नवमास का है।

१० उद्दिष्ट भक्त त्याग प्रतिमा—पूर्वोक्त सभी प्रतिमाओं के नियमों का पालन करते हुए इसमें विशेष रूप से औद्देशिक आहारादि का भी त्याग होता है। वह अपने बालों का उस्तरे से मुण्डन करवाता है अथवा शिखा रखता है। यदि उसे कौटुम्बिक जन, द्रव्यादि के विषय में पूछे, तो वह जानता हो तो कहे कि—मैं जानता हूं और नहीं जानता हो तो कहे कि "मैं नहीं जानता।" इस प्रकार वह कम से कम एक दो और तीन दिन तथा अधिक से अधिक दसमाह तक इस प्रतिमा का पालन करता है।

११ श्रमणभूत प्रतिमा—पूर्वोक्त दस प्रतिमाओं के सभी नियमों का पालन करने के सिवाय इस प्रतिमा का धारक श्रावक, अपने सिर के बालों का या तो मुण्डन करवाता है या फिर लोच करता है, (यह उसकी शक्ति पर निर्भर है) इसके अतिरिक्त वह साधु के आचार का पालन करता है। उसके उपकरण और वेश, साधु के समान ही होते हैं। वह निग्रन्थ

श्रमणों के धर्म का बराबर पालन करता है। मन और वचन से ही नहीं, किन्तु शरीर से भी सभी प्रकार की क्रिया करता है। चलते समय वह युग परिमाण भूमि को देखकर चलता है। यदि मार्ग में त्रस जीव दिखाई दे, तो उनकी रक्षा के लिये सोच समझ-कर इस प्रकार पांव उठाता और रखता है कि जिससे जीव की विराधना नहीं हो, जीवों की रक्षा के लिये वह अपने पांव को संकुचित अथवा टेढ़ा रखकर चलता है, किन्तु बिना देखे सीधा नहीं चलता। उसकी सभी क्रियाएँ साधु के समान होती है। गोचरी के विषय में वह प्रासुक और एषणीय ही ग्रहण करता है, किन्तु उसका अपने सम्बन्धियों से प्रेम सम्बन्ध सर्वथा नहीं छूटता, इसलिये वह उन्हीं के यहां से निर्दोष भिक्षा ग्रहण करता है।

भिक्षार्थ जाने पर उसे मालूम हो कि चावल तो उसके आने के पूर्व ही पक कर आग पर से अलग रखे जा चुके, किन्तु दाल नहीं पकी—पक रही है, तो उसे चावल ही लेने चाहिए, किन्तु बादमें पकने वाली दाल नहीं लेनी चाहिए। इसी प्रकार यदि दाल पहले बन चुकी हो और चावल पकना शेष हो, तो दाल ही लेनी चाहिए—चावल नहीं। जो वस्तु उसके पहुँचने के पूर्व बन चुकी हो और आग पर से अलग रखी जा चुकी हो, वही लेनी चाहिए। बाद में बनने वाली नहीं लेनी चाहिए।

गृहस्थ के यहाँ भिक्षा के लिए जावे तब कहे कि "प्रतिमाधारी श्रमणोपासक को भिक्षा दो।" इस प्रकार की

उसकी चर्या देखकर कोई पूछे कि 'हे आयुष्यमन् ! तुम कौन हो' ? तो उसे उत्तर में कहना चाहिए कि "मैं प्रतिमाधारी श्रमणोपासक हूं"। इस प्रकार इस प्रतिमा का आराधन कम से कम एक दो या तीन दिनरात और उत्कृष्ट ग्यारह मास तक होता है। (दशाश्रुतस्कन्ध दशा ६, समवायांग ११)

पांचवीं प्रतिमा और उसके आगे की प्रतिमा का कालमान जघन्य एक दो तीन दिन का बताया है, इसका कारण बताते हुए टीकाकार लिखते हैं कि एक-दो तीन दिन प्रतिमा पालकर यदि वह वर्धमान परिणाम के कारण दीक्षित हो जाय, तो जघन्य काल होता है × अन्यथा पूरा समय लगता है। सब प्रतिमाओं का कुल पूर्ण समय साढ़े पांच वर्ष (६६ माह) का होता है।

जिन धर्म बन्धुओं की रुचि, संसार से हटकर धर्म साधना में विशेष लगी हो, किन्तु साधु बनने जितनी जिनकी शक्ति नहीं हो, उन्हें प्रतिमा का आराधन अवश्य करना चाहिये। जिनके गृहभार सम्हालने योग्य पुत्रादि हों, उन्हें तो इस ओर अवश्य ध्यान देना चाहिए। यह आवश्यक नहीं है कि उन्हें क्रमशः सभी प्रतिमाओं का पालन करना ही पड़ेगा। वे चाहें

× टीकाकार ने दूसरा कारण आयु पूर्ण होने का भी बताया है, किन्तु यह कोई कारण नहीं लगता, यों तो प्रतिमा धारण करने के एकाध घन्टे बाद भी आयुष्य पूर्ण हो सकता है, फिर दिन का ही विधान क्यों ? अतएव दीक्षा का कारण ही उचित लगता है।

तो किसी एक प्रतिमा का ही पुनः पुनः पालन कर सकते हैं। जैसा कि कार्तिक सेठ ने किया था।

संलेखणा संथारा

संसारी जीव, आयुष्य कर्म के आधार से ही किसी शरीर में स्थिति करते हैं। आयुष्य का क्षय, 'मरण' कहलाता है। जो आयुष्यादि कर्म के उदय से जन्म लेता है, वह अवश्य ही मरता है। मनुष्य अपने उत्कृष्ट पुरुषार्थ से अगला जन्म रोक सकता है अर्थात् वीतरागता प्राप्त कर मुक्त हो जाता है, जिससे उसे आगे पर जन्म की प्राप्ति नहीं होती। किन्तु मृत्यु को नहीं रोक सकता। प्राप्त जन्म और उदयमान आयुष्यादि कर्म को भुगत करके मरना पड़ता है। वीतराग भगवंतों को भी देह त्याग करना ही पड़ता है। इसलिए प्राप्त जन्म का अन्तिम परिणाम, मृत्यु तो होती ही है। इस मृत्यु को मिथ्यादृष्टि और कलुषित परिणामी जीव, अकाम मरण द्वारा बिगाड़ देते हैं, किन्तु श्रमणोपासक तथा श्रमणवर्ग, सकाममरण-पण्डितमरण के द्वारा सुधार लेते हैं। अविरत अवस्था में एवं मिथ्यादृष्टि सहित आयु पूर्ण करना 'अकाम मरण' है। फिर वह किसी भी निमित्त से हो, किन्तु सावधानी पूर्वक आराधना करते हुए देह छोड़ना 'सकाममरण'-पण्डितमरण है। पण्डितमरण 'संथारा' पूर्वक होता है। यह अन्तिम साधना है।

जब यह विश्वास हो जाय कि अब शरीर पड़ने वाला

है। अधिक दिन नहीं चल सकेगा। शरीर की हालत बहुत ही जिर्ण हो गई। रोग अथवा उपसर्ग, उग्ररूप से बढ़ रहा है। शक्ति क्षिण होती जा रही है। उठना बैठना तो दूर रहा, करवट लेना भी कठिन हो रहा है। शरीर के लक्षण भी अन्त समय निकट होने का संकेत दे रहे हैं, तब संथारा किया जाता है। जिन्हें उपसर्ग से बचने की संभावना होती है, वे तो सागारी संथारा करते हैं (ज्ञाता ८ अरहन्नक श्रावक, उपासकदशा २ अंतकृतदशा आदि) किन्तु जिन्हें बचने की संभावना नहीं हो, वे बिना किसी आगार के ही-जीवन पर्यन्त के लिए संथारा कर लेते हैं।

यह संथारा वसति-उपाश्रय में अथवा घर में रहकर भी किया जा सकता है और जंगल में जाकर भी किया जा सकता है। इसके दो भेद हैं-१ पादपोपगमन और २ भक्त-प्रत्याख्यान।

संथारा करनेवाला पहले संथारे का स्थान निश्चित करता है। वह स्थान निर्दोष-जीव जन्तु और कोलाहल से रहित तथा शांत हो। फिर उच्चार प्रस्रवण भूमि (=बड़ी-नीत लघुनीत परठने की जगह) देखकर निर्धारित करता है। इसके बाद संथारे की भूमि का प्रमार्जन करे और उस पर दर्भ आदि का संथारा बिछाकर पूर्व या उत्तर दिशा की ओर मुँह करके बैठ जाय। इसके बाद इर्यापथिकी-गमनागमन का प्रतिक्रमण करे। फिर दोनों हाथ जोड़कर सिद्ध भगवान् एवं

अरिहन्त भगवान् की—'नमुत्थुणं' के पाठ से स्तुति करे। इसके बाद गुरुदेव को वन्दना करके अपने पूर्व के व्रतों का स्मरण करे। उनमें लगे हुए दोषों की आलोचना करके हृदय से खमावे। इसके बाद अठारह पाप और चारों आहार का जीवन भर के लिए त्याग कर दे। इसके बाद उत्साह एवं हर्ष पूर्वक शरीर त्याग की प्रतिज्ञा करता हुआ कहे कि—

"मेरा यह शरीर मुझे अत्यन्त प्रिय था। मैंने इसकी बहुत रक्षा की थी। इसे मैं मूंजी के धन की तरह सँभालता रहा था। मेरा इस पर पूर्ण विश्वास था। इस संसार में यह शरीर मुझे अत्यन्त इष्टकारी था। इसके समान दूसरा कोई प्रिय नहीं था। इसलिए मैंने इसे शीत से, गर्मी से, क्षुधा से, प्यास से, सर्प, चोर, डाँस आदि प्राणियों के उपसर्ग से और रोगों से बचाया। इसकी पूरी लगन के साथ रक्षा की। अब मैं इस शरीर से अपना ममत्व हटाकर इसका त्याग करता हूं, और अन्तिम श्वासोच्छ्वास तक इस शरीर से अपनेपन का सम्बन्ध त्याग देता हूँ।"

इस प्रकार शरीर का त्याग करके धर्मध्यान—अनित्यादि भावना—शुभ परिणति में समय व्यतीत करे और अधिक जीने या शीघ्र मर जाने की इच्छा नहीं करता हुआ तथा दुःखों से नहीं घबराता हुआ, शान्त हृदय से धर्म ध्यान करता रहे, और उस समय जो भी परिषह एवं उपसर्ग उत्पन्न हों, उन्हें लकड़ी के पटिये की तरह निश्चल रहकर सहन करे। यदि सिंह, व्याघ्र, सर्प आदि पशु या पक्षी शरीर को काटे, भक्षण करे,

तो उन्हें मारे नहीं, किन्तु यह सोचे कि–"ये पशु मेरा शरीर खाते हैं, गुण–आत्मा को नहीं खाते।" यह सोचकर मन में दृढ़ता लावे और श्रुतज्ञान के अवलम्बन से आत्मा को अन्त तक धर्म-ध्यान में लगाये रहे।

भक्तप्रत्याख्यान अथवा इंगितमरण (पादपोपगमन के सिवाय) में निर्धारित भूमि के भीतर स्थंडिल आदि के लिये या हाथ पांव अकड़ जाय तो सीधे करने के लिये, हलन चलन किया जा सकता है। हाथ पांव लम्बे या संकुचित किये जा सकते हैं। भक्तप्रत्याख्यान तिविहार और चौविहार प्रत्याख्यान से भी हो सकता है। (आचारांग श्रु. १ अ. ८ उ. ५ से ८) संयमी मुनिवर संलेखना की साधना पहले से शुरु कर देते हैं। इसका जघन्य काल छः महीने, मध्यम एक वर्ष और उत्कृष्ट बारह वर्ष है।

बारह वर्ष की साधना में प्रथम के चार वर्ष तक विगयों का त्याग किया है। दूसरे चार वर्षों में विविध प्रकार का तप किया जाता है। फिर दो वर्ष तक आयम्बिल के पारणे से एकान्तर तप किया जाता है। इसके बाद छः महीने तक अति विकट तप किया जाता है और पारणे में केवल आयम्बिल ही किया जाता है। अन्तिम वर्ष में कोटि सहित (एक तप की पूर्ति के साथ ही दूसरा तप प्रारम्भ कर देने रूप) तप किया जाता है और पारणा आयम्बिल के साथ किया जाता है। इसके बाद एकमास या अर्धमास तक आहार का सर्वथा त्याग कर दिया जाता है। यह जीवन-पर्यन्त का अनशन होता है।

इस प्रकार बारह वर्ष में जीवन के अन्त के साथ यह संलेखणा पूरी होती है। (उत्तरा० ३६)

इसमें लगने वाले अतिचार इस प्रकार हैं-

संलेखणा के पांच अतिचार

१ इहलोकाशंसा प्रयोग—मृत्यु के उपरान्त इसी मनुष्य लोक में सम्राट, राजा, मन्त्री, अथवा सेठ आदि होने की इच्छा करना; मनुष्य सम्बन्धी उत्तम ऐश्वर्य और काम भोग की प्राप्ति चाहना।

२ परलोकाशंसा प्रयोग—स्वर्ग का महर्द्धिक देव अथवा इन्द्र बनने की अभिलाषा करना।

३ जीविताशंसा प्रयोग—मान, प्रतिष्ठा प्राप्त होती देख कर लम्बे काल तक जीवित रहने की इच्छा करना।

४ मरणाशंसा प्रयोग—क्षुधादि अथवा परिषहादि से घबड़ा कर शीघ्र ही मरजाने की भावना करना।

५ कामभोगाशंसा प्रयोग—मनुष्य अथवा देव सम्बन्धी कामभोगों के भोगने की इच्छा करना। (उपासकदशा-१)

उपरोक्त अतिचारों से बचकर संथारे का यथातथ्य रूप से पालन करने से निर्दोष आराधना होती है।

मृत्यु का भय तो मनुष्य के लगा ही हुआ है। न जाने कब, किस स्थिति में जीवन डोरी टूट जाय। इसलिये मृत्यु सुधारने का अभ्यास पहले से ही आरम्भ कर देना चाहिये।

सदैव रात को सोते समय, प्रातःकाल तक के लिये विरति को अधिक से अधिक विकसित कर संलेखणा का अभ्यास चालू कर देना उचित है। इससे अन्तिम साधना सरल हो जाती है।

भावना शतक

(स्व० शतावधानी पं० श्री रत्नचन्द्रजी म०)

सुर समूह को जो अतिप्रिय हैं, कल्पवृक्ष सम सुख के धाम।
इन्द्रपूज्य उन महावीर को, करता हूँ शतवार प्रणाम॥
गुरुओं के गुरु अजरामर का, धरता हूँ मैं मन में ध्यान।
कहता हूँ "भावना-शतक" यह, भव-तम-नाशक दायक ज्ञान।१।

१ अनित्य भावना

जगत-मोहिनी यह लक्ष्मी है, वायु-विकंपित शिखा समान।
अरे मूढ़! इसको पाकर क्यों, हाय! रहा है अपनी मान?॥
इस संपत्ति का मिलना है! केवल मात्र पुण्य आधीन।
ठहरेगी यह नहीं एक क्षण, होगा पुण्य जिस समय क्षीण॥२॥
मात पिता प्रियजन को तजकर, प्यारी जन्मभूमि को छोड़।
सागर लाँघ, कठोर वचन सुन, रखता है जिस धन को जोड़॥
अरे! वही धन बहुत समय तक, स्थिर कभी नहीं रहता।
सागर सम दुःख देने पर भी, नहीं बिंदु सम सुख करता॥३॥

हे लक्ष्मी ! जो जब तेरे हित, सदा कठिन श्रम करता है।
तेरा संचय करके तुझको, बड़े यत्न से रखता है॥
चोरों से रक्षण करता है, लेता सुख की नींद नहीं।
तू न तनिक स्थिर रहती पर, निर्दय ! उसके यहाँ कहीं॥४॥

मानव तन के रोम रोम में, भरे हुए हैं रोग अपार।
कारण पाकर वही रोग सब, आते हैं बाहिर दुखकार॥
फूटे घट के जल सम ही यह, आयु क्षीण होता दिन रात।
रोग भरे इस नश्वर तन से, करता मोह अरे! क्यों भ्रात! ॥५॥

तन दुर्बल होने के भय से, तूने तप, व्रत किया नहीं।
सामायिक एकासन कर के, शुद्ध भाव रस पिया नहीं॥
पुष्ट बनाया जिसे रात दिन, खिला पिला कर भोजन पान।
वह शरीर भी तुझे छोड़ कर, हो जाता है नष्ट निदान॥६॥

भरत समान महाचक्री भी, पाँडव वीर जगत विख्यात।
रावण विजयी रामचन्द्रजी, महाप्रतापी थे हे भ्रात॥
पंजे में पड़ काल सिंह के, हुए वीर वह चकनाचूर।
उन मनुजों की कथा कहों क्या, जो हैं दीन हीन दुःख पूर॥७॥

जिसका तन अति जीर्ण हुआ है, डगमग डगमग चलता है।
चार कदम चलने पर ही जो, काँप कर हा ! गिर पड़ता है॥
उसे देख हँस रहा युवक क्यों, यौवन का यों चढ़ा नशा।
'जाने को है अरे ! जवानी', तेरी होगी यही दशा॥८॥

चित्र विचित्रित महल अतुल बल, सुन्दर बाग रम्य उद्यान ।
चंचल रथ, घोड़े असंख्य वह, यह तेरा कुटुम्ब सुखदान ॥
है कुछ दिन के लिए मूढ़ रे !, यह स्थिर है नहीं कभी ।
जब यह तन भी नहीं रहेगा, क्या रह सकते और सभी ॥९॥

२ अशरण भावना

श्रीजिन कथित धर्म को तज कर, नीति वचन का बंधन तोड़ ।
शांत समाधि भंग सब करके, पाप ताप से नाता जोड़ ॥
देश-विदेशों में फिर कर जो, द्रव्य इकट्ठा करता है ।
वह न मौत से छुड़ा सकेगा, तू जिसके हित मरता है ॥१०॥

प्राणों से प्यारी वह नारी, प्रेम पात्र निज जिसको मान ।
साज सजाने को ही निशदिन, करता है तू पाप महान् ॥
जब तक स्वार्थ सिद्ध होता है, दिखलाएगी प्रेम प्रपंच ।
नहीं मौत से छुड़ा सकेगी, साथ नहीं देगी वह रंच ॥११॥

महामनोहर वन में सुन्दर, मृग समूह क्रीड़ा करता ।
भरता है छलांग वह सुख से, इधर उधर चरता फिरता ॥
आन अचानक दुष्ट सिंह ने, जब मृगशिशु को पकड़ लिया ।
कोई उसे न बचा सके तब, भाग गए नहीं साथ दिया ॥१२॥

तू अति प्रेम मग्न हो जिनकी, इच्छा के हित हा ! निशदिन ।
दीन-हीन मनुजों को ठगकर, करता है रे ! संचय धन ॥
पाप-कपट के फल से तू हा, नरक-दुःख पायेगा जब ।
तेरे बन्धु न तुझे तनिक भी, साथ कभी भी देंगे तब ॥१३॥

जिन पुत्रों के लिए रात दिन, तू धन संचित करता है।
भोले जीवों को तड़पा कर, पाप भार सिर धरता है॥
अरे वृद्ध ! वह पाप तुझे जब, नरकों में जा डालेगा।
वह धनवाला सुत तेरा तब, तुझको नहीं बचावेगा॥१४॥

जिसके घर में था अपार धन, मन मोहक बालाएँ थी।
रथ, घोड़े थे सेवक भी थे, बन्धुजनों की कमी न थी॥
उस गुण-सुन्दर की पीड़ा का, कष्ट न हटा सका कोई।
दीन हीन मनुजों की तब क्या, बात अरे ! है, हे भाई॥१५॥

भू-मण्डल का राज्य, दास, दासी, आभूषण रत्न महान्।
गज-गमनीयुवती, बालाएँ, देने वाली जीवन दान॥
तब तक क्षणिक सुखों को देतीं, जब तक है शुभ पुण्य प्रबल।
पुण्य अंत होने पर होता, आश्रय केवल है श्मशान॥१६॥

चारों गति में घुम घुम कर, दुःख पाता है सारा जग।
धन संपत्ति होती न सहायक, हो जाती है हाय ! विलग॥
जग का रक्षक, सदा सहायक, धर्म मात्र ही है केवल।
हे भाई ! ले शरण धर्म की, सदा उसी के पथ पर चल॥१७॥

३ संसार भावना

हा ! इस जग में दुःखी जीव ने, करके निश दिन पाप अपार।
कल्प काल तक भोगे हैं दुःख, रखकर जन्म मरण का भार॥
चौदह राजू लोक बीच, पुद्‌गल परिवर्तन किए अनन्त।
फिर भी इस संसार जलधि का, आया नहीं अभी तक अंत॥१८॥

शीत घाम पीड़ा प्राणी ने, अकथनीय परवश होकर ।
एक समय में सही अरे ! जो, नर्क योनि में हा ! पड़कर ॥
शत जिव्हा से उसका वर्णन, हो सकता है नहीं कभी ।
दुःख भोगते कल्प काल भी, अन्त न आया हाय अभी ॥१९॥

पुण्य कर्म से जीव कभी यह, हुआ अहो ! सुरपति, नरपाल ।
वही जीव फिर अशुभ कर्म से, हुआ नीच कुल में चांडाल ॥
मनुज योनि में हुआ कभी तो, फिर वह हुआ श्वान, मार्जार ।
फिरते फिरते कभी शांतिमय, पाया नहीं जगत्त का पार ॥२०॥

पिता कभी सुत हो जाता है, नारी हो जाती माता ।
पुत्री हो जाती है नारी, जग का है ऐसा नाता ॥
इस प्रकार इस जग में तूने, नाते किए अनेक विचित्र ।
नहीं जानता एक जन्म में, हुए अठारह नाते मित्र ! ॥२१॥

पा लेते हैं महासिंधु की, नौका द्वारा थाह अपार ।
अश्वों द्वारा पा लेते हैं, महा भयानक बन का पार ॥
और दिव्य गति से चल कोई, पाले पृथ्वी का भी पार ।
पार न पाया पर भवदधि का, करके यत्न अनेक प्रकार ॥२२॥

नृत्य गान होता था जिस घर, हाय हाय हो रही वहां ।
नहीं रोटियां भी मिलतीं, लगता था षट्रस भोग जहां ॥
इस क्षण भंगुर जग में रहता, स्थिर सुख का साज नहीं ।
नहीं अरे ! दिखता इस जग में, दुःख रहित सुख हाय ! कहीं॥२३॥

कोई धन से रहित दुःखी है, कोई महा रोग पीड़ित।
पाता कोई कष्ट मानसिक, पुत्र विरह से हुआ दुखित॥
कोई किसी दुःख में रत है, कोई किसी कष्ट में मग्न।
हा ! इस जग में कोई जन भी, नहीं पूर्ण सुख में संलग्न ॥२४॥

महायुद्ध हो रहा कहीं पर, लाखों जन का संहारक।
कहीं महामारी फैली है, लाखों जीवों की मारक॥
और कहीं दुर्भिक्ष अग्नि हा ! बढ़ी जा रही अति विकराल।
नहीं कहीं भी शांति जगत में, जलती दुःख की ज्वाल कराल॥२५॥

४ एकत्व भावना

यह मेरा घर यह उपवन है, यह हैं रथ, हय, गय मेरे।
यह हैं दासी, दास सभी हा !, यह मेरे सुख के डेरे॥
कहता है मेरी मेरी जग, काल गाल में जब जाता।
हाय अकेला ही जाता तब, कोई साथ न चल पाता ॥२६॥

मृत्यु समय पर प्यारी नारी, घर में रोती रह जाती।
माता ममतामयी द्वार तक, जाती है धुनती छाती॥
मित्र कुटुंबी श्मशान से, आगे जाते नहीं अरे !।
यह तन भी तो जल जायेगा, तुझे अकेला जाना रे ॥२७॥

तेरी प्यारी नारी जो अति, प्रेम भाव दिखलाती है।
हाव भाव से तेरे मन को, जो दिन-रात लुभाती है॥
जब तक स्वार्थ सिद्ध होता है, वह तब तक ही सुख देती।
मृत्यु समय पर एक मिनट का, आश्रय कभी न दे सकती ॥२८॥

देकर धन-वैभव अपार, जिन मित्रों को अपनाता है।
दे उपहार अनेक तरह के, जिनको गले लगाता है॥
गाढ़ प्रेमरस सने मित्र वे, अंत समय आने पर हाय ! ।
नहीं सहायक होंगे तेरे, तुझे छोड़ देंगे असहाय ॥२९॥

निज प्राणों को न्योछावर कर, सेवा कर जोड़ा है धन।
मोह भाव से अरे ! बनाए, तूनें जो ये उच्च भवन॥
मृत्यु वेदना में पड़ जिस दम, तू मूर्छित होगा रे हाय ! ।
नहीं एक क्षण साथ चलेंगे, तुझे छोड़ देंगे असहाय ॥३०॥

धन, जन, वस्त्र, विभव, बल तेरे, जन्म समय पर साथ न था।
नग्न रूप होने पर भी तू, मुट्ठी बांधे आया था॥
बंधी हुई मुट्ठी कहती थी, पुण्य साथ में लाता है।
कहते खुले हाथ यह तेरे, हा ! सब छोड़े जाता है॥३१॥

एक मिनट में अहो इस समय, जन तेतीस मृत्यु पाते।
निर्धन, धनिक सभी मरते पर, साथ नहीं कुछ ले जाते॥
'मेरी भी यह ही गति होगी, साथ नहीं कुछ भी जाता।
हाय जानता हुआ जीव यह, नहीं छोड़ता है ममता॥३२॥

जग में यश फैला था जिनका, थे जो अतिशय नीतिकुशल।
दानी महा वीर बलशाली, ऐसे नृपगण अहो सकल॥
राजा भोज, शाह अकबर से, हुए काल के जब आधीन।
छोड़ गए सब वस्तु यहीं पर, गए अकेले होकर दीन॥३३॥

५ अन्यत्व भावना

मैं हूँ कौन ? कहाँ से आया, मुझे कहाँ पर जाना है।
कौन जगत में मेरा है, इस जग में कहाँ ठिकाना है॥
माता, पिता, पुत्र, नारी यह, मेरे कौन जगत भीतर ?।
किस कारण संबंध हुआ है ? कर विचार इसका हे नर ! ॥३४॥

रथ, घोड़े, हाथी यह वैभव, दासी दास, फौज डेरा।
जिनको तू इस जग में रहकर, कहता है मेरा मेरा॥
कब तक तेरे साथ रहे हैं, और रहेंगे कब तक रे !।
थोड़े दिन के लिए मिले हैं, कर तू हृदय विचार अरे ! ॥३५॥

यह तन आत्मा रूप नहीं है, जड़ स्वरूप है पुद्गल रूप।
इससे भिन्न आत्मा तेरा, शरद्-चन्द्र सा विमल अनूप॥
अरे ! कर्मफल से चेतन से, एक मेक है हुआ शरीर।
जड़ को आतम मानना भ्रम है, जड़वादी सम हे मतिधीर॥३६॥

रोगादिक से पीड़ित हो जब, यह तन दुर्बल होता है।
अविचारी बन अरे ! मूढ़ क्यों ? तू इसके हित रोता है॥
तन के कभी नष्ट होने से, होता नहीं जीव का नाश।
ज्योति स्वरूप अचल अविनाशी, तेरा तो है आतम-प्रकाश॥३७॥

जन्म, बुढ़ापा, मृत्यु, रोग ये पुद्गल के हैं सभी विकार ।
नहीं आत्मा के स्वभाव यह, ऐसा अपने हृदय विचार ॥
कर्म जनित पुद्गल भावों को; क्यों तू अपना कहता है ।
छोड़ अरे! बहिरातमभाव, निज-आत्म नहीं क्यों लखता है ॥३८॥

तू न किसी से पैदा होता, कोई नहिं पैदा करता ।
तू सत्, चित्, आनंद रूप है. ऐसा सारा जग कहता ॥
पुद्गल की संगति होने से, जग तुझको मरता कहता ।
तू न जन्म लेता मरता है, क्यों निज रूप नहीं लखता ॥३९॥

माता, पिता, पुत्र नारी का, योग हुआ जो जग में रे ।
यह सब तुझ से भिन्न रूप है, तू है इनसे भिन्न अरे! ॥
रात्रि समय में पक्षी रहकर, प्रातः उड़ जाते हैं दूर ।
उसी तरह सब आन मिले हैं, हैं वियोग दुख से भरपूर ॥४०॥

पिछले जन्मों में जोड़े हैं, तूने जो संबंध अनेक ।
हुआ नहीं संबंध जिन्हों से, ऐसा जीव न कोई एक ॥
अंत समय वह हुए न साथी, अब क्या देंगे तेरा साथ ।
ममता त्याग न कोई तेरा, है सबही संबंध अनाथ ॥४१॥

६ अशुचि भावना

ऊपर से जो रूप तुझे, क्षण भर को सुन्दर दिखता है ।
उसे देखकर अरे! मूढ़! क्यों, मोह जाल में फँसता है ॥
देख जरा तो भीतर इसके, रोग हजारों का घर है ।
मलिन निन्द्य यह, कौन सुधी जन, इसे कहेगा सुन्दर है ॥४२॥

देख अरे ! यह तन ऊपर से, चमड़े से है मढ़ा हुआ।
नसा जाल है बिखरी इसमें, मांसपिंड है सड़ा हुआ ॥
रक्त पूर्ण मल घड़ा अरे ! यह, मज्जा, मेद, पित्त-कफ-मय।
ऐसे घृणित देह को ज्ञानी, कौन कहेगा शोभामय ॥४३॥

दोनों नेत्र भरे कीचड़ से, कान मैल से बहता है।
श्लेष्म नाक से बहता है रे, मुँह से राल निकलता है ॥
यह उपयोगी अंग सभी हैं, घृणित मैल से सदा भरे।
तब फिर इस शरीर में पावन, वस्तु मिलेगी कहां अरे ! ॥४४॥

जठर देख जो अन्न पचाता, है वह क़ीड़ों का भंडार।
विष्ठा, मूत्र निकट रहता है, चर्म रूप सम बदबूदार ॥
जिससे सदा स्वाद लेता वह, रसना मांस पिंड है रे ! ।
तन का एक भाग भी सुन्दर, नहीं मिलेगा तुझे अरे ! ॥४५॥

कुष्ठ रोग से बाधित कोई, दाद खाज से मढ़ा हुआ।
बवासीर से, उदर शूल से, फोड़ों से है सड़ा हुआ ॥
खांसी,श्वाँस,वमन,ज्वर दुख का, होता रहता कष्ट अहो !।
रोगों के भंडार देह को, क़ौन कहेगा रम्य कहो ॥४६॥

जिसकी संगति से अति सुन्दर, मिष्ट सुगंधित भोजन भी।
अति दुर्गन्धित, कृमि से पूरित. होता क्षण में हाय सभी ॥
मूल्यवान् कपड़े क्षण भर में, तुच्छ मलिन बन जाते हैं।
ऐसी मलिन देह को सुन्दर, क़ौन मूढ़ बतलाते हैं ? ॥४७॥

देवसभा में देवराज ने, अहो! प्रशंसा की सुन्दर।
सुन्दर रूप देखने जिसका, आया सुर इस पृथ्वी पर॥
सनत्कुमार चक्रवर्ती का, क्षण भर में वह सुन्दर तन।
सोलह रोगों से पीड़ित हो, नष्ट हो गया हा! तत् क्षण॥४८॥

घृणित वस्तु से भरे हुए, इस तन को मलिन जानकर नित्य।
अरे! मूढ़!! इससे तू अपना, अंध मोह दे त्याग अनित्य॥
विषय भोग इच्छा को तज कर, करले शीघ्र आत्म कल्याण।
ज्ञान, ध्यान, तपमयी धर्म का, कर सेवन ले पद निर्वाण॥४९॥

७ आश्रव भावना

वस्त्रों के बनने में होता, जैसे सूत मूल कारण।
घट बनने में होती है ज्यों, मिट्टी अहो! मुख्य साधन॥
तृण पैदा करने में होता, बीज मूल कारण है ज्यों।
कर्म बंध का इस जग में, मिथ्यात्व मूल कारण है त्यों॥५०॥

पिता आदि द्वारा संचित धन, होने से अधिकार कभी।
बिना कमाए ही पुत्रों को, मिल जाता ज्यों अहो! सभी॥
उसी तरह पिछले पापों का, इस भव में फल मिलता है।
ज्ञानी जन इसलिए पाप से, सदा विरत ही रहता है॥५१॥

खिड़की अथवा द्वारों से ज्यों, पवन गेह में आता है।
झरने से जल आकर जैसे, सरोवरों में जाता है॥
भोजन पान गले के द्वारा, उदर मध्य ज्यों जाता है।
त्यों प्रमाद से कर्म निरंतर, आत्म द्रव्य में आता है॥५२

रात्रि समय में, निर्जन बन में, निःसहाय जन का ही धन।
हर लेते हैं अहो! चोर गण, रहते हैं भयपूरित मन॥
पर यह दुरित कषाय चोरगण, हा! निर्भय होकर निश दिन।
अशुभकर्म शस्त्रों के बल से,हरते ज्ञान,चरण,शुभधन ॥५३॥

मन की बुरी वासनाओं का, वश में करना कठिन महान।
वर्षा ऋतु का नदी पूर भी लेना रोक कठिन लो जान॥
कर्मों का अति वेग रोकना, महाकठिन भी है तब तक।
मन,वचन,तन की दुष्ट चाल,हा! चलती रहती है जबतक॥५४॥

आत्मा के प्रदेश सब ही जो, असंख्यात हां होते हैं।
कर्मों के अनंत अणुओं से, बँधे हुए सब रहते हैं॥
उनके बंधन के कारण हैं, पांचों आश्रव शत्रु महान।
योग,प्रमाद,अव्रत,मिथ्यात्व,कषाय,ये हैं अतिही दुख खान॥५५॥

मिथ्यात्व के पच्चीस भेद हैं, इतने ही कषाय के भेद।
अव्रत के बारह होते हैं, हैं प्रमाद के पांच विभेद॥
पन्द्रह भेद योग आश्रव के, इस प्रकार से सब मिलकर।
भेद बयासी हो जाते हैं, कहते ऐसा ज्ञानी नर॥५६॥

आश्रव के भेदों को लखकर, देख भयंकर इनका फल।
इन्हें छोड़ने का हे भाई!,करले मन में प्रण निश्चल॥
कर तू इनका ही निरोध अब, आत्म रूप ले शीघ्र निहार।
भजले उत्तम जैन धर्म को, जो है शिव सुख का दातार॥५७॥

८ संवर भावना

अंक रहित सब शून्य व्यर्थ ज्यों,नेत्र हीन को व्यर्थ प्रकाश ।
वर्षा बिना भूमि में बोया, बीज व्यर्थ पाता है नाश ।।
उसी भांति सम्यक्त्व बिना है, जप तप,कष्ट,क्रिया बेकार ।
कभी न उत्तम फल देती है,मिलता कभी न सुख भंडार ।।५८।।

जिससे सुख मिलता न तनिक भी,वह धन,धन न कहाता है ।
वह सुख कभी नहीं कहलाता, जो संतोष न लाता है ।।
वह संतोष नहीं है जिसमें, नहीं आत्मसंयम होता ।
वह न आत्मसंयम होता जो, सम्यग्दृष्टि नहीं पाता ।।५९।।

महा भयंकर व्याधि कभी भी, औषध बिना नहीं मिटती ।
क्षुधा वेदना नहीं कभी भी, भोजन बिना अहो हटती ।।
जल के बिना नहीं बुझती है, जैसे तन की प्यास कहीं ।
कर्मों का आना रुकता त्यों, बिना विरति के कभी नहीं ।।६०।।

अणुव्रत और महाव्रत ये हैं, दो प्रकार व्रत भेद अनूप ।
एक देश से त्याग पाप का, कहलाता है अणुव्रत रूप ।।
और सर्वथा त्याग पाप का, पूर्ण महाव्रत कहलाता ।
साधु महाव्रत पालन करते,श्रावक अणुव्रत मन लाता ।।६१।।

आने से ज्यों दुखद बुढ़ापा, तन है दुर्बल हो जाता ।
रोगोंसे बल घट जाता है, सुयश लोभ से खो जाता ।।
उसी प्रकार प्रमाद योग से, हो जाते गुण नष्ट सभी ।
निज पुरुषार्थ जगा हे भाई, आने दे न प्रमाद कभी ।।६२।।

ज्वर हट जाने से भोजन की रुचि अति ही बढ़ जाती है।
मैल उदर का हट जाने से, शांति जठर में आती है॥
उसी तरह से जब प्रमाद यह, अंतर से हट जाता है।
आत्मिक गुण पैदा होते सब, दोष मूल कट जाता है॥६३॥

होता तीव्र कषाय कभी जब, अशुभ बंध अति होता है।
नर्क और तिर्यञ्च योनि को, जीव उसी से पाता है॥
दोनों भव में दुख देता वह, सुख कर देता नष्ट सभी।
कर दो नष्ट कषायों को तुम, पाओगे सुख साज तभी॥६४॥

अशुभ विचारों से मन रोको, अशुभ काम से रोको तन।
अशुभ कथन से वचन रोकलो, त्यागो विषयों का सेवन॥
सभी अशुभ भावना हटाकर, आत्मिक बल का करो प्रकाश।
धर्म ध्यान का आश्रय लेकर, करो कर्म के दल का नाश॥६५॥

९ निर्जरा भावना

पूर्व जनों ने किस प्रकार से, पाया केवल ज्ञान प्रकाश।
कर्म निर्जरा किस प्रकार की, किया सभी कर्मों का नाश॥
उन सबका अपने मनमें तू, हे भाई ! कर सदा विचार।
आत्म शक्ति हो जागृत जिससे, मिले शांति सुख का भंडार॥६६॥

कुछ संचित कर्मों के क्षय से, देश निर्जरा कहलाती।
कर्मों के संपूर्ण नाश से, पूर्ण निर्जरा हो जाती॥
एक देश निर्जरा सदा, जीवों के होती रहती है।
मोक्ष गमन के समय जीव के, पूर्ण निर्जरा होती है॥६७॥

पर वश से अज्ञान रूप से, कष्ट सहन से अहो कभी।
अपने आप कर्म जो झड़ते, वह अकाम निर्जरा सभी ॥
ज्ञान,ध्यान,तप संयम से जो, कर्म किए जाते हैं नाश।
वह सकाम निर्जरा कहाती, है शुभ आतम रूप प्रकाश ॥६८॥

इच्छा बिना लोक-लज्जा से, शील आदि पालन करना।
सम्यक्त्व रहित कठिन तप करना, नरकों के दुख का सहना ॥
सहना दुख तिर्यंच योनि के, कर्म नष्ट इससे होता।
वह अकाम निर्जरा कहाती, मोक्ष नहीं इससे मिलता ॥६९॥

बाह्य, और अभ्यंतर विधि से, द्वादश विधि तप होता है।
शुद्ध भाव से किया हुआ तप, सर्व श्रेष्ठ कहलाता है ॥
मान, प्रतिष्ठा, धन इच्छा से, जो तप जाता किया सभी।
वह नीची श्रेणी का तप है, देता शिव सुख नहीं कभी ॥७०॥

स्वार्थ रहित भय भीत जनों को, अभय दान दे तू सुख खान।
उत्तम पात्रों को सदैव ही, उचित वस्तु का कर तू दान ॥
शुद्ध भावना गिरि पर चढ़कर, आतम रूप तू अपना लख।
इससे होगी कर्म निर्जरा, पायेगा तू अक्षय सुख ॥७१॥

बाल तपस्वी सहते हैं जो, कष्ट करोड़ों वर्ष महान्।
जितने कर्म नष्ट करते हैं, उस तप से वह नर अज्ञान ॥
ज्ञानी जन उतने कर्मों का, क्षण में कर देते हैं नाश।
ज्ञान निर्जरा का कारण है, मिलता इससे मुक्ति प्रकाश ॥७२॥

तुझे अनंत जन्म के संचित, कर्मों का करना यदि नाश।
तो तू ज्ञान, क्रिया दोनों का, मन में भरले पूर्ण प्रकाश॥
अग्नि और जल जिस प्रकार से, वस्त्र शुद्धि कर देते हैं।
उसी तरह से ज्ञान और तप, कर्मों का क्षय करते हैं॥७३॥

१० लोक भावना

धर्म, अधर्म, जीव, पुद्गल, आकाश, काल, छह द्रव्य सकल।
जिसमें भरे हुए हैं, वह ही कहलाता है लोक अचल॥
जहां एक आकाश मात्र है, वह अलोक कहलाता है।
सभी जगह आकाश द्रव्य है, उसमें सब आ जाता है॥७४॥

इस जग में न लोक का कोई, कभी बनाने वाला है।
और न कोई इसका पालक, नाश न करने वाला है॥
नित्य अनादि लोक है इसमें, जीव अजीवों की जो नित्य।
हानि वृद्धि होती रहती है, वह पर्याय रूप है सत्य॥७५॥

नीचे से लेकर ऊपर तक, है चौदह राजू यह लोक।
लोक मध्य में मेरु नाम का, है पर्वत अति सुख का थोक॥
मध्य लोक सम तोल मेरु से, ऊर्ध्व लोक ऊपर का भाग।
अधो लोक है तल सुमेरु का, होते हैं यों तीन विभाग॥७६॥

मध्यलोक में मनुज और, तिर्यञ्च जीव ही रहते हैं।
शुभ वैमानिक देव, इन्द्रगण, ऊर्ध्वलोक में बसते हैं॥
अधो लोक में जीव नारकी, और असुरगण करत वास।
लोक शिखर पर सिद्ध जीव, करते अक्षय सुखमग्न निवास॥७७॥

अधोलोक लंबा चोड़ा है, राजू सात प्रमाण अहा!।
मध्य लोक लंबा चौड़ा है, राजू एक प्रमाण कहा॥
ऊँचा राजू सात ऊर्ध्व है, ब्रह्म लोक लो पांच विलोक।
फैला पैर, कमर पर कर रख, खड़े पुरुष सम है यह लोक॥७८॥

जिस भू पर रहते सब प्राणी, वह है घनदधि के आधार।
घनदधि, घनवायु आधार है, घनवा तनवा के आधार॥
नभ आधार वायु-तनवा है, लोक अखीर अलोकाकाश।
है अनंत आकाश वहां पर, लोक अनंत सदा अविनाश॥७९॥

अधोलोक के ऊपर, ऊपर, दुख थोड़ा, सुख अधिक महान।
नीचे नीचे दुःख अधिक है, सुख है अल्प यही लो जान॥
सबसे ऊपर लोक शिखर पर, होता है सुख अति उत्कृष्ट।
और लोक के सब से नीचे, दुःख रहता है महा निकृष्ट॥८०॥

है चैतन्य अगुरु लघु वाला, उर्ध्व गमन है सदा स्वभाव।
तैजसादि तन गुरु लघु हैं अति, नीचे जाने का है भाव॥
कर्मलेप से नीचे गिरता, पाता है गति नीच निदान।
कर्मनाश के लिए धर्म कर, जिससे पावे पद निर्वाण॥८१॥

११ बोधिदुर्लभ भावना

पूर्व पाप फल से निगोद, गोले में पड़ा जीव दुखवंत।
सूक्ष्म और बादर शरीर धर, वहाँ विताया काल अनंत॥
निकल वहाँ से पंच स्थावर, गति में भटका काल अनंत।
भोगा कष्ट वहाँ जो इसने, कहते उसे न आता अंत॥८२॥

एकेन्द्रिय में फिरते फिरते, कुछ शुभ कर्म उदय आया।
तब दो इन्द्रिय तेइन्द्रिय में, काल संख्यात कष्ट पाया॥
फिर चौइन्द्रिय में दुख पाया, पंचेन्द्रिय गति फिर पाई।
वहाँ नरक तिर्यञ्च योनि में, कष्ट सहा अति हे भाई!॥८३॥

चारों गति में फिरते फिरते, हाय महा दुख पाया है।
पूर्व जन्म के शुभ कर्मों से, पुण्य उदय जब आया है॥
तब अति दुर्लभ, महाकठिन, इस मनुज योनि को है पाया।
मानो चिन्तामणि हाथों में, किसी भिखारी के आया॥८४॥

मनुज योनि में भी दुर्लभ है, आर्य देश, उत्तम कुल योग।
बड़े पुण्य से मिलता है यह, मानव को अति शुभ संयोग॥
उससे अधिक पुण्य से पाया, सुन्दर तन, विचार गंभीर।
इन्द्रिय शक्ति, स्वस्थ मन का बल, दीर्घ आयु आरोग्य शरीर॥८५॥

पूर्व जन्म का पुण्य योग जब, हुआ प्रगट अति हे भाई!।
तब सुखदायक सभी वस्तुएँ, किसी जीव ने यदि पाई॥
तो अति धीर, संयमी गुरु का, महाकठिन जग में संयोग।
कल्प वृक्ष सम समझो प्रियवर, सत्संगति का मिलना योग॥८६॥

यदि सत्संग महा दुर्लभ भी, पाता अहो ! कभी प्राणी ।
तो उससे अति दुर्लभ मिलना, शांतिप्रदायक जिन वाणी ।
उसको सुनकर बोधि ज्ञान का, पाना कठिन महा जग में ।
जिससे समकित दृष्टि प्राप्त हो, लगता जीव मोक्ष मग में ।।८७।।

महा राज्यसत्ता का पाना, पुण्य योग से कठिन नहीं ।
पाना विजय शत्रुओं पर भी, नहीं जगत में कठिन कहीं ।।
तप बल से सुरपति का वैभव, कठिन नहीं है पा जाना ।
पर अति दुर्लभ बोधिरत्नका, महा कठिन जग में पाना ।।८८।।

जग बन में फिरते दुख पाते, जब शुभ कर्म उदय आया ।
न्याय काकताली सम तूने, सब साधन जग में पाया ।।
फिर भी जग माया में फँस तू, विषयों से लपटाया रे ।
बोधिरत्न को भवदधि में हा ! फेंक रहा क्यों मूढ़ अरे ।।८९।।

१२ धर्म--भावना

सकल सिद्धि, अति दिव्य ऋद्धि, जो आत्मशुद्धि देता सुख रूप ।
उस महान उत्कृष्ट धर्म का, तू विचार ले सत्य स्वरूप ।।
पक्षपात से या हठ से तू, कभी विचार नहीं करना ।
तत्त्वदृष्टि से पक्ष रहित हो, सत्य धर्म मन में धरना ।।९०।।

दुराग्रही मत के मतवाले, कहते 'मेरे सत्य वचन' ।
'मैं कहता हूं वही सत्य है, मेरा ही है सत्य कथन' ।।
उनके इन मिथ्या वचनों पर, कभी न मोहित हो जाना ।
यदि हो ठीक ग्रहण करना, निज बुद्धि कसोटी पर लाना ।।९१।।

जिस योगी ने राग द्वेष का, जड़ से कर डाला है नाश।
जिसके कुछ भी स्वार्थ नहीं है,नहीं ममत्व भाव की पाश ॥
उस उपकारी परमार्थी का, कहा धर्म है सत्य महान।
कर्म रोग का नाशक है वह, है हितकारी पथ्य समान ॥६२।

निज स्वभाव मय सत्य धर्म वह,दो प्रकार है महिमावान।
पहला है श्रुत धर्म दूसरा, है चारित्र धर्म सुखदान ॥
है श्रुत धर्म ज्ञान दर्शनमय, क्रिया रूप चारित्र महान।
दर्शन, ज्ञान, चरित रत्नत्रय, है यह महामुक्ति सोपान ॥६३।

सप्त प्रकृति के क्षय, उपशम से, पाता चौथा गुण स्थान।
सम्यक् दृष्टि रूप होता है, वहां अहो ! श्रुत धर्म महान ॥
एक देश से पूर्ण रूप से, दो प्रकार चारित्र प्रधान।
एक देश होता पंचम में, सर्व देश षष्ठम में मान ॥६४।

कामधेनु सेवन से भी जो, शुभ फल प्राप्त नहीं होता।
कल्पवृक्ष चिमामणि जिसको, नहीं कभी भी दे सकता ॥
और न कोई देव जगत में, दे सकता जो फल सुख दान।
ऐसा अनुपम महा मोक्षफल, देता केवल धर्म महान ॥६५।

तीन लोक में ऐसी कोई, उत्तम वस्तु न सुख दातार।
श्रीजिन कथित धर्म से जिसपर,कर लेता न जीव अधिकार ॥
और न ऐसा कोई दुख है, जो न धर्म से होता नाश।
जग में धर्म महात्म्य अकथ है, देता केवल ज्ञान-प्रकाश ॥६६

दुर्गति कूप पड़े प्राणी का, कर सकता न कोई रक्षण ।
सबका रक्षण करने वाला, एक मात्र है धर्म शरण ॥
है जबतक अनुकूल समय तू, धर्म प्राप्ति का कर शुभ यत्न ।
समय निकल जाने पर फिर तो, होंगे सारे विफल प्रयत्न ॥९७॥

उपसंहार

जो प्राणी एकान्त जगह में, दृढ़ आसन से, कर मन वश ।
आदर सहित विचार करेगा, भव्य भावनाएँ द्वादश ।
दोष कषाय शमन सब होगा, हृदय शांति रस से हो पूर ।
ज्ञान-दीप की ज्योति जगेगी, आधि-व्याधि सब होगी दूर ॥९८॥

लोंकागच्छ मध्य मणि जैसे, जग प्रसिद्ध मुनि गण नायक ।
श्री अजरामर स्वामी हुए हैं, जग जीवों को सुखदायक ॥
शिष्य हुए श्री देवराज जी, शिष्य मौनसिंह उनके जान ।
उनके शिष्य देवजी स्वामी, श्री नत्थूजी शिष्य सुजान ॥९९॥

उनके शिष्य गुलाबचन्द्रजी, वीरचन्द्र अग्रज गुणवान ।
उनके पद पंकज के सेवक, रत्नचन्द्र मुनि जग सुख दान ॥
इक नव षट् द्वय शुभ संवत् में, ग्राम थानगढ़ में रहकर ।
दीपावलीको विविध छन्दमय, रचा ग्रन्थ यह अति सुखकर॥१००॥

श्रीमद् रत्नचन्द्र मुनिवर हैं, विद्वानों में रत्न महान ।
उनका यह भावना-शतक है, देने वाला उज्ज्वल ज्ञान ॥
इसके शांतिशुधा की सरिता, हृद्-तल में लहराती है ।
जग से विलग-"भक्तवत्सल की", भक्ति हृदय में आती है॥१०१॥

निर्जरा

बाह्य तप

शरीर और कर्मों को तपाना तप है। जैसे अग्नि में तपा हुआ सोना निर्मल होकर शुद्ध होता है, उसी प्रकार तप रूप अग्नि से तपी हुई आत्मा, कर्म मल से रहित होकर शुद्ध स्वरूप हो जाती है। तप दो प्रकार का है–बाह्य तप और आभ्यन्तर तप, बाह्य शरीर से सम्बन्ध रखने वाले तप को बाह्य तप कहते हैं। इसके छः भेद हैं–

१ अनशन–आहार का त्याग करना अनशन तप है। इस के दो भेद हैं–इत्वर और यावत्कथिक। उपवास से लेकर छः मास तक का तप इत्वर * अनशन है। भक्त परिज्ञा, इंगित मरण और पादपोपगमन मरण रूप अनशन-यावत्कथिक अनशन है।

२ ऊनोदरी–जिसका जितना आहार है, उससे कम आहार करना ऊनोदरी तप है। आहार की तरह आवश्यक उपकरणों से कम उपकरण रखना भी ऊनोदरी तप है। आहार एवं उपकरणों में कमी करना द्रव्य ऊनोदरी है। क्रोधादि का त्याग भाव ऊनोदरी है।

---

* प्रवचनसारोद्धार में उत्कृष्ट इत्वर अनशन तप इस प्रकार बताया गया है–भगवान् ऋषभदेव के शासन में एक वर्ष, मध्य के बाईस तीर्थङ्करों के शासन में आठ मास और भगवान् महावीर के शासन में छः मास।

३ भिक्षाचर्या–विविध अभिग्रह लेकर भिक्षा का संकोच करते हुए विचरना 'भिक्षाचर्या' तप है। अभिग्रह पूर्वक भिक्षा करने से वृत्ति का संकोच होता है। इसलिए इसे 'वृत्ति संक्षेप' भी कहते हैं। उववाई सूत्र १९ में इस तप का वर्णन करते हुए भिक्षा के अनेक अभिग्रहों का वर्णन है।

४ रस परित्याग–विकार जनक दूध, दही, घी आदि विगयों का तथा प्रणीत (स्निग्ध और गरिष्ठ) खान पान की वस्तुओं का त्याग करना 'रस परित्याग' है।

५ कायाक्लेश–शास्त्र सम्मत रीति से शरीर को क्लेश पहुंचाना कायाक्लेश है। उग्र वीरासनादि आसनों का सेवन करना, लोच करना, शरीर की शोभा शुश्रूषा का त्याग करना आदि कायाक्लेश के अनेक प्रकार हैं।

६ प्रतिसंलीनता–प्रतिसंलीनता का अर्थ है 'गोपन करना'। इसके चार भेद हैं–इन्द्रिय प्रतिसंलीनता, कषाय प्रतिसंलीनता, योग प्रतिसंलीनता और विविक्त शय्यासनता।

शुभाशुभ विषयों में राग द्वेष त्याग कर इन्द्रियों को वश में करना 'इन्द्रिय प्रतिसंलीनता' है।

कषायों का उदय न होने देना और उदय में आई हुई कषायों को विफल करना 'कषाय प्रतिसंलीनता' है।

अकुशल मन, वचन, काया के व्यापारों को रोकना तथा कुशल व्यापारों में उदीरण (प्रेरणा) करना योग 'प्रतिसंलीनता' है।

स्त्री, पशु, नपुंसक के संसर्ग से रहित एकान्त स्थान में

रहना विविक्त शय्यासनता है।

ये छः प्रकार के तप, मुक्ति-प्राप्ति के बाह्य अंग हैं। ये बाह्य द्रव्यादि की अपेक्षा रखते हैं और प्रायः बाह्य शरीर को ही तपाते हैं, अर्थात् इनका शरीर पर अधिक असर पड़ता है। इन तपों का करने वाला भी लोक में तपस्वी रूप से प्रसिद्ध हो जाता है। अन्यतीर्थिक भी स्वाभिप्रायानुसार इनका सेवन करते हैं। इत्यादि कारणों से ये तप–बाह्यतप कहे जाते हैं

इत्वरिक अनशन के छः भेद

अनशन के दो भेद हैं–इत्वरिक अनशन और मरण काल अनशन। इत्वरिक अनशन में भोजन की आकांक्षा रहती है। इसलिये इसे 'साकांक्ष अनशन' भी कहते हैं। मरण काल अनशन यावज्जीव के लिये होता है। इसमें भोजन की बिलकुल आकांक्षा नहीं होती, इसलिये इसे 'निःकांक्ष अनशन' भी कहते हैं। इत्वरिक अनशन के छः भेद हैं–

१ श्रेणी तप–श्रेणी का अर्थ है क्रम या पंक्ति। उपवास, बेला, तेला आदि क्रम से किया जाने वाला तप–श्रेणीतप हैं। यह तप उपवास से लेकर छःमास तक का होता है।

२ प्रतर तप–श्रेणी को श्रेणी से गुणा करना प्रतर है। प्रतर युक्त तप प्रतर–तप है। जैसे–उपवास, बेला, तेला और चोला इन चार पदों की श्रेणी है। श्रेणी को श्रेणी से गुणा

करने पर सोलह पद होते हैं। प्रतर, आयाम विस्तार (लम्बाई चौड़ाई) में बराबर होता है। प्रतर की स्थापना का तरीका यह है–प्रथम पंक्ति में एक, दो, तीन, चार रखना। दूसरी पंक्ति में दो से आरम्भ करना और तीसरी और चौथी क्रमशः तीन और चार से आरम्भ करना। इस प्रकार रखने में पहली पंक्ति पूरी होगी और शेष अधूरी रहेंगी। अधूरी पंक्तियों को यथा योग्य आगे की संख्या और फिर क्रमशः बची हुई संख्या रखकर पूरी करना चाहिए। स्थापना यह है–

१	२	३	४
२	३	४	१
३	४	१	२
४	१	२	३

३ घन तप–प्रतर को श्रेणी से गुणा करना 'घन' है। यहां सोलह को चार से गुणा करने पर आई हुई चौंसठ की संख्या घन है। घन से युक्त तप; घनतप है।

४ वर्ग तप–घन को घन से गुणा करना वर्ग है। यहाँ चौंसठ को चौंसठ से गुणा करने पर आई हुई ४०९६ की संख्या वर्ग है। वर्ग से युक्त तप वर्ग तप, है।

५ वर्ग वर्ग तप–वर्ग को वर्ग से गुणा करना वर्ग वर्ग है। यहां ४०९६ को ४०९६ से गुणा करने पर आई हुई १६७७७२१६ की संख्या वर्ग वर्ग है। वर्ग वर्ग से युक्त तप

वर्ग वर्ग तप है।

६ प्रकीर्ण तप–श्रेणी आदि की रचना न कर यथा-शक्ति फुटकर तप करना 'प्रकीर्ण तप' है। नवकारसी से लेकर यवमध्य, वज्रमध्य, चन्द्र प्रतिमादि सभी प्रकीर्ण तप हैं।

आभ्यन्तर तप

जिस तप का सम्बन्ध आत्मा के भावों से हो, उसे आभ्यन्तर तप कहते हैं। इसके छः भेद हैं–

१ प्रायश्चित्त–जिससे मूल गुण और उत्तरगुण विषयक अतिचारों से मलिन आत्मा शुद्ध हो, उसे 'प्रायश्चित्त' कहते हैं। अथवा–प्रायः का अर्थ पाप और चित्त का अर्थ है शुद्धि। जिस अनुष्ठान मे पाप की शुद्धि हो उसे 'प्रायश्चित्त' कहते हैं।

२ विनय–आठ प्रकार के कर्मों को अलग करने में हेतु रूप क्रिया विशेष को 'विनय' कहते हैं। अथवा सम्माननीय गुरुजनों के आने पर खड़ा होना, हाथ जोड़ना, उन्हें आसन देना, उनकी सेवा शुश्रूषा करना आदि 'विनय' कहलाता है।

३ वैयावृत्त्य–धर्म साधन के लिए गुरु, तपस्वी, रोगी, नवदीक्षित आदि को विधिपूर्वक आहारादि लाकर देना और उन्हें संयम में यथाशक्ति सहायता देना 'वैयावृत्त्य' कहलाता है।

४ स्वाध्याय–अस्वाध्याय टाल कर मर्यादापूर्वक शास्त्रों का अध्ययन अध्यापन आदि करना 'स्वाध्याय' है। स्वाध्याय के

पाँच भेद हैं–वाचना, पृच्छना, परिवर्त्तना, अनुपेक्षा और धर्म–कथा।

५ ध्यान–आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान को छोड़कर धर्मध्यान और शुक्लध्यान करना 'ध्यान तप' कहलाता है।

ध्यान–एक लक्ष्य पर चित्त को एकाग्र करना ध्यान है। अथवा छद्मस्थों का अन्तर्मुहूर्त्त परिमाण एक वस्तु में चित्त को स्थिर रखना 'ध्यान' कहलाता है। एक वस्तु से दूसरी वस्तु में ध्यान के संक्रमण होने पर ध्यान का प्रवाह चिर काल तक भी हो सकता है। जिन भगवान् का तो योगों का निरोध करना ध्यान कहलाता है। ध्यान के चार भेद हैं–१ आर्त्त–ध्यान २ रौद्रध्यान ३ धर्मध्यान ४ शुक्लध्यान।

१ आर्त्तध्यान–ऋत अर्थात् दुःख के निमित्त या दुःख में होने वाला ध्यान 'आर्त्तध्यान' कहलाता है। अथवा आर्त्त अर्थात् दुःखी प्राणी का ध्यान 'आर्त्तध्यान' कहलाता है।

अथवा–मनोज्ञ वस्तु के वियोग एवं अमनोज्ञ वस्तु के संयोग आदि कारण से चित्त की घबराहट आर्त्तध्यान है।

अथवा–जीव मोहवश राज्य का उपभोग, शयन, आसन, वाहन, स्त्री, गंध, माला, मणि, रत्न, विभूषणों में जो अतिशय इच्छा करता है वह आर्त्तध्यान है।

रौद्रध्यान–हिंसा, झूठ, चोरी, धन रक्षा में मन को जोड़ना 'रौद्रध्यान' है।

अथवा—हिंसादि विषय का अतिक्रूर परिणाम, रौद्रध्यान है।

अथवा—हिंसोन्मुख आत्मा द्वारा प्राणियों को रुलाने वाले व्यापार का चिन्तन करना रौद्रध्यान है।

अथवा—छेदना, भेदना, काटना, मारना, वध करना, प्रहार करना, दमन करना, इनमें जो राग करता है और जिसमें अनुकम्पा भाव नहीं है। उस पुरुष का ध्यान रौद्रध्यान कहलाता है।

३ धर्मध्यान—धर्म अर्थात् आज्ञादि पदार्थ स्वरूप के पर्यालोचन में मन को एकाग्र करना, धर्मध्यान है।

अथवा—श्रुत और चारित्र धर्म से सहित ध्यान, धर्म-ध्यान कहलाता है।

अथवा—सूत्रार्थ की साधना करना, महाव्रतों को धारण करना, बन्ध और मोक्ष तथा गति-आगति के हेतुओं का विचार करना, पंचइन्द्रियों के विषय से निवृत्ति और प्राणियों में दया भाव, इनमें मन की एकाग्रता का होना धर्मध्यान है।

अथवा—जिन भगवान् और साधु के गुणों का कथन करने वाला, उनकी प्रशंसा करने वाला, विनीत, श्रुतिशील और संयम में अनुरक्त आत्मा धर्मध्यानी है। उसका ध्यान धर्म-ध्यान कहलाता है।

४ शुक्ल ध्यान—पूर्व विषयक श्रुत के आधार से मन

ो अत्यन्त स्थिरता और योग का निरोध शुक्लध्यान हलाता है।

अथवा–जो ध्यान आठ प्रकार के कर्म-मल को दूर रता है। अथवा जो शोक को नष्ट करता है वह ध्यान शुक्ल ध्यान है।

पर अवलम्बन बिना शुक्ल–निर्मल आत्मस्वरूप की न्मयता पूर्वक चिन्तन करना शुक्लध्यान कहलाता है।

अथवा–जिस ध्यान में विषयों का सम्बन्ध होने पर ी वैराग्य वल से चित्त बाहरी विषयों की ओर नहीं जाता, ाथा शरीर का छेदन भेदन होने पर भी स्थिर हुआ चित्त, ध्यान से लेश मात्र भी नहीं डिगता। उसे शुक्लध्यान कहते हैं।

६ व्युत्सर्ग–ममता का त्याग करना व्युत्सर्ग तप है। यह द्रव्य और भाव से दो प्रकार का है। गण, शरीर, उपधि और आहार का त्याग करना 'द्रव्य–व्युत्सर्ग' है। कषाय, संसार और कर्म का त्याग करना 'भाव–व्युत्सर्ग' है।

आभ्यन्तर तप मोक्ष प्राप्ति में अन्तरंग कारण है। अन्तरदृष्टि आत्मा ही इसका सेवन करता है और वही इन्हें तप रूप से जानता है। इसका असर बाह्य शरीर पर नहीं पड़ता, किन्तु आभ्यन्तर राग द्वेष कषाय आदि पर पड़ता है। लोग इसे देख नहीं सकते। इन्हीं कारणों से उपरोक्त छः प्रकार की क्रियाएँ 'आभ्यन्तर तप' कही जाती हैं।

श्रावक के मनोरथ

श्रमणोपासक तीन मनोरथों का चिंतवन करता हुआ कर्मों की महानिर्जरा करता है, संसार को परिमित करता है और महत्वशाली परिणाम पर पहुँचता है 'और अन्त में सब दुःखों से मुक्त होकर अक्षय एवं अव्यय रूप मोक्ष सुख प्राप्त करता है। वे तीन मनोरथ ये हैं;-

१ मैं कब थोड़ा या बहुत मर्यादित परिग्रह का भी परित्याग करूँगा, वह दिन मेरे लिए परम कल्याण का होगा। परित्याग का अर्थ कोशों में 'दान' लिया है। शासनोन्नति के लिए, प्रवचन प्रभावना के लिए, श्री संघ के विकास के लिए, दूसरे को धर्म में स्थिर करने के लिए, सहधर्मी भाइयों की सहायता के लिए, श्रुत सेवा के लिए, चतुर्विध श्री संघ पर आई हुई विपत्ति को हटाने के लिए,इत्यादि अनेक शुभ कार्य के लिए परित्याग (दान) करूँ। यों मन में उदारता रक्खे, वचन से उपर्युक्त शब्द बोले, काया से यथाशक्ति देता रहे। भगवान् ने तृष्णा बढ़ाने के लिए नहीं कहा, बल्कि घटाने के लिए कहा है। तृष्णा घट जाने से ही मन बाह्य खटपट से शान्त होकर धर्मध्यान में प्रवृत्त हो सकता है।

२ श्रमणोपासकजी, प्रतिदिन ऐसा चिन्तन करे कि कब मैं आरम्भ परिग्रह का सर्वथा परित्याग करके आगार धर्म से अनगार धर्म को अपनाऊँ। द्रव्य और भाव से मुण्डित

होकर १० प्रकार का श्रमणधर्म, १७ प्रकार का संयम, ३२ प्रकार का योग संग्रह, १२ प्रकार का तप, व अनगार के २७ गुणों से युक्त होकर वीतराग प्रभु की आज्ञा का पालन करते हुए विचरूँ। वह दिन मेरे लिए कल्याण का होगा। इस प्रकार इस मनोरथ को मन, वचन और काया से आराधना करे। जैसे कि मन में साधुता के प्रति श्रद्धा-आदर रक्खे, वचन से साधुता की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा करे अथवा दूसरे मनोरथ के शब्द बोले और काया से यथाशक्य साधुता की, सामायिक, संवर, दया, पौषध आदि से आराधना करता रहे।

पडिमाओं की आराधना करना भी यत् किंचित् रूपेण साधुता की आराधना ही है।

३ श्रमणोपासक प्रतिदिन चिन्तवन करे कि कब मैं पाप स्थानों की सर्व प्रकार से आलोयणा करके निःशल्य बनूं। सभी जीवों से क्षमापना करके १८ पाप, तथा चारों प्रकार के आहार का परित्याग करूँ, अतिप्रेम से पालन पोषण किये हुए इस शरीर से ममत्व हटाकर, अन्तिम श्वासोच्छ्वास में उसे वोसिरा कर, तीन आराधना और चार शरण सहित आयुष्य पूर्ण करूं। वह दिन मेरे लिये परम कल्याण का होगा जिस दिन इस मनोरथ को मन, वचन, काया से सफल बनाऊँ। जैसे कि—मेरा सकाम मरण हो—ऐसी मन में भावना रखना, वचन से मनोरथ के शब्दों का उच्चारण करना और काया से—रोग, आतङ्क, उपद्रव, उपसर्ग आदि होने पर सागारी संथारा करते रहना।

तीनों मनोरथ संसार से पार करने वाले हैं। क्रम से

कम यदि ऐसी भावना भाने के लिये समय अधिक न मिले, तो प्रातः सायं दोनों समय अवश्य मनोरथ को सफलीभत करना चाहिये।

बन्ध तत्त्व

आत्मा, अनादिकाल से जड़ कर्मों से बँधा हुआ है। जन्म, जरा, मरण, रोग, शोक आदि विविध अवस्थाएँ कर्म के उदय से ही होती हैं। कर्मबद्ध आत्मा स्वयं क्रिया करता हुआ, कर्म बन्धन में बँधता है और उन कर्मों के उदय में आने पर फल भोगता है। यहां बन्ध तत्त्व में कर्मों के बन्ध के भेद बताये जाते हैं।

मूल कर्म आठ प्रकार के हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं—

१ ज्ञानावरणीय, २ दर्शनावरणीय, ३ वेदनीय, ४ मोहनीय, ५ आयु, ६ नाम, ७ गोत्र और ८ अन्तराय।

कर्मों के लक्षण--१ जिसके द्वारा ज्ञान ढँका जाय, उसे ज्ञानावरणीय कर्म कहते हैं। जैसे बादलों से सूर्य ढँक जाता है। २ जो वस्तु के सामान्य धर्म को जाने, उसे दर्शन कहते हैं। उस दर्शन को आच्छादित करने वाले कर्म को दर्शनावरण कहते हैं। जैसे द्वारपाल की रुकावट के कारण राजा के दर्शन नहीं हो पाते। ३ जिस कर्म के द्वारा साता और असाता का अनुभव हो, उसे वेदनीय कर्म कहते हैं। जैसे शहद लपेटी तलवार के चाटने से सुख और दुख होता है। ४ जिससे आत्मा मोहित —सत् और असत् के ज्ञान से शून्य हो जाय, उसे मोहनीय कर्म

कहते हैं। ५ जिस कर्म के उदय से जीव, चार गतियों मे रुका रहे उसे आयुष्य कर्म कहते हैं। जैसे बेड़ी में जकड़ जाने से जीव रुक जाता है--पराधीन हो जाता है। ६ जिस कर्म से आत्मा, गति आदि नाना पर्यायों का अनुभव करे–शरीर आदि बने या जो जीव के अमूर्तत्व गुण को न प्रगट होने दे, उसे नाम कर्म कहते हैं। जैसे चित्रकार तरह–तरह के चित्र बनाता है। ७ जिस कर्म के उदय से जीव ऊँच, नीच कुलों में उत्पन्न होवे उसे गोत्र कर्म कहते हैं। जैसे कुम्हार छोटे बड़े बर्तन बनाता है। ८ जिस कर्म से दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य (शक्ति) में विघ्न पड़े, उसे अन्तराय कर्म कहते हैं। जैसे राजा की आज्ञा होने पर भी भण्डारी दान प्राप्ति में विघ्न डाल देता है।

कर्मों की प्रकृतियां

आठ कर्मों की १४८ प्रकृतियाँ हैं। वे इस प्रकार हैं–ज्ञानावरणीय की ५, दर्शनावरणीय की ९, वेदनीय की २, मोहनीय की २८, आयु कर्म की ४, नाम कर्म की ९३, गोत्र कर्म की २ और अन्तराय कर्म की ५ प्रकृतियां हैं।

प्रकृतियों के नाम

१ ●ज्ञानावरण की प्रकृतियाँ–१ मतिज्ञानावरणीय,

● ज्ञानावरण कर्म से ज्ञान का सर्वथा अभाव नहीं होता, सिर्फ अव्यक्त हो जाता है। जैसे बादलों से सूर्य का अभाव नहीं हो जाता, केवल अप्रगट हो जाता है।

२ श्रुतज्ञानावरणीय, ३ अवधिज्ञानावरणीय, ४ मनःपर्याय-ज्ञानावरणीय, ५ केवलज्ञानावरणीय ।

२ दर्शनावरणीय की प्रकृतियां—१ निद्रा, २ निद्रानिद्रा ३ प्रचला, ४ प्रचलाप्रचला, ५ स्त्यानगृद्धि, ६ चक्षुर्दर्शनावरण, ७ अचक्षुर्दर्शनावरण, ८ अवधिदर्शनावरण, ९ केवलदर्शनावरण ।

जिसके उदय से सुख होवे और सुख से जाग उठे, उसे निद्रा प्रकृति कहते हैं । जिसके उदय से ऐसी निद्रा आवे जो आवाज देने से टूटे, उसे निद्रानिद्रा प्रकृति कहते हैं । जिसके उदय से बैठे बैठे नींद आ जावे, उसे प्रचला कहते हैं । जिसके उदय से चलते फिरते नींद आजावे, उसे प्रचलाप्रचला कहते हैं । जिसके उदय से जागृत अवस्था में सोचा हुआ कार्य, सुप्त अवस्था में कर डाले, उसे * स्त्यानगृद्धि प्रकृति कहते हैं ।

३ वेदनीय की प्रकृतियां—१ सातावेदनीय, २ असाता-वेदनीय ।

---

* इस निद्रा में वासुदेव का आधा बल तक आ जाता है । उस समय जीव इसी निद्रा में उठ कर पेटी खोलता है, उसमें से गहनों का डिब्बा निकाल कर कपड़े में पोटली बांधता है और नदी किनारे जाकर एक हजार मन की शिला ऊँची उठा कर पोटली को नीचे दबा देता है और नदी में कपड़े धो करके घर चला आता है । लेकिन जागने पर कुछ भी स्मरण नहीं रहता । छह महीने पश्चात् जब दूसरी बार ऐसी निद्रा आती है, तब फिर वहाँ जाकर वही डिब्बा उठा लाता है और जहाँ का तहाँ रख देता है । ऐसी निद्रा में यदि मृत्यु हो जाय और आयु कर्म न बँध चुका हो, तो नरक गति में जाता है । यह उत्कृष्ट स्त्यानगृद्धि की बात है ।

४ मोहनीय कर्म की प्रकृतियां–मोहनीय कर्म के मुख्य दो भेद हैं–१ दर्शन मोहनीय, २ चारित्र मोहनीय। दर्शन मोहनीय की ३ प्रकृतियाँ हैं–१ मिथ्यात्व, २ सम्यक् मिथ्यात्व (मिश्र) और ३ सम्यक्त्व मोहनीय। चारित्र मोहनीय के भी दो भेद हैं–कषाय मो० और नोकषाय मो०। कषाय मो० के सोलह भेद हैं–अनन्तानुबन्धी– १ क्रोध २ मान ३ माया ४ लोभ। अप्रत्याख्यानी ५ क्रोध, ६ मान, ७ माया, ८ लोभ। प्रत्याख्यानावरण– ९ क्रोध, १० मान, ११ माया, १२ लोभ। संज्वलन– १३ क्रोध, १४ मान, १५ माया, १६ लोभ। नोकषाय * के नौ भेद हैं–१ हास्य, २ रति, ३ अरति, ४ भय, ५ शोक, ६ जुगुप्सा, ७ स्त्रीवेद, ८ पुरुषवेद, ९ नपुंसकवेद। ये सब मिलाकर अट्ठाईस भेद हैं।

५ आयु कर्म की प्रकृतियाँ–१ नरकायु, २ तिर्यञ्चायु, ३ मनुष्यायु, ४ देवायु।

६ नाम कर्म की प्रकृतियाँ–४ चार गति (नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य, देव), ५ जाति (एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय), ५ शरीर (औदारिक, वैक्रियक, आहारक, तैजस, कार्मण) ३ अंगोपांग (औदारिक, वैक्रियक, आहारक) ५ बन्धन (औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस, कार्मण) ५ संघात (औदारक, वैक्रिय, आहारक, तेजस, कार्मण) ६ संस्थान (समचतुरस्र, न्यग्रोधपरिमण्डल, सादि, कुब्जक,

* हास्य आदि, कषायों को उत्तेजित करते हैं और उनके सहचारी हैं। इसलिये उन्हें नौ (ईषत्) कषाय कहते हैं।

वामन, हुण्डक) ६ संहनन (वज्रऋषभनाराच, ऋषभनाराच, नाराच, अर्द्धनाराच, कीलक, सेवार्त) ५ वर्ण (कृष्ण, नील, पीत, रक्त, सफेद) २ गन्ध (सुगन्ध, दुर्गन्ध) ५ रस (खट्टा, मीठा, कड़ुवा, कसायला, तीखा) ८ स्पर्श (हल्का, भारी, ठण्डा, गर्म, रूखा, चिकना, कठोर, कोमल) ४ आनुपूर्वी (नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य, देवता) १ अगुरुलघु, १ उपघात, १ पराघात, १ आतप १ उद्योत, २ विहायोगति (शुभ-मनोज्ञ, अशुभ-अमनोज्ञ) १ उच्छ्वास, १ त्रस, १ स्थावर, १ बादर, १ सूक्ष्म, १ पर्याप्त, १ अपर्याप्त, १ प्रत्येक, १ साधारण, १ स्थिर, १ अस्थिर १ शुभ, १ अशुभ, १ सुभग, १ दुर्भग, १ सुस्वर, १ दुःस्वर, १ आदेय, १ अनादेय, १ यशःकीर्ति, १ अयशःकीर्ति, १ तीर्थ-ङ्कर, १ निर्माण। ये ९३ प्रकृतियां नाम कर्म की हैं। इनमें निम्न लिखित दस और बढ़ा देने से एक सौ तीन हो जाती हैं- १ औदारिक, वैक्रिय बंधन २ औदारिक आहारक बन्धन, ३ औदारिक तैजस बन्धन, ४ औदारिक कार्मण बन्धन, ५ वैक्रिय औदारिक बन्धन, ६ वैक्रिय तैजस बन्धन, ७ वैक्रिय कार्मण बन्धन, ८ आहारक तैजस बन्धन, ९ आहारक कार्मण बन्धन, १० तेजस कार्मण बन्धन। ये १०३ प्रकृतियां हैं।

७ गोत्र कर्म की प्रकृतियां—१ उच्च गोत्र, २ नीच गोत्र।

८ अन्तराय की प्रकृतियाँ—१ दानान्तराय, २ लाभान्तराय, ३ भोगान्तराय, ४ उपभोगान्तराय, ५ वीर्यान्तराय।

कर्म बन्ध के कारण और फल

१ ज्ञानावरणीय कर्म ६ प्रकार से बन्धता है और १० प्रकार से भोगना पड़ता है–१ ज्ञानी का अवर्णवाद करे–अवगुण निकाले, २ ज्ञानी की निन्दा करे और उसका उपकार न माने, ३ ज्ञान में अन्तराय डाले, ४ ज्ञान या ज्ञानी की आशातना करे, ५ ज्ञानी से द्वेष करे, ६ ज्ञानी के साथ खोटा विसंवाद करे।

इस कर्म का फल दस प्रकार का है–१ श्रोत्र इन्द्रिय का आवरण, २ श्रुतज्ञान का आवरण, ३ चक्षुइन्द्रिय का आवरण, ४ चक्षुइन्द्रिय से होने वाले ज्ञान का आवरण, ५ घ्राण इन्द्रिय का आवरण, ६ घ्राण–ज्ञान का आवरण, ७ रसना इन्द्रिय का आवरण, ८ रसना ज्ञान का आवरण, ९ स्पर्शनेन्द्रि का आवरण, १० स्पर्श–ज्ञान का आवरण।

२ दर्शनावरण कर्म छः प्रकार से बन्धता है–१सुदर्शनी का अवर्णवाद बोले, २ सुदर्शनी की निन्दा करे या उपकार भूले, ३ सम्यक्त्व प्राप्ति में अन्तराय डाले, ३ सुदर्शनी की आसातना करे, ५ सुदर्शनी पर द्वेष करे, ६ सुदर्शनी के साथ विसंवाद करे।

इस कर्म के फल नौ प्रकार के हैं–१ निद्रा, २ निद्रानिद्रा ३ प्रचला, ४ प्रचलाप्रचला, ५ स्त्यानगृद्धि, ६ चक्षुर्दर्शनावरण, ७ अचक्षुदर्शनावरण, ८ अवधिदर्शनावरण, ९ केवलदर्शनावरण।

३ (क) साता वेदनीय दस प्रकार से बँधता है—१द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय पर दया-अनुकम्पा करे २ वनस्पति पर अनुकम्पा करे ३ पंचेन्द्रिय पर अनुकम्पा करे ४ चार स्थावरों पर अनुकम्पा करे ५ उपरोक्त जीवों को दुःख न देवे ६ शोक न करावे ७ झुरावे नहीं ८ टप टप आँसू न गिरावे—रुलावे नहीं ९ मारे नहीं १० परितापना नहीं उपजावे।

इस कर्म का फल आठ प्रकार का है—१मनोहर शब्द २ मनोहर रूप ३ मनोहर गंध ४ मनोहर रस ५ मनोहर स्पर्श ६ मनचाहा सुख ७ अच्छे वचन ८ शारीरिक सुख।

(ख) असातावेदनीय १२ प्रकार से बँधता है— १ प्राण-भूत, जीव, सत्व को दुःख देना, २ शोक कराना ३ झुराना, ४ रुलाना, ५ मारना पीटना, ६ परितापना उत्पन्न करना, ७ बहुत दुःख देना. ८ बहुत शोक कराना, ९ बहुत झुराना, १० बहुत रुलाना, ११ बहुत मार-पीट करना. १२ बहुत परि-तापना करना।

इसका फल आठ प्रकार का है— १ अमनोज्ञ शब्द. २ अमनोज्ञ रूप. ३ अमनोज्ञ गन्ध. ४ अमनोज्ञ रस. ५ अमनोज्ञ स्पर्श. ६ अमनोज्ञ मन. ७ अमनोज्ञ वचन. ८ अमनोज्ञ काय।

४ मोहनीय कर्म छः प्रकार से बन्धता है—१ तीव्र क्रोध करना. २ तीव्र मान करना. ३ तीव्र माया करना. ४ तीव्र लोभ करना. ५ तीव्र दर्शनमोहनीय. ६ तीव्र चारित्र मोहनीय।

यह कर्म २८ प्रकार से भोगा जाता है—वे २८ प्रकार

वही हैं जो प्रकृतियों में गिनाये जा चुके हैं। उनमें से अनन्तानुबन्धी चौकड़ी का लक्षण इस प्रकार है—

१ जैसे पत्थर पर लकीर करने से वह मिट नहीं सकती अथवा पर्वत के फटने से जो दरार होती है, उसका मिलना जितना कठिन है, उसी प्रकार जो क्रोध शान्त न हो, वह अनन्तानुबन्धी क्रोध है। जैसे पत्थर का खम्भ नहीं नमता, वैसे ही जो मान दूर न हो, उसे अनन्तानुबन्धी मान कहते हैं। जैसे बिलकुल टेढ़ीमेढ़ी कठिन बांस की जड़ का टेढ़ापन मिट नहीं सकता है, उस प्रकार की जो माया हो, उसे अनन्ता० माया कहते हैं। जैसे किरमिची रंग का छूटना दुष्कर है, उसी प्रकार जो लोभ छूट न सके, उसे अनन्तानुबन्धी लोभ कहते हैं।

इस चौकड़ी से नरक गति में जाना पड़ता है। स्थिति यावज्जीवन की है और सम्यक्त्व का घात करती है।

२ अप्रत्याख्यानी कषाय का लक्षण—पानी सूखने से तालाव में जो दरार पड़ जाती है, वह आगामी वर्ष वर्षा होने पर मिटती है। इसी प्रकार जो क्रोध, विशेष परिश्रम से शांत हो, उसे अप्रत्याख्यानी क्रोध कहते हैं। हाथी दांत के खंभ की तरह जो बड़ी मुश्किल से दूर हो वह अप्रत्या० मान है। मेढ़े के सींग की तरह जो कठिनाई से मिटे, उसे अप्रत्या० माया कहते हैं। जो लोभ गाड़ी के ओंगन की तरह अति कष्ट से छूटे, वह अप्रत्या० लोभ है।

इस चौकड़ी से तिर्यञ्च गति होती है। इसकी स्थिति बारह महीने की है। यह देश-संयम का घात करती है।

३ प्रत्याख्यानावरण चौकड़ी का लक्षण–जैसे रेत में खींची हुई लकीर बहुत काल तक नहीं रहती, इसी प्रकार जो क्रोध, बहुत काल तक न ठहरे, उसे प्रत्याख्यानावरण क्रोध कहते हैं। बेंत के खम्भे की तरह जिस मान को दूर करने के लिये बहुत अधिक श्रम न करना पड़े, उसे प्रत्या० मान कहते हैं। चलता बैल मूतता है, तो टेढ़ी लकीरें हो जाती हैं। उनका मिटाना अति कष्टसाध्य नहीं है, उसी प्रकार जिस माया का मिटना ऐसा कठिन न हो, उसे प्रत्या० माया कहते हैं। दीपक के कज्जल की तरह जो लोभ कुछ कठिनाई से छूटे उसे प्र० लोभ कहते हैं। इससे मनुष्य गति का बन्ध हो सकता है। स्थिति चार महीने की है। यह सकल संयम का घात करती है।

४ संज्वलन चौकड़ी का स्वरूप–पानी में खींची हुई लकीर की तरह जो क्रोध, शीघ्र ही शान्त हो जाता है, वह सं० क्रोध है। जो मान, तिनके की तरह शीघ्र ही नम जाय, उसे सं० मान कहते हैं। बांस का छिलका जैसे सरलता से सीधा किया जा सकता है, उसी प्रकार जो माया, बिना विशेष श्रम के दूर हो जाय, उसे सं० माया कहते हैं। हल्दी के रंग की तरह जो सहज ही छूट जाय, उसे सं० लोभ कहते हैं।

इस चौकड़ी से देवगति होती है। क्रोध की स्थिति दो महीने की, मान की एक महीने की, माया की पन्द्रह दिन की और लोभ की अन्तर्मुहूर्त की है। यह कषाय यथाख्यात चारित्र का घात करती है।

ये सोलह भेद कषाय के और पूर्वोक्त नव नोकषाय के, इस प्रकार पच्चीस प्रकार से मोहनीय भोगा जाता है। ५ आयु कर्म सोलह प्रकार से बन्धता है और चार प्रकार से भोगा जाता है–१ महा आरम्भ करने से. २ महा परिग्रह करने से, ३ पंचेन्द्रिय की घात करने से, ४ मद्य-मांस का सेवन करने से नरकायु का, ५ माया करने से, ६ गूढ़ माया करने से. ७ असत्य बोलने से, ८ कम ज्यादा नापने तोलने से तिर्यञ्चायु का, ९ प्रकृति की भद्रता से, १० विनीतता से, ११ दया भाव रखने से, १२ मद मत्सर आदि से रहित होने से, मनुष्यायु का, १३ सराग संयम पालने से. १४ देश–संयम पालने से. १५ बाल तपस्या करने से; १६ अकाम निर्जरा से देवायु का, बन्ध होता है। चार प्रकार से भोगा जाता है– १ नरक आयु, २ तिर्यञ्च आयु, ३ मनुष्य आयु, ४ देव आयु।

६ नाम कर्म आठ प्रकार से बंधता है और अट्ठावीस प्रकार से भोगा जाता है। नाम कर्म दो प्रकार का है–

१ शुभ नाम कर्म, २ अशुभ नाम कर्म।

शुभ नाम कर्म चार प्रकार से बँधता है–१ काया की सरलता, २ वचन की सरलता, ३ मन की सरलता, ४ मद मत्सर से रहित। चौदह प्रकार से भोगा जाता है–१ इष्ट शब्द, २ इष्ट रूप, ३ इष्ट गंध, ४ इष्ट रस, ५ इष्ट स्पर्श, ६ इष्ट गति, ७ इष्ट स्थिति, ८ इष्ट लावण्य, ९ इष्ट यशःकीर्ति, १० इष्ट उट्ठाण (उत्थान) बल वीर्य पुरुषकार पराक्रम। ११ इष्ट स्वर, १२ कान्त स्वर, १३ प्रिय स्वर।

१४ मनोज्ञ स्वर ।

अशुभ नाम कर्म चार प्रकार से बँधता है-१ काया की वक्रता (बांकापन) २ वचन की वक्रता । ३ मन की वक्रता। ४ मद मत्सर भाव से सहितता । चौदह प्रकार से भोगा जाता है-१ अनिष्ट शब्द २ अनिष्ट रूप । ३ अनिष्ट गंध। ४ अनिष्ट रस । ५ अनिष्ट स्पर्श ६ अनिष्ट गति । ७ अनिष्ट स्थिति । ८ अनिष्ट लावण्य । ९ अनिष्ट यशःकीर्ति । १० अनिष्ट उट्ठाण (उत्थान) बल वीर्य पुरुषकार पराक्रम। ११ हीन स्वर । १२ दीन स्वर । १३ अप्रिय स्वर और १४ अमनोज्ञ स्वर ।

७ गोत्र कर्म सोलह प्रकार से बँधता और सोलह प्रकार से भोगा जाता है । इसके दो भेद हैं-१ उच्च गोत्र, २ नीच गोत्र । उच्च गोत्र आठ प्रकार से बँधता है-१ + जाति का मद (घमण्ड) न करना । २ ● कुल का मद न करना । ३ बल का मद न करना । ४ रूप का मद न करना । ५ तपस्या का मद न करना । ६ श्रुत (ज्ञान) का मद न करना । ७ लाभ का मद न करना । ८ ऐश्वर्य का मद न करना । यह उच्च गोत्र आठ प्रकार से भोगा जाता है-अर्थात् इन आठ का मद न करे तो उच्च गोत्र पाता है । नीच गोत्र कर्म आठ प्रकार से बँधता है और आठ प्रकार से भोगा जाता है-पूर्वोक्त जाति,कुल,बल,रूप,तप,श्रुत,लाभ और ऐश्वर्य का

+ मातृपक्ष को जाति कहते हैं ।

● पितृपक्ष को कुल कहते हैं ।

घमण्ड करने से बँधता है। और इनका घमण्ड करने से नीच गोत्र की प्राप्ति होती है अर्थात् आठ प्रकार से भोगा जाता है।

८ अन्तराय कर्म पाँच प्रकार मे बँधता और ५ प्रकार से भोगा जाता है-अर्थात् दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य में अन्तराय डालने से बँधता है और इससे पाँचों अन्तरायों की प्राप्ति होती है।

कर्मों की स्थिति और * अबाधा काल-ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त की और उत्कृष्ट तीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम की है। अबाधा काल तीन हजार वर्ष का है। साता वेदनीय की ज० स्थिति, ईरिया-वहिया क्रिया की अपेक्षा दो समय की और उ० पन्द्रह कोड़ाकोड़ी सागर की है। अबाधा काल डेढ़ हजार वर्ष का है। असातावेदनीय की ज० स्थिति एक सागर के सात भागों में से तीन भाग और पल्योपम से असंख्यात भाग कम की और उ० तीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम की है। इसका अबाधा काल तीन हजार वर्ष का है। मोहनीयकर्म की ज० स्थिति अन्तर्मुहूर्त की और उ० सत्तर कोड़ाकोड़ी सागरोपम की है। अबाधा काल सात हजार वर्ष का है। नारकी तथा देवों के आयुकर्म की स्थिति ज० दस हजार वर्ष की, उ० तेंतीस सागरोपम की,

* कर्म बन्ध होने के प्रथम समय से लेकर जब तक उस कर्म का उदय या उदीरणा नहीं होती, तब तक के काल को अबाधा काल कहते हैं।

मनुष्य और तिर्यञ्च के आयुकर्म की ज०. स्थिति, अन्तर्मुहूर्त की, उ० करोड़ पूर्व के तीसरे भाग अधिक तीन पल्योपम की। नामकर्म की ज० स्थिति आठ मुहूर्त की उ० बीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम की और आबाधा काल दो हजार वर्ष का है। गोत्र-कर्म की ज० स्थिति आठ मुहूर्त की उ० बीस कोड़ाकोड़ी साग-रोपम की तथा आबाधा काल दो हजार वर्ष का है।

मोक्ष तत्त्व

मोक्ष—आत्मा का जड़ कर्मों के बन्धन से मुक्त होकर स्वतन्त्र रहना, परमात्मा दशा को प्राप्त कर लेना—मोक्ष तत्त्व है। श्री सिद्ध भगवान् जैसी दशा की प्राप्ति मोक्ष तत्त्व में होती है। इसके निम्न लिखित चार कारण हैं।

१ सम्यग्ज्ञान २ सम्यग् दर्शन ३ सम्यक् चारित्र और ४ सम्यक् तप।

मोक्ष प्राप्ति के अधिकारी

१ चार गति में से केवल मनुष्य गति ही मोक्ष के योग्य है।

२ त्रस काय ही मोक्ष के योग्य है। ३ पांच जाति में से केवल पंचेन्द्रिय ही। ४ संज्ञी जीव ही। ५ भव सिद्धिक जीव ही। ६ क्षायिक सम्यक्त्वी ही। ७ अवेदी ही। ८ अकषायी ही।

९ यथाख्यात चारित्री हों। १० केवलज्ञानी हों। ११ केवल दर्शनी हों। १२ अनाहारक हों। १३ अयोगी हों। १४ अलेशी हों मोक्ष के योग्य हैं।

सिद्ध के पन्द्रह भेद

सिद्ध भगवान् नीचे लिखे पन्द्रह भेदों से सिद्ध होते हैं।

१ तीर्थ सिद्ध—जिनेश्वर भगवन्त द्वारा चतुर्विध तीर्थ की स्थापना और निर्ग्रन्थ प्रवचन का प्रवर्त्तन होने के बाद जो सिद्ध हों—तीर्थ की विद्यमानता में सिद्ध हों—वे तीर्थ सिद्ध हैं।

२ अतीर्थ सिद्ध—तीर्थ स्थापना के पूर्व अथवा तीर्थ विच्छेद होने के बाद सिद्ध होते हैं, वे अतीर्थ सिद्ध कहलाते हैं। मरुदेवी माता, तीर्थ स्थापना के पूर्व ही सिद्ध हो गये थे और भगवान् सुविधिनाथ से लेकर भगवान् धर्मनाथ तक सात तीर्थ-ङ्करों के शासन में कुछ कुछ समय के लिये तीर्थ विच्छेद हो गया था, उन तीर्थ विच्छेदों के समय (भग० २०—८) जो सिद्ध हुए—वे अतीर्थ सिद्ध हैं।

३ तीर्थङ्कर सिद्ध—तीर्थङ्कर पद प्राप्त कर सिद्ध होने वाले।

४ अतीर्थङ्कर सिद्ध—तीर्थङ्कर पद प्राप्त किये बिना ही सिद्ध होने वाले—सामान्य केवली।

५ स्वयंबुद्ध सिद्ध—बिना किसी के उपदेश के अपने आप धर्म को प्राप्त करके सिद्ध होने वाले। ये तीर्थङ्कर भी होते हैं

और दूसरे भी। इस भेद में तीर्थङ्कर व्यतिरिक्त ही लेने चाहिए।

६ प्रत्येकबुद्ध सिद्ध–बिना किसी के उपदेश से, किसी बाह्य निमित्त को देखकर, संसार त्याग कर मोक्ष प्राप्त करने वाले।

स्वयंबुद्ध सिद्ध को किसी बाहरी निमित्त की आवश्यकता नहीं होती, किन्तु प्रत्येकबुद्ध, किसी बाह्य निमित्त से प्रेरित होकर दीक्षा लेते हैं। जैसे नमिराजर्षि, कंगन से, समुद्रपालजी चोर से इत्यादि। ये अकेले ही विचरते हैं।

७ बुद्धबोधित सिद्ध–गुरु के उपदेश से बोध प्राप्त करके दीक्षित होकर सिद्ध होने वाले।

८ स्त्रीलिंग सिद्ध–स्त्री लिंग से सिद्ध होने वाले। ऐसी आत्मा, स्त्री शरीर एवं वेश से सिद्ध होती है, किन्तु स्त्री वेद से नहीं, क्योंकि जो सिद्ध होते हैं, वे अवेदी होने के बाद ही होते हैं--किसी भी प्रकार के वेद के उदय में सिद्ध नहीं हो सकते।

९ पुरुष लिंग सिद्ध–पुरुषाकृति से सिद्ध होने वाले।

१० नपुंसक लिंग सिद्ध–नपुंकक शरीर से सिद्ध होने वाले।

११ स्वलिंग सिद्ध–साधु के वेश–रजोहरण मुखवस्त्रिका आदि से सिद्ध होने वाले।

१२ अन्य लिंग सिद्ध–परिवाज्रकादि अन्य वेश में रहते हुए सिद्ध होने वाले। इनके द्रव्यलिंग दूसरा रहता है, भावलिंग

(श्रद्धादि) तो अवश्य स्व ही होता है। भावलिंग अन्य होने पर कदापि सिद्ध नहीं हो सकते–वे सम्यक्त्वी भी नहीं हो सकते, तब सिद्ध तो हो ही कैसे सकते हैं ? द्रव्यलिंग भी अन्य रहता है–वह समय की स्वल्पता के कारण। जिन अन्यलिंगी मिथ्या–दृष्टियों को सम्यक्त्व प्राप्त होते ही साधुता और क्षपकश्रेणी का आरोहण–क्रमशः होकर केवलज्ञान हो जाय और मोक्ष प्राप्त कर ले, वे अन्यलिंग सिद्ध होते हैं। उन्हें लिंग परिवर्तन की अनुकूलता और आवश्यकता नहीं रहती।

१३ गृहस्थलिंग सिद्ध–मरुदेवी माता की तरह गृहस्थ-लिंग में रहते हुए सिद्ध होने वाले।

अन्यलिंग और गृहस्थलिंग–मोक्ष के लिये साधनभूत नहीं है, इसीलिए इन्हें मोक्ष के साधक ऐसे 'स्वलिंग' से भिन्न बतलाया। 'स्वलिंग' का अर्थ ही मोक्ष साधना का अपना अंग है। इसकी उपयोगिता के कारण ही जिनेश्वर भगवन्तों ने आगमों में इसका विधान किया और लोगों की प्रतीत, संयम, यात्रा तथा ज्ञानादि की प्राप्ति के लिये स्वलिंग की आवश्यकता स्वीकार की है'। (उत्तरा. २३--३२) 'स्वलिंग' राजमार्ग–धोरी-मार्ग है। तब अन्यलिंग और गृहस्थलिंग आपवादिक–विकट और चलन में नहीं आने वाली, उपेक्षणीय स्थिति है।

१४ एक सिद्ध–एक समय में एक ही सिद्ध होने वाले।

१५ अनेक सिद्ध–एक समय में एक से अधिक सिद्ध होने वाले। (प्रज्ञापना–१)

उपरोक्त भेद सिद्ध होते समय की अवस्था को बतलाते

हैं। इससे सिद्ध भगवन्तों के स्वरूप में कोई अन्तर नहीं आता। सभी सिद्ध भगवन्त अपनी आत्म ऋद्धि से समान ही हैं। उनके ज्ञान, दर्शन, उपयोग आदि में किसी प्रकार का अन्तर नहीं है।

सिद्ध भगवन्त, ऊर्ध्व लोक में–लोकाग्र पर स्थित हैं। 'सिद्धशिला' नामकी एक पृथ्वी, जो मनुष्य क्षेत्र के अनुसार पेंतालीसलाख योज़न विस्तार वाली है, उसके ऊपर, उत्से-धांगुल के नाप से देशोन एक योजन लोकांत है। उस योजन के ऊपर के कोश के छठे हिस्से में (३३३⅓ धनुष्य परिमाण) लोकाग्र से सटकर सिद्ध भगवन्त रहे हुए हैं (भगवती १४-८) जिस जगह एक सिद्ध है, उसी जगह अनन्त सिद्ध हैं। सारा क्षेत्र सिद्ध भगवन्तों से व्याप्त है। सभी सिद्ध भगवन्तों में पारिणामिक एवं क्षायिक भाव रहा हुआ है। शरीर एवं संसार सम्बन्धी, जन्म, जरा, मृत्यु, रोग, शोक आदि समस्त दुःखों से रहित, आत्मानन्द में सदा लीन रहते हैं।

यह मोक्ष तत्त्व अन्तिम है। मुमुक्षुओं के लिए आराध्य है। इसकी आराधना, संवर और निर्जरा तत्त्व के द्वारा होती है। जो आत्मार्थी, संवर और निर्जरा के साधन से मोक्ष की साधना करेंगे, वे अवश्य मोक्ष प्राप्त करके आराधक से आराध्य बन जावेंगे।

परिशिष्ट

परिस्थापनिका समिति

पांच समितियों में से इर्यासमिति, भाषासमिति, एषणासमिति और आदान-भंड-मात्र-निक्षेपणा समिति का विवेचन पृ. २१५ में, प्रथम महाव्रत की भावना में हो चुका है। एषणा समिति का विशद विवेचन स्वतन्त्र रूप से पृ. २२२ में हुआ है। शेष रही हुई 'उच्चारपासवणखेलजलसंघाण परिठावणिया समिति' का वर्णन इस प्रकार है।

साधुओं को विशेषकर मल, मूत्र, श्लेष्म आदि परठने (डालने) की आवश्यकता होती है। उसकी विधि इस प्रकार है।

परठना उसी स्थान पर चाहिए कि जहां कोई आता नहीं हो, और देखता भी नहीं हो। जहाँ परठने से जीवों की घात होने की संभावना नहीं हो। जो स्थान सम हो, ढका हुआ नहीं हो और अचित हो-नीचे दूर तक अचित हो, लम्बा चौड़ा हो, ग्राम या बस्ती के निकट नहीं हो, चूहे आदि (कीड़ी आदि) के विल से रहित हो, प्राणी, बीज, और हरितकाय आदि से रहित हो-ऐसे स्थान पर परठना चाहिये।

(उत्तरा० २४)

मल मूत्र, पात्र में करने के बाद अचित और दोष

रहित भूमि में परठे। जो जमीन फटी हुई हो, खड्डे वाली हो, जिसमें गाय, भैंस आदि रखे जाते हों, जिस जगह बाग, बगीचे, देवालय, सभा, प्याऊ हो, चलने फिरने का मार्ग हो, श्मशान भूमि, चिता पर बनाया हुआ स्तूप अथवा चैत्य हो, ऐसे स्थानों पर, नदी के किनारे, ईंट चूना पकाने के स्थान—भट्टी पर, गोचर भूमि, पूजनीय स्थल आम्रवन, अशोकवन आदि वनों में और बीज, पत्र, पुष्प, फल तथा हरीवनस्पति के स्थानों में, मल मूत्र नहीं परठना। किन्तु पात्र लेकर एकान्त में जाना, और जहाँ कोई नहीं देखता हो, वैसे स्थान में जाकर मल मूत्र का त्याग करना तथा पात्र लेकर निर्दोष जगह—जहां जली हुई अर्थात् अचित और जन्तु रहित भूमि हो वहां परठना चाहिए।

(आचारांग २-१०)

पाँच समिति और तीन गुप्ति—ये आठों, माता के समान साधक की रक्षा करती है। इसमें द्वादशांग—समस्त श्रुत ज्ञान का सार समाया हुआ है। (उत्तरा० २४-३)

"साधु साध्वी या अन्य भिक्षुओं आदि के लिए बनाये हुए स्थंडिल (पाखाना आदि) में उच्चारादि नहीं करे। किंतु अन्य भिक्षुओं के लिए बना हो, तो उनके काम में लेने के बाद करे। (पाखाना तो साधुओं के स्थंडिल के योग्य नहीं है, क्योंकि वहां सम्मूर्छिम जीवोत्पत्ति—हिंसा का कारन है) (आचारां २-१०) "रात या संध्या को अपने या अन्य साधु के पात्र में लघु या बड़ी नीति ली हो, तो सूर्योदय होते ही विना देखी जगह परठे, तो प्रायश्चित आता है (निशीथ ३)

श्रावक के विश्राम

जिस प्रकार बहुत दूर जंगल में से लकड़ी आदि के भारी बोझ को उठा कर शहर में जानें वाले वृद्ध एवं दुर्बल भारवाहक को, मार्ग में विश्राम लेने की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार संसार के आरम्भ परिग्रहादि पाप कर्मों के भार से थके हुए जीव के लिये भी विश्राम लेने की आवश्यकता होती है। ऐसे विश्राम के स्थान चार प्रकार के हैं। जैसे—

१ भारवाहक, भार के बोझ से विश्राम पाने के लिए एक कन्धे से हटाकर दूसरे कंधे पर रख कर, पहले कन्धे को विश्राम देता है, उसी प्रकार श्रमणोपासक भी सावद्य व्यापार रूप पाप भार से विश्राम पाने के लिए, पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत, चार शिक्षा व्रत और अन्य त्याग प्रत्याख्यान से पाप के भार को कुछ हलका करके विश्राम लेता है।

२ जिस प्रकार मल मूत्र की बाधा दूर करने के लिए भारवाहक, भार को अलग रखकर, उतनी देर विश्राम लेता है, उसी प्रकार श्रमणोपासक, सामायिक और देशावकाशिक व्रत का पालन करते हुए, उतने समय तक अपने पाप भार को अलग रखकर शान्ति का अनुभव करता है।

३ जिस प्रकार भारवाहक अपने बोझ को उतारकर मार्ग में पड़ते हुए नागकुमारादि देवालयों में जाकर विश्राम लेता है, उसी प्रकार श्रमणोपासक, अष्टमी, चतुर्दशी, पुर्णिमा और अमावस्या को प्रतिपूर्णपौषध करके, उतने समय अपनी

आत्मा को पाप के भार से अलग करके विश्राम लेता है।

४ जिस प्रकार निर्धारित स्थान पर पहुँच कर भार से सर्वथा मुक्त हुआ जाता है, उसी प्रकार अन्त समय में संलेखणा अंगीकार करके आहारादि का सर्वथा त्याग किया जाता है और पादपोपगमन संथारे से मृत्यु की कामना नहीं करते हुए-समाधि पूर्वक रहकर, पाप के भार को सर्वथा त्याग कर, शान्ति का अनुभव किया जाता है।

उपरोक्त चार प्रकार की विश्रान्ति में से उत्तरोत्तर एवं अधिकाधिक विश्राम प्राप्त करने का प्रयत्न करने वाला, श्रमणोपासक, अन्तिम साधना से शीघ्र ही सादिअपर्यवसित विश्राम प्राप्त करके, परम सुखी हो जाता है। (ठाणांग ४-३)

श्रावकों की धर्म दृढ़ता

किसी भी कार्य में सफलता तभी मिलती है, जबकि उसके विषय में दृढ़ श्रद्धा, अटल निश्चय और अडिग आत्म बल हो। ढुलमुल नीति, अस्थिर विश्वास और सभी को समान रूप से मानने वाले के पल्ले विफलता ही पड़ती है। पूर्व काल के श्रावकों का श्रद्धा बल कितना दृढ़ और अडिग था, यह आज भी आगमों में दिखाई देता है। जैसे कि-

सुश्रावक आनन्दजी ने भगवान् महावीर प्रभु का उपदेश सुनकर दृढ़ श्रद्धावन्त हुए। उन्होंने भगवान् के समीप व्रतधारण

किये। इसके बाद भगवान् ने उन्हें सम्यक्त्व और व्रतों के अति-चार बतलाये। सम्यक्त्व के अतिचार बताते हुए भगवान् ने स्वयं फरमाया कि श्रमणोपासक को शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, परप्पाषंड प्रशंसा और परपाषण्ड संस्तव को सम्यक्त्व में दूषण लगाने वाले बता कर, इनका आचरण नहीं करने का निर्देश किया और आनन्दजी ने भी स्वयं प्रतिज्ञा की कि "मैं आज से ही अब किसी भी अन्य तीर्थी और दर्शन भ्रष्ट को न तो वन्दना नमस्कार करूँगा, न आदर सत्कार दूंगा और न उनसे पहले बोलूंगा, न बारम्बार बोलूंगा और न मैं उन्हें अपनी इच्छा या भक्ति से आहारादि दूंगा"। इस प्रकार की प्रतिज्ञा भ. महावीर प्रभु के समक्ष; आनन्द श्रावक ने की थी। यह उनके धर्म प्रेम और धार्मिक दृढ़ता का ज्वलन्त प्रमाण है। आनन्दजी के ऐसे उद्गार उन्हें आदर्श श्रद्धानी श्रावक सिद्ध करते हैं।

श्री सकडाल श्रावक, सुश्रावक बन जाता है, उनके पास गोशालक (पूर्व का गुरु) खुद पहुँचता है, किन्तु पूर्व का गाढ़ परिचय और भक्ति होते हुए भी सकडालजी, गोशालक से बोलते तक नहीं हैं। और जब गोशालक, भ० महावीर की प्रशंसा करता है, तभी वह उसे पाट आदि देता है। यह है सुश्रावक सकडालपुत्र की धर्म दृढ़ता।

सुश्रावक कामदेवजी और [illegible] को देव ने महान् उपसर्ग दिये, किन्तु वे अपने धर्म से नहीं [illegible], [illegible]

आज के बहुत से श्रावक कहलाने वालों की स्थिति ही पलट गई। वे धर्मदृढ़ता को 'कट्टरता' और 'साम्प्रदायिकता' कहकर हेय मानते हैं। उन्होंने सर्वधर्म समभाव की ऐसी मान्यता अपनाली है, जो खरे खोटे और सच्चे झूठे, सबको समान मान लेते हैं। ऐसे व्यक्तियों के मनमें, धर्म के प्रति प्रेम नहीं होता। वे पूर्व के प्रशंसित और विशिष्ट पुरुषों के शास्त्रीय वर्णनों पर भी ध्यान नहीं देते। किन्तु वास्तविक जैनी, सम्यग्दृष्टि और सुश्रावक वही हैं–जो श्रीजिनधर्म को ही सर्वोत्तम समझकर उसी की आराधना करते हैं।

आवश्यक

ज्ञान, दर्शन और चारित्र की आराधना करने में, अवश्य करने योग्य क्रिया को "आवश्यक" कहते हैं। इसके छः भेद हैं–,

१ सामायिक–मन, वचन और काया की सावद्य क्रिया का त्याग कर, ज्ञान, दर्शन और चारित्रमय निरवद्य व्यापार का सेवन करना–सामायिक आवश्यक है।

२ चतुर्विंशति स्तव–चौवीस तीर्थङ्करों का गुणग्राम करना।

३ वन्दना–गुरुजनों की वन्दना करना।

४ प्रतिक्रमण–सम्यक्त्व, ज्ञान और चारित्र में लगे हुए दोषों की आलोचना करके विशुद्ध होना।

प्रतिक्रमण पांच प्रकार के होते हैं। जैसे-

देवसी-सूर्यास्त के समय, दिनभर के अतिचारों की आलोचना करना।१।

रायसिक-रात व्यतीत होने पर प्रातःकाल करना।२।

पाक्षिक-प्रत्येक पक्ष के अन्तिम दिन, पन्द्रह दिन सम्बन्धी।३।

चौमासिक-आषाढ़शुक्ल, कार्तिकशुक्ल व फाल्गुनशुक्ल पूर्णिमा को किया जाने वाला।४।

साम्वत्सरिक-प्रतिवर्ष भाद्रपद शुक्ल ५ को किया जाने वाला।५।

५ कायोत्सर्ग-मन, वचन और काया की एकाग्रता-पूर्वक धर्मध्यान करना।

६ प्रत्याख्यान-यथाशक्ति त्याग प्रत्याख्यान करना।

प्रत्याख्यान

विश्वभर की मानव संस्कृति में प्रत्याख्यान का स्थान तो है ही, भले ही वह रूपान्तर से और स्वल्प मात्रा में हो। भारत में तो इसका स्थान सर्वत्र देखा जाता है। जो हिंसक, विलासी और भौतिक विचारधारा को मुख्य स्थान देने वाले हैं, वे भी काल विशेष अथवा परिस्थिति विशेष से, किसी भी रूप में प्रत्याख्यान करते हैं। कुछ लोग विचार पूर्वक त्याग करते हैं, तो बहुत से दूसरों द्वारा प्रेरित होकर, दूसरों की

देखा देखी या फिर जनता पर अपना प्रभाव जमाने के लिये ही प्रत्याख्यान करते हैं। जैन संस्कृति में तो प्रत्याख्यान ही ऐसी वस्तु है-जो आत्मा से परमात्मा बना देती है। इसमें मिथ्यात्व प्रत्याख्यान से लेकर कषाय प्रत्याख्यान, साधन त्याग, आहार त्याग, शरीर त्याग और सद्भाव त्याग तक का विधान किया है। प्रत्याख्यान अर्थात् निवृत्ति की महिमा जिन-शासन में अजोड़ है, अद्वितीय है। इसकी समानता दुनिया की किसी भी संस्कृति से नहीं हो सकती। यदि कहीं त्याग की उग्रता दिखाई दे, तो वहां सम्यग्दृष्टि के अभाव में दुष्प्रत्याख्यान का सद्भाव होगा। सम्यग्दृष्टि पूर्वक सुप्रत्याख्यान, जिनधर्म में ही मिल सकता है, जिसका ध्येय मोक्ष प्राप्ति है। जिनागमों में प्रत्याख्यान के दो प्रकार बतलाये हैं। जैसे कि-

दुष्प्रत्याख्यान और सुप्रत्याख्यान

दुष्प्रत्याख्यान उसे कहते हैं कि-जिसमें प्रत्याख्यान और उसके विषय का यथार्थ ज्ञान न हो, जो बिना समझे बूझे ही प्रत्याख्यानी बनना चाहता हो, जिसमें विनयादि गुणों का अभाव हो और प्रत्याख्यान लेने के बाद बेगार की तरह पालता हो। इस प्रकार सदोष प्रत्याख्यान, दुष्प्रत्याख्यान है।

सुप्रत्याख्यान के पांच भेद श्री स्थानाँगसूत्र के पांचवें स्थान के तीसरे उद्देशे में निम्न प्रकार से बतलाये हैं,-

१ श्रद्धान शुद्ध-शुद्ध श्रद्धान वाले का प्रत्याख्यान ही वास्तविक फलदायक होता है। श्रद्धान के अभाव में अथवा

विपरीत श्रद्धान से किये गये प्रत्याख्यान, दुष्प्रत्याख्यान हो जाते हैं। श्री जिनेश्वर प्रभु ने प्रत्याख्यान का जो उद्देश्य बतलाया, जिस ध्येय से प्रेरित होकर प्रत्याख्यान करना चाहिए, वह ठीक तरह से समझ कर, उसमें पूर्ण श्रद्धावान् होकर त्याग करना, शुद्ध श्रद्धानयुक्त प्रत्याख्यान कहलाता है।

टीकाकार लिखते हैं कि श्री सर्वज्ञ भगवान् ने जिन-कल्प, स्थविरकल्प और बारह व्रतादि श्रावक धर्म के विषय में जिस काल में जो प्रत्याख्यान कहे हैं, उन पर श्रद्धा रखना, शुद्ध श्रद्धान कहलाता है। इसलिये शुद्ध श्रद्धावन्त होकर ही प्रत्याख्यान लेना चाहिये।

२ विनय शुद्ध—वन्दनादि विनयपूर्वक प्रत्याख्यान ग्रहण करना और मन, वचन, काया का निरोधकर वन्दन, नमन और बहुमान पूर्वक प्रत्याख्यान को शुद्ध रखना—विनय शुद्ध प्रत्या-ख्यान है।

३ अनुभाषण शुद्ध—गुरु को वन्दना नमस्कार करके विनय पूर्वक हाथ जोड़कर खड़े होना, उनके वचनों को धीमे शब्दों में शुद्धता पूर्वक उच्चारण करना, गुरु 'वोसिरे' कहे, तब प्रत्याख्यान लेने वाले को 'वोसिरामि' कहना, अनुभाषण शुद्ध प्रत्याख्यान है।

४ अनुपालन शुद्ध—अटवी, दुष्काल अथवा रोगादि विकट परिस्थिति उत्पन्न हो जाने पर भी प्रत्याख्यान को दूषित नहीं करते हुये शुद्धता पूर्वक पालन करना, अनुपालन शुद्ध

प्रत्याख्यान कहलाता है।

५ भाव शुद्ध–राग, द्वेष अथवा मान पूजा के वश होकर या क्रोधादि से प्रेरित होकर प्रत्याख्यान को दूषित नहीं करना। शुद्ध भाव से प्रत्याख्यान लेना और शुद्ध भाव से ही पालन करना, भावशुद्ध कहलाता है।

जैन मान्यतानुसार मनुष्य और पशु पक्षी भी प्रत्याख्यान कर सकते हैं, वैसे तो मनोयोग वाला प्राणी, प्रत्याख्यान के योग्य होता है, किन्तु देव और नारक में मात्र मिथ्यात्व की ही निवृत्ति संभव है। वे विरति की अपेक्षा प्रत्याख्यानी नहीं हो सकते। पर्याप्त अवस्था वाले मनुष्य और तिर्यंच ही प्रत्याख्यान के योग्य माने गये हैं।

जैनसंस्कृति प्रत्याख्यान से ओतप्रोत है। हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन, परिग्रह और क्रोधादि प्रत्याख्यान तथा आहार, उपधि और मन, वचन, काया के योगों का प्रत्याख्यान कर सर्वज्ञ सर्वदर्शी सच्चिदानन्दमय अरूपी, और एकान्त सुखी बनने का विधान है। प्रत्याख्यान अर्थात् निवृत्ति की मुख्यता के कारण ही जैनसंस्कृति, निवृत्ति प्रधान मानी जाती है।

जो जिनानुयायी हैं, जो यथाशक्ति प्रत्याख्यान करते हैं, उन्हें प्रत्याख्यान की उपरोक्त विधि को मनन पूर्वक हृदयंगम करके, आगमानुसार शुद्ध प्रत्याख्यान करना चाहिए।

मुनि दर्शन की मर्यादा

संतों एवं त्यागियों के दर्शन और सेवा करने से, जीव कल्याण पथ पर आगे बढ़ता हुआ उन्नत होता है और अज्ञान तथा अविरती को छोड़कर उच्च संस्कारों को प्राप्त करता है। उसकी ज्ञान, ध्यान, दान और चारित्र की रुचि बढ़ती है। उसका जीवन सुधर जाता है और परभव भी सुखकर होता है। उसकी दिशा बदल जाती है। वह संसारमार्गी से मोक्षमार्गी बन जाता है। इस प्रकार के लाभ तभी मिल सकते हैं-जब कि क्रिया तदनुकूल हो।

निर्ग्रन्थ मुनिवरों और महासतियों के दर्शन सेवा और सत्संग के लिए जानें वालों को नीचे लिखे नियमों का अवश्य पालन करना चाहिए।

१ संतों को दूर से देखकर ही विनयपूर्वक हाथ जोड़ना चाहिए।

२ सचित द्रव्य-पान, इलायची, फल, फूल, हरी, फूल-माला और अनाज के दाने आदि साथ नहीं रखना चाहिए। यदि पास में हों, तो यतना पूर्वक अलग रखकर फिर दर्शनादि करना चाहिए।

३ छोड़ने योग्य अधिकरण-शस्त्रादि और मान सूचक छत्रादि तथा जूते अलग रख देने चाहिए।

४ बोलते समय उत्तरासन का प्रयोग करना चाहिये,

जिससे वचन व्यवहार करते जीव विराधना नहीं हो।

बोलने का विषय सावद्य नहीं हो। हिंसादि पापकारी, मोह वर्धक, मिथ्यात्व अनुमोदन और संसार पोषक विषयों को छोड़कर, ज्ञान, ध्यान आदि धार्मिक विषय पर ही वाणी का व्यवहार होना चाहिए। किसी कार्य विशेष के लिए धन एकत्रित करना, चन्दा करना, स्थान बनवाने आदि आरम्भ जनक बातें, संतों से करना और मुनियों से ऐसे कार्यों में भाग लेने का अनुरोध करना, अनुचित एवं दोषजनक हैं। इससे उनके संयम में हानि होती है। वे तीन करण, तीन योग से त्यागी हैं। इसलिए वे सावद्य कार्यों में सहयोग एवं अनुमति नहीं दे सकते।

निर्ग्रन्थों के उपासक उपासिकाओं को यह ध्यान में रखना चाहिए कि उनका गुरुवर्ग संसार के प्रपञ्चों से विरत हो चुका है और मोक्ष का साधक है। उनसे हमारा सम्बन्ध और व्यवहार उनकी साधना के अनुकूल ही होना चाहिए। उनकी साधना संवर और निर्जरा युक्त होती है। यदि हम उनके सामने आस्रव और बंध की बातें करेंगे और उनका ध्यान ऐसे कार्यों की ओर खींचेंगे, तो हम उनके लिए बाधक बन जावेंगे। इस प्रकार हम उनके व अपने लिए अहितकारी होंगे। इस लिए हमें वहाँ ऐसी बातें करनी चाहिए कि जिससे ज्ञान दर्शन और चारित्र की पर्यायें विशुद्ध हों।

सच्चे उपदेशक कौन हो सकते हैं ?

"सवणे णाणे य विन्नाणे, पच्चक्खाणे य संजमे ।
अणण्हए तवे चेव, वोदाणे अकिरिय निव्वाणे ॥"
(स्थानांग ३-३)

भगवान् ने धर्मोपदेश सुनने का अन्तिम फल मोक्ष बतलाया । धर्म के सुनने से ज्ञान प्राप्त होता है । ज्ञान से विज्ञान=चिन्तन मनन के द्वारा हेय, ज्ञेय और उपादेय का विवेक होता है । विज्ञान से हेय का त्याग–प्रत्याख्यान होता है । प्रत्याख्यान से संयम=उपादेय का आदर होता है । संयम से अनाश्रव=संवर की उत्पत्ति होती है । फिर पूर्व कर्म की सफाई के लिये तपश्चरण होता है । तप से निर्जरा, निर्जरा से क्रिया रहितता = अयोगीभाव और अयोगीभाव से निर्वाण = मुक्ति होती है ।

धर्म श्रवण का परम्परा फल निर्वाण प्राप्ति है, किन्तु प्रश्न होता है कि धर्म सुनना किसके पास ? यों तो धर्म के उपदेशक अनेक मिलते हैं और एक दूसरे से भिन्न उपदेश करते हैं । ऐसी दशा में सच्चे धर्मोपदेशक कौन हो सकते हैं ? इसका उत्तर इस प्रकार दिया जाता है कि भगवान् के श्रमण निर्ग्रन्थ धर्म के सच्चे उपदेशक होते हैं । फिर प्रश्न उपस्थित होता है कि—भगवान् के श्रमण निर्ग्रन्थ किसे कहना ?

तथारूप के श्रमण

आगमों के विधान के अनुसार तथारूप के श्रमण वे ही हैं जो धर्म के स्वरूप को यथार्थ रूप से समझे हुए हैं। जिन्होंने संसार को हेय मानकर, मुक्ति प्राप्त करने की भावना से त्याग दिया हो। पांच महाव्रत और पांच समिति के पालक हों। इन्द्रियों को वश में रखने वाले, कषायों को पतली करने वाले, ब्रह्मचर्य के सभी नियमों के पालक। अठारह पाप के त्यागी, संसारियों के प्रपञ्चों, वादविवादों और आन्दोलनों से दूर-- अलिप्त। पक्षपात से वञ्चित, संयम और तप में मस्त रहनें वाले। निर्दोष आहार, संयम निर्वाह के उद्देश्य से लेने वाले, उपवास, आयम्बिल, नीवीं, एकासनादि यथाशक्ति तप करते रहने वाले, शरीर, वस्त्र, पात्र आदि की शोभा और सुन्दरता बढ़ाने की इच्छा से रहित, निष्परिग्रही, प्राप्त होने वाले परिषहों और उपसर्गों को धैर्य पूर्वक सहने वाले, क्षमा आदि दस धर्म का पालन करने वाले, मान प्रतिष्ठा की इच्छा से रहित, जिन-आज्ञा के आराधक, जिनेश्वर भगवन्तों के आदेशों को आगे कर के तदनुसार विचरने वाले, तथारूप के श्रमण निर्ग्रन्थ होते हैं। ऐसे श्रमण निर्ग्रन्थ, धर्मोपदेश देने के सच्चे अधिकारी हैं। इनका बताया हुआ धर्म, एकान्त हितकारी, सुखकारी और परम आनन्दकारी होता है। जिनकी कथनी और करनी समान हो, ऐसे उत्तम मुनिवरों से धर्म का उपदेश सुनना चाहिये।

यदि ऐसे तथारूप के श्रमण का योग नहीं मिले, तो

तथारूप के माहण = श्रमणोपासक से धर्म सुनना चाहिये।

तथारूप के श्रमणोपासक

जिनकी निर्ग्रन्थ प्रवचन में पूर्ण श्रद्धा हो। जो जीव अजीव के स्वरूप को यथार्थ रूप से जानते हों। पुण्य, पाप, आश्रव, संवर, वेदना, निर्जरा, क्रिया, बन्ध और मोक्ष की श्रद्धा युक्त ज्ञानवाले हों। निर्ग्रन्थ प्रवचन में जिनका अटूट अनुराग हो, जो जिनेश्वर भगवन्त के धर्मशासन को ही सिरोधार्य किये हुए हों, जिनके हृदय में निर्ग्रन्थ प्रवचन की सर्वोत्तमता के प्रति किसी प्रकार की शंका नहीं हो, जो परदर्शन की इच्छा मात्र भी नहीं रखते हों, जिन्हें चारित्र के सुफल में किञ्चित् भी सन्देह नहीं हो, जो कुप्रावचनी = परपाखण्डी का प्रशंसक नहीं हो और बिना खास कारण के अथवा निर्ग्रंथ-प्रवचन का रसिक बनाने की इच्छा के बिना, परपाखण्डी का परिचय बढ़ानेवाला नहीं हो, जो बारहव्रतधारी, अष्टमी आदि तिथियों पर पौषध करने वाला, और उभयकाल सामायिक प्रतिक्रमणादि धार्मिक क्रिया करने वाला हो, ऐसा तथारूप का श्रमणोपासक भी निर्ग्रन्थप्रवचन का उपदेश करने योग्य है, उनसे भी धर्म श्रवण करना चाहिये।

यदि तथारूप के श्रमणोपासक का योग नहीं मिले, तो तथारूप के सम्यक्त्वी से धर्म सुनना चाहिए। तथारूप के सम्यक्त्वी की श्रद्धा और ज्ञान तो तथारूप के श्रमण और श्रमणोपासक जैसा ही होता है, किन्तु आचरण में अन्तर रहता

तथारूप के श्रमण

आगमों के विधान के अनुसार तथारूप के श्रमण वे ही हैं जो धर्म के स्वरूप को यथार्थ रूप से समझे हुए हैं। जिन्होंने संसार को हेय मानकर, मुक्ति प्राप्त करने की भावना से त्याग दिया हो। पांच महाव्रत और पांच समिति के पालक हों। इन्द्रियों को वश में रखने वाले, कषायों को पतली करने वाले, ब्रह्मचर्य के सभी नियमों के पालक। अठारह पाप के त्यागी, संसारियों के प्रपञ्चों, वादविवादों और आन्दोलनों से दूर--अलिप्त। पक्षपात से वञ्चित, संयम और तप में मस्त रहने वाले। निर्दोष आहार, संयम निर्वाह के उद्देश्य से लेने वाले, उपवास, आयम्बिल, नीवीं, एकासनादि यथाशक्ति तप करते रहने वाले, शरीर, वस्त्र, पात्र आदि की शोभा और सुन्दरता बढ़ाने की इच्छा से रहित, निष्परिग्रही, प्राप्त होने वाले परिषहों और उपसर्गों को धैर्य पूर्वक सहने वाले, क्षमा आदि दस धर्म का पालन करने वाले, मान प्रतिष्ठा की इच्छा से रहित, जिन–आज्ञा के आराधक, जिनेश्वर भगवन्तों के आदेशों को आगे कर के तदनुसार विचरने वाले, तथारूप के श्रमण निर्ग्रन्थ होते हैं। ऐसे श्रमण निर्ग्रन्थ, धर्मोपदेश देने के सच्चे अधिकारी हैं। इनका बताया हुआ धर्म, एकान्त हितकारी, सुखकारी और परम आनन्दकारी होता है। जिनकी कथनी और करनी समान हो, ऐसे उत्तम मुनिवरों से धर्म का उपदेश सुनना चाहिये।

यदि ऐसे तथारूप के श्रमण का योग नहीं मिले, तो

तथारूप के माहृण = श्रमणोपासक से धर्म सुनना चाहिये।

तथारूप के श्रमणोपासक

जिनकी निर्ग्रन्थ प्रवचन में पूर्ण श्रद्धा हो। जो जीव अजीव के स्वरूप को यथार्थ रूप से जानते हों। पुण्य, पाप, आश्रव, संवर, वेदना, निर्जरा, क्रिया, बन्ध और मोक्ष की श्रद्धा युक्त ज्ञानवाले हों। निर्ग्रन्थ प्रवचन में जिनका अटूट अनुराग हो, जो जिनेश्वर भगवन्त के धर्मशासन को ही सिरोधार्य किये हुए हों, जिनके हृदय में निर्ग्रन्थ प्रवचन की सर्वोत्तमता के प्रति किसी प्रकार की शंका नहीं हो, जो परदर्शन की इच्छा मात्र भी नहीं रखते हों, जिन्हें चारित्र के सुफल में किञ्चित् भी सन्देह नहीं हो, जो कुप्रावचनी = परपाखण्डी का प्रशंसक नहीं हो और बिना खास कारण के अथवा निर्ग्रंथ-प्रवचन का रसिक बनाने की इच्छा के बिना, परपाखण्डी का परिचय बढ़ानेवाला नहीं हो, जो बारहव्रतधारी, अष्टमी आदि तिथियों पर पौषध करने वाला, और उभयकाल सामायिक प्रतिक्रमणादि धार्मिक क्रिया करने वाला हो, ऐसा तथारूप का श्रमणोपासक भी निर्ग्रन्थप्रवचन का उपदेश करने योग्य है, इनसे भी धर्म श्रवण करना चाहिये।

यदि तथारूप के श्रमणोपासक का योग नहीं मिले, तो तथारूप के सम्यक्त्वी से धर्म सुनना चाहिए। तथारूप के सम्यक्त्वी की श्रद्धा और ज्ञान तो तथारूप के श्रमण और श्रमणोपासक जैसा ही होता है, किन्तु आचरण में अन्तर रहता

है। सामान्य श्रमणोपासक के व्रताचरण, साधारण कोटि के होते हैं और अविरत सम्यग्दृष्टि के व्रताचरण नहीं होता, किंतु श्रद्धा प्ररूपणा तो वैसी होती है। ऐसे यथार्थ उपदेशक से धर्म श्रवण करना चाहिए। इससे भी अपने क्षयोपशम के अनुसार धर्म की प्राप्ति होती है।

सम्यक् श्रुत

यदि ऐसे तथारूप के सम्यक्त्वी का भी योग नहीं मिले, तो अपने आप, अपनी योग्यता के अनुसार जिनागमों या इनके अनुकूल शास्त्रों, ग्रन्थों या पुस्तकों का वांचन करे, स्मरण करे। उत्तम भाव पूर्ण स्तुति स्तवनादि से आत्मा को पवित्र करे। स्वाध्याय और वांचन की सामग्री को चुनने में विवेक रक्खें। आरम्भवर्धक, सावद्य, विषय, कषाय बढ़ाने वाले, संसार लक्षी साहित्य को अपने वांचन में स्थान नहीं दे।

इस प्रकार असली एवं निर्दोष अवलम्बन ही उत्थान में सहायक होता है। प्रत्येक आत्मार्थी को ध्येय के अनुकूल-उत्तम अवलम्बन का ही सहारा लेना चाहिए। दूषित, बिगड़ेल एवं नकली अवलम्बन सही मार्ग नहीं बतलाता। जो वेशमात्र से तथारूप हो, ऐसे शिथिलाचारी, पासत्थे, कुशीलिए, स्वच्छन्द एवं पापश्रमणादि-धर्म मर्यादा तोड़नेवालों से दूर ही रहना चाहिए। जो लक्ष्य भ्रष्ट हो गये हों, जिनकी रुचि सांसारिक, बन चुकी हो, जो सुधार के नाम पर धार्मिक प्रणालिका को मिटाना चाहते हों, जो लोक-रुचि से प्रभावित होकर अपनी दिशा भूल गये

हों, ऐसे दूषित प्रचारकों के भाषण सुनने या लेखादि साहित्य पढ़ने से पतन होने की सम्भावना रहती है।

जैन धर्म का व्यक्तिवाद

जैन धर्म में कहा है—'आत्म हित करो, बन सके तो परहित भी करो।, किन्तु यदि आत्महित और परहित में द्वन्द पैदा हो जाय तो आत्म हित करो।

इस बीसवीं सदी का जो कोई व्यक्ति इस सिद्धांत को सुनेगा, उसकी जैन धर्म पर अनास्था हो जायगी, अनास्था न भी हो, तो नाक भौं सिकोड़े बिना तो रहेगा ही नहीं। क्योंकि हमारे इस देश में परहितवादियों की प्रबलता सदा से रही है। बौद्ध धर्म में तो इसी प्रश्न को लेकर दो पन्थ ही हो गये। जो आत्महितवादी थे, वे हीनयानी कहलाये और जो परहितवादी थे, वे महायानी कहलाये। ठीक भी है जो आत्म-हितैषी है वह स्वार्थी है और जो पर हितैषी है, वह परार्थी है। परार्थी के सामने स्वार्थी को कौन पूछेगा ?

आज की भाषा में आत्म हितैषी को व्यक्तिवादी और परहितैषी को समष्टिवादी कहा जाता है। अतः जैन धर्म, आज की भाषा में व्यक्तिवादी धर्म है। वह व्यक्ति की ओर अधिक ध्यान देता है या यह कहना चाहिए कि वह व्यक्ति से कहता है कि 'तू दुनिया की चिन्ता छोड़कर पहले अपनी चिन्ता कर, दुनिया की ओर मत देख, अपनी ओर देख'। अंग्रेजी में एक

कहावत है–'चैरिटी बिगिन्स एट होम'–उदारता अपने घर से आरंभ होती है। इसी आशय की एक दूसरी कहावत है–'घर में दिया जलाकर तब मस्जिद में दिया जलाया जाता है'। जैन धर्म का मंतव्य भी कुछ ऐसा ही है। वह भी व्यक्ति से यही कहता है कि पहले अपनी उदारता से अपने को ही भरले, अपने में ही प्रकाश की ज्योति को जगा।

व्यक्तियों को इसी व्यक्तिवाद की–आत्महित की शिक्षा देने के लिए जैन धर्म में प्रतिवर्ष भाद्र मास के दस दिनों में एक पर्व मनाया जाता है, जिसे पर्यूषण या दशलाक्षिणी पर्व कहते हैं–उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम शौच, उत्तम संयम, उत्तम सत्य, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आकिंचन्य और उत्तम ब्रह्मचर्य।

जैन धर्म व्यक्ति से कहता है–क्रोध मतकर, मान मतकर, छल मतकर और लोभ मतकर। ये चारों ही बातें तेरे लिए हितकर हैं। इन्हीं से तेरा कल्याण है। क्रोध, मान, माया और लोभ ये ही तेरे असली दुश्मन हैं, इन्हें ही मारने का प्रयत्न कर और खबरदार इनसे बचते समय दुनिया की ओर मत देख। यह मत देख कि दुनिया में तो छल, प्रपंच की वैतरणी बह रही है, क्रोध, मान का बाजार गर्म है, लोभ और लालच के पौ बारह हैं। यह देखेगा तो उस वैतरणी को पार नहीं कर सकेगा। उसी में फँसा रह जायगा। दुनिया यदि अपनी गति से जा रही है, तो तू भी अपनी गति से चल। वह तेरी ओर नहीं देखती, तो तू उसकी ओर क्यों देखता है?

यदि दुनिया झूठी है, असंयमी है, संग्रही है, दुराचारी है तो क्या तू भी झूठा, असंयमी, संग्रही और दुराचारी होना चाहता है ? यदि तू भी वैसा ही होना चाहता है, तो छोड़ दे इस पथ को, चला जा दुनिया के पथ पर, रंग जा उसी रंग में, बन जा उसी का पिछलग्गू । किन्तु फिर कभी भूलकर भी दुनिया को दोष मत देना। यह मत कहना कि दुनिया के लोग झूठे हैं, दगा बाज हैं, व्यसनी हैं या लोभी हैं । क्योंकि जो स्वयं झूठा है, स्वयं दगाबाज है, स्वयं व्यसनों के चक्र में पड़ा हुआ है—वह किस मुँह से दूसरों को वैसा कहने का साहस करता है ?

किन्तु मनुष्य सब प्राणियों में बुद्धिमान् है । उसे सब हुनर आते हैं । वह क्रोध से भरा होकर भी क्षमा का स्वांग रचना जानता है । दम्भी होकर भी विनय का अवतार बन सकता है । असंयमी होकर भी संयमी की दुकान सजा कर बैठ सकता है । और इस तरह दुनिया के रंग में रंगा होने पर भी दुनिया को धोखे में डाल देता है । ऐसे बने रंगे सियारों से जैन धर्म कहता है—दुनिया तो खूब सजाई है, वेष तो खूब बनाया है, दुनिया भी खूब ठगी जा रही है । और इसलिए तू खूब प्रसन्न है । तुम्हारी इस ठगी का वास्तव में शिकारी कौन है ? ठगी जाने वाली दुनिया अथवा साधुता और विद्वत्ता का आवरण ओढ़कर दुनिया को ठगने वाला व्यक्ति ? स्मरण रख, दुनिया के कहने से कोई बुरा काम अच्छा नहीं हो जाता और दुनिया के कहने से कोई अच्छा काम, बुरा नहीं हो

जाता। अच्छे और बुरे काम की कसौटी दुनिया नहीं है। दुनिया की तो बात ही निराली है। यह तो जो उसमें जाकर मिलता है, उसे ही रंग में रंग लेती है। इसके प्रलोभन के सामने बेचारा व्यक्ति टिक ही नहीं पाता। अतः दुनिया के प्रलोभन से बच। उसके चक्कर में पड़ कर अपने व्यक्तित्व को मत खो। उसे कायम रख। फिर देख तेरी नुक्ताचिनी करने वाली दुनिया, तेरी ओर देखे बिना न रहेगी। फिर वह तेरी सुनेगी और ध्यान भी देगी।

यह है उस व्यक्तिवादी धर्म की शिक्षा, जो वह प्रत्येक व्यक्ति को देता है। संक्षेप में वह व्यक्ति से कहता है कि तू अपना सुधार कर। जब सब सुधर जावेंगे, तब मैं भी सुधर जाऊँगा—ऐसा मानकर बैठने से तो तेरा सुधार कभी नहीं होगा। क्योंकि यदि सब सबको देखे और अपने को न देखे, तो किसी का भी सुधार संभव नहीं है। इसके विपरीत यदि व्यक्ति समष्टि की ओर न देखकर अपनी ओर देखे और समष्टि की जिन बातों को वह बुरा समझता है—उनको पहले अपने से दूर कर दे, तो कम से कम उस व्यक्ति का सुधार हुआ तो कहा जायगा। जैन दृष्टि से अपनी बुराइयां दूर करना ही आत्म हित है और वही सच्चा स्वार्थ है, जिसका निर्देश प्रारंभ में किया गया है।

इस व्यक्तिवाद को आज हमने भूला दिया है। सबको सबके सुधार की चिन्ता तो है, किन्तु अपने सुधार की चिन्ता किसी को नहीं है। सब सबकी ओर लक्ष्य देते हैं, किन्तु अपनी

ओर लक्ष्य कोई नहीं देता। किसी से पूछिये कि 'आप काला बाजार क्यों करते हैं', तो वह तुरन्त उत्तर देगा 'सभी तो करते हैं'। अर्थात् सब करते हैं, अतः हम भी करते हैं। जब सब नहीं करेंगे, तो हम भी नहीं करेंगे, इस सब का प्रत्येक व्यक्ति यही उत्तर देता है। सारांश यह है कि जिन बुराइयों ने सामाजिक या सामूहिक रूप ले लिया है, उन सबके संबंध में व्यक्ति का यही उत्तर मिलता है और इस उत्तर को देकर प्रत्येक व्यक्ति उस बुराई की ओर से, निश्चिन्त हो जाता है।

कांग्रेस को ही ले लीजिए। एक व्यक्ति की साधना और तपस्या ने हमारे देश में एक ऐसी समाज उत्पन्न कर दी थी जिसकी कष्ट सहिष्णुता, आत्म-बलिदान और त्याग ने, न केवल अपने ही देश की जनता का, किन्तु विदेशी जनता का मन भी अपनी ओर आकृष्ठ कर लिया। उसकी खद्दर की पोसाक, आदर और सन्मान की चीज बन गई थी। उसके आत्म-त्याग के फल स्वरूप हमारा देश स्वतन्त्र हुआ। आज वही समाज अपने त्याग और तपस्या को भूलकर उन्हीं बुराइयों में फँस गई है।

जिनसे अपने देश की जनता को निकालने का कभी उसने अथक प्रयत्न किया था, अब जनता तो उसे गालियाँ देती है, उस समाज के लोग भी परस्पर में एक दूसरे को गालियां देते सुने जाते हैं। नीचे के लोग ऊपर वालों को बुरा भला कहते हैं और ऊपर वाले नीचे के लोगों की आलोचना करते हैं, किन्तु अपनी ओर कोई नहीं देखता, फिर भी सबको अपनी २

पड़ी हुई है–सब स्वार्थ साधन में रत हैं। किसी का स्वार्थ 'परमिट' है, किसी का स्वार्थ विधान सभा की सदस्यता है, तो किसीका स्वार्थ मन्त्रीपद है। सब कांग्रेसी चिल्लाते हैं "कांग्रेस में भ्रष्टाचार है", किन्तु अपने को सब दूध का धोया मानते हैं।

यही दशा आज विश्व के राष्ट्रों की है। सब अपने को शान्तिवादी कहते हैं और दूसरों को लड़ाकू बताते हैं। युद्ध पर युद्ध लड़े जाते हैं, युद्ध की तैयारियां जारी हैं। कोई पूछे कि "आप तो शांतिवादी हैं, फिर ये तैयारियां किस लिए हैं"? तो उत्तर मिलेगा–"हम तो शांतिवादी ही हैं, किन्तु अमुक राष्ट्र बड़ी तैयारियां कर रहा है, उसीके भय से हमें यह सब करना पड़ रहा है।"

सारांश यह है कि सब लोग सब बुराइयों का उत्तरदायित्व दूसरों पर लादते हैं, किन्तु अपने को साफ बचा लेना चाहते हैं और जब तक लोगों की यह मनोवृत्ति परिवर्तित नहीं होती, तब तक जनता की बुराइयां दूर नहीं हो सकती। गांधीजी दूसरों की बुराइयों का उत्तरदायित्व भी स्वयं वहन कर लेते थे और उसका प्रायश्चित् कर डालते थे। फल यह होता था कि अपराधी को अपने अपराध पर खेद हुए बिना न रहता था। किन्तु सब ऐसा नहीं कर सकते, पर अपनी बुराइयों का उत्तरदायित्व तो वहन कर सकते हैं। जैन धर्म का व्यक्तिवाद, व्यक्ति से यही आशा करता है। वह अपनी बुराइयों के प्रति जागरुक बनकर सबसे प्रथम अपने से ही बुराइयों को दूर करने की शिक्षा देता है। वह यह नहीं कहता कि दूसरों की

तरह अपनी बुराइयों पर भी लक्ष्य दो, क्योंकि—

अन्यदीयमिवात्मीयमपि दोषं प्रपश्यता।
कः समः खलु मुक्तोऽयं यक्तः कायेन चेदपि॥

जो दूसरों के दोषों की तरह, अपने दोषों को भी दिखाता है, उसके समान कौन है? वह शरीर से युक्त होते हुए भी मुक्त है।

अतः सामूहिक बुराइयों को दूर करने के लिये भी ऐसे आत्म दोषदर्शी व्यक्तियों की ही आवश्यकता है। क्योंकि—

"एकै साधै सब सधै, सब साधै सब जाय।"

एक इकाई (व्यक्ति) को साधने पर सब साधे जा सकते हैं। किन्तु सबको साधने की चिन्ता में पड़ जाने पर एक भी नहीं साधा जा सकता। अतः—

आदहिदं कादव्वं जदि सक्कइ परहिदं च कादव्वं।
आदहिद-परहियादो आदहिदं सुट्ठु कादव्वं।"

"आत्महित (अपना सुधार) करो, बन सके तो दूसरों का हित भी करो! किन्तु जब यह प्रश्न पैदा हो जाय कि— आत्महित करूँ या दूसरों का हित करूँ? तो आत्महित ही अच्छी तरह करो। यही जैन धर्म के व्यक्तिवाद का सार है।

स्वारथ के साँचे, परमारथ के साँचे चित्त,
साँचे, साचे बैन कहे, साँचे जैन मति हैं।

काहू के विरोधी नाहिं, पर्याय बुद्धि नाहिं,
आतम गवेषी हैं, न गृहस्थ है न जति हैं ॥
ऋद्धि सिद्धि वृद्धि दीखे, घट-अन्तर जिनके,
अन्तर की लक्ष सों अजाची लक्षपति हैं।
दास भगवन्त के, उदास रहे जग सों,
सुखिया सदिव ऐसे, जीव समकिती हैं ॥
"आप न पिछाना तूने कैसा ज्ञानधारी है।"

धर्मात्मा दुखी क्यों ?

बन्धुओं ! तुम यह सोचते होगे कि- "महाराज हमें बारबार धर्म करने, व्रत नियम और तपाचरण का उपदेश देते हैं, किन्तु धर्म का फल क्या है ? हम तो स्पष्ट देख रहे हैं कि सदाचारी और धर्मात्मा लोग, जो धर्ममय जीवन बिताते रहते हैं, किसी को सताते नहीं, झूठ बोलते नहीं और पवित्रता पूर्वक रहते हैं, वे प्राय: दुखी, दरिद्री और पीड़ित नजर आते हैं, और पापात्मा सुखी तथा सरजोर देखे जाते हैं। खुद धर्मोपदेशक महाराज भी दो दिन पूर्व ज्वर से पीड़ित हो गये थे, तो उनके धर्म का प्रभाव कहां चला गया ? यदि धर्मात्मा सर्वत्र सुखी ही दिखाई देते, तव तो म. का उपदेश सच्चा माना जाता, पर हम तो प्रत्यक्ष में उल्टा ही दृश्य देख रहे

हैं।" इस प्रकार की शंका का होना स्वाभाविक है, किन्तु जब हम जरा गहराई से सोचेंगे तो यह शंका निर्मूल नजर आएगी। हमें दुःख और सुख के मूल कारणों पर विचार करना चाहिए। दुःख का मूल कारण पाप है और सुख का मूल कारण है धर्म। धर्म से कभी दुःख नहीं हो सकता, न पाप से सुख ही मिल सकता है। क्या कभी बबूल का बीज बोने पर आम का फल मिल सकेगा ? तुमने दस वर्ष पहले बबूल का बीज बोया, वह उग कर बड़ा हुआ, उसके बड़े बड़े कांटे लगे। अब तुम एकाध महीने से आम का बाग लगा रहे हो, तो पहले के बोये हुए बबूल के कांटे तो तुम्हें लगेंगे ही। माना कि तुम आज कांटे नहीं बो रहे हो, आम का बगीचा लगा रहे हो। तो आम के पेड़ बड़े होने पर–समय परिपक्व होने पर फल देगें, किन्तु पहले का बोया हुआ बबूल तो जबतक कायम रहेगा तबतक कांटे देता ही रहेगा। उसका फल तो तुम्हें भोगना ही पड़ेगा।

एक आदमी चुपके से शराब पीकर, एक महात्मा के पास भरी सभा में आया और उसने सारी सभा के समक्ष शराब आदि सभी मादक द्रव्यों का त्याग कर सात्विक जीवन व्यतीत करने की प्रतिज्ञा करली। सारी सभा उसे धर्मात्मा मानने लगी, किन्तु पेट में पड़ी हुई शराब, क्या अपना प्रभाव नहीं बतायेगी ? चुपके से पी हुई शराब से वह लड़खड़ायेगा नहीं ? उसे लड़खड़ा कर गिरते हुए देखकर यदि कोई कहे कि इस बिचारे धर्मात्मा की यह दशा क्यों, क्या धर्म का

यही फल है ? क्योंकि उसकी दृष्टि में तो उसका त्याग ही है-चुपके से पेट में पड़ी हुई शराब को वह नहीं जानता। वर्त्तमान का धर्मात्मापन ही उसकी दृष्टि में है। पूर्व का पाप-शराबी दशा-को वह नहीं जानता। इसीसे वह सारा दोष धर्माचरण के मत्थे हीं मढ़ रहा है और दुरावस्था का कारण धर्म को ही मान रहा है। नशा शराब पीने से आता है या शराब छोड़ने से ? शराब पीने से ही नशा आता है। इसी तरह पाप के परिणाम से दुःख ही मिलता है, भले ही आपके सामने वर्तमान धर्ममयी अवस्था हो। पूर्व में किये हुए पाप को आप नहीं जानते हो, किन्तु दुःख होता है वह पाप के फल से ही। जब पाप का परिणाम, नशा उतरने की तरह नष्ट हो जायगा और धर्मरूपी अमृत-वृक्ष के फल लगेंगे, तो उसका मिष्ट स्वाद अवश्य ही मिलेगा। और देखिये--

एक आदमी ने चोरी, डाका और लूटपाट करके हजारों का धन एकत्रित कर लिया और अनेक व्यक्तियों का खून करके वहां से भाग गया। वह दूर देश में जाकर बस गया और सदाचार पूर्वक अपना जीवन बिताने लगा। उसकी सच्चाई, प्रामाणिकता और मिलनसारिता के कारण सभी लोग उसका विश्वास करने लगे। उसे प्रेम की दृष्टि से देखने लगे और उसकी प्रशंसा करने लगे। कुछ समय बीतने पर पुलिस को उसका पता चलता है। वह गिरफ्तार होता है। उसके पास लूट का माल मिलता है। वह बन्दी बना लिया

जाता है और उसे प्राण दण्ड मिलता है। उसे बन्दी और फांसी की अवस्था में देखकर यदि कोई कहे कि-"देखा, इसकी सच्चाई, सदाचार और प्रामाणिकता का फल !" तो ऐसा कहने वाला अनसमझ ही होगा। जानकार तो यही कहेंगे कि यह उसकी हत्या, लूट और खूनखराबी का ही परिणाम है, जो उसने प्रामाणिक जीवन स्वीकार करने के पूर्व किये थे। उन्हीं अपराधों का यह दण्ड है। न्यायाधीश ने उन्हीं अपराधों का यह दण्ड दिया है-सदाचार के कारण नहीं।

इन उदाहरणों से आप समझ गये होंगे कि वर्तमान में दिखाई देने वाले धर्मात्माओं को जो दुःख हो रहा है, वह उनके पूर्व के पापों का परिणाम है। उनको धर्म का फल अवश्य मिलेगा। पाप के फल का प्रभाव हट जाने पर पुण्य प्रभाव भी चमक उठेगा।

वर्तमान में पापी दिखाई देने वाले जो सुखी दिखते हैं, यह उनके पूर्व के पुण्य का फल है। उन्होंने पूर्व जन्मों में सुकृत्य किये थे और उनके शुभ कार्यों के गर्भ में भौतिक लालसाएँ थीं-धन, सम्पत्ति और भोग कामना से उन्होंने पुण्य के कार्य किए थे, तो उनका फल उन्हें यहां मिल रहा है। पुण्य क्षिण होने पर, वर्त्तमान में किये हुए पाप का फल अवश्य दुखदायी होगा। अतएव आत्मार्थी बन्धुओं को अवश्य ही धर्माराधन करना चाहिए।

जैन बन्धुओं को

स्व० पूज्य श्री माधवमुनिजी म० का उद्बोधन

प्रतपैं भान समान महान्, जो जग में जिन धर्म दिपावें ॥
जो जगमें जिनधर्म दिपावें, वो जगमें जगनाथ कहावें ॥टेर॥
जिन भाषित आगम अनुसार, जिनवर धर्म करै परचार ॥
धारे शिर जिन आणा भार, सोही जन जैनी कहलावें ॥प्र० १॥
परभावना अंग अवधार, तन मन धन व्यय करे अपार ॥
आगम ग्रंथ तनो भंडार, करके विद्यालय खुलवावें ॥प्र० २॥
उपदेशक जन कर तय्यार, भेजें देश विदेश मझार ॥
जहँ पै नहीं साधु पयसार, तहँ पै दया धरम दरशावें ॥प्र० ३॥
दीक्षा लेवें जो नरनार, ताको देवे विविध सहार ॥
परभव की ले खरची लार, ताकी दहदिश कीरति छावे ॥प्र० ४॥
राखन दया धरमकी कार, त्यागे निज कुटुम्ब परिवार ॥
ताको धन मानव अवतार, जो मिथ्यामत दूर हटावें ॥प्र० ५॥
श्रीयुत सुगुरु मगन अनगार । वंदौ भवि नित वार हजार ॥
धरम दिपावन को इकरार, करलो 'माधव' छन्द सुनावें ॥प्र० ६॥

जिनवानी

दया रस से भरी जिनवानी सुहावेजी !
मोहे प्रभुवानी सुहावे जी ।।टेर।।
दोष तीस दोय करी–रहित शुद्ध सत्य खरी ।
निजातम गुण प्रकटावे जी....द.... १
लंछन वसु–धारिणी । सुबोध–बीज–कारिणी ।।
परम आनन्द बढ़ावे जी २
जामें गुण पंच–तीस । सुनत शमत राग–रीस ।।
स्व पर परतक्ष बतावे जी ३
सुनत नशत पाप–जाल । मंत्र के सुने से हाल ।।
ज्यों विष विषधर को पलावे जी ४
आदि अन्त एक सार । स्याद्वाद सों निहार ।।
पाप की ताप बुझावे जी ५
सप्त–नय, निक्षेप चार–युक्त आप्त–वचन धार ।।
पार भवदधि से जो चावे जी ६
सुने भव्य चित्त लाय । तजके विकथा कषाय ।।
सो मन वाँछित फल पावे जी ७
सुगुरु 'मगन मुनि' पसाय । हाथ जोर माथ नाय ।।
मुनि 'माधव' गुण गावे जी ८